इकाई-1 अंग्रेजी शक्तियों के साथ प्रमुख भारतीय राज्यों के संबंध

नोट

पाठ-संरचना

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 मुगल साम्राज्य का पतन

1.3 क्षेत्रीय शाक्तियों का उदय

1.4 मुगल साम्राज्य के उत्तराधिकारी राज्य

1.4.1 हैदराबाद

1.4.2 कर्नाटक

1.4.3 बंगाल

1.4.4 अवध

1.4.5 फर्रुखाबाद और रूहेलखण्ड

1.5 मुगल साम्राज्य के प्रतिरोध मे स्थापित नये राज्य

1.5.1 जाट राज

1.5.2 पंजाब में सिक्ख शक्ति का उत्थान

1.5.3 मराठा शक्ति का उत्थान और पतन

1.6 मुगलों के अधीन राज्यों मे स्वतंत्रता की पुर्नस्थापना

1.6.1 मैसूर

1.6.2 केरल

1.6.3 राजपूत राज्य

1.7 सारांश

1.8 अभ्यास प्रश्न

1.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप यह जान पाएंगे कि :

- किस प्रकार मुगल साम्राज्य के विघटन की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई।
- हैदराबाद, अवध और बंगाल ने केन्द्रीय सत्ता की कमजोरी का फायदा उठाकर कैसे अपने स्वतंत्र राज्यों की स्थापना की?
- मुगल सम्राट औरंगजेब की नीतियों के प्रतिक्रिया स्वरुप कौन से नये राज्य अस्तित्व में आए मराठों ने किस आधार पर भारतीय राजनीति में सर्वश्रेष्ठ होने का दावा प्रस्तुत किया?

- केन्द्रीय नेतृत्व की दुर्बलता से लाभ उठाकर राजपूत राज्यों ने कैसे अपनी स्वतंत्रता को पुर्नस्थापित किया?

नोट

1.1 प्रस्तावना

आधुनिक भारत के इतिहास (1747- 1947 ई.) को सामाजिक परिवर्तन, आर्थिक संक्रमण, राजनीतिक परिवर्तनों और संघर्षों का विवरण कहा जा सकता है। इस काल में होने वाले विभिन्न परिवर्तन किसी एक निश्चित घटनाक्रम का परिणाम नहीं थे, अपितु यह सब एक लम्बी अवधि में भारतीय समाज एवं स्थानीय राजनीति तथा साम्राज्यवादी शक्ति के परस्पर दबाव और निहित स्वार्थो के सामूहिक परिणाम थे। जिसका आरम्भ मुगल साम्राज्य के पतन के साथ हुआ।

महान मुगल साम्राज्य अपने समकालीन साम्राज्यों के लिए ईर्ष्या का विषय था, लेकिन 1707 ई. में औरंगजेब की मृत्यु के बाद मुगल साम्राज्य पतन की ओर अग्रसर होने लगा। मुगल साम्राज्य का पतन अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध की युगान्तरकारी घटना थी। मुगल बादशाहों ने अब अपनी सत्ता और प्रतिष्ठा खो दी और उनका साम्राज्य दिल्ली के आस-पास ही कुछ वर्ग मील तक सीमित होकर रह गया। वस्तुतः 18वीं सदी में भारत राजनीतिक रुप से विभाजित हो गया था। मुगल साम्राज्य के खण्डों से भारत में विभिन्न स्वतंत्र अथवा अर्द्ध-स्वतंत्र राज्यों का निर्माण हुआ क्षेत्रीय शक्तियों के उदय ने भारतीय राजनीतिक मानचित्र को ही बदल दिया था। तब से भारतीय राजनीतिक इतिहास में एक नये युग का प्रारम्भ होता है।

इन नवोदित शक्तियों में बंगाल, अवध, हैदराबाद, मैसूर और मराठा राज्य प्रमुख हैं। भारत पर अपना प्रभुत्व कायम करने के लिए ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी को इन्हीं शक्तियों पर विजय प्राप्त करनी पड़ी थी। 18वीं सदी के अन्तिम चरण में रणजीतसिंह ने पंजाब, कश्मीर तथा उत्तर-पश्चिम भारत के अधिकांश भाग को विजय करके सिक्खों के शक्तिशाली राज्य का निर्माण करने में सफलता प्राप्त की। छोटे राज्यों में रुहेलखण्ड, केरल, कर्नाटक और भरतपुर प्रमुख थे। राजस्थान में राजपूत राज्य स्वतंत्र हो गये, लेकिन वे आपस में निरन्तर संघर्ष करते रहते थे। उनमें से कोई भी राजपूताना के गौरव को पुनः स्थापित नहीं कर सका। ये सभी बड़े और छोटे राज्य उन्हीं कमजोरियों से ग्रस्त थे, जिन्होंने मुगल साम्राज्य को नष्ट कर दिया था। इस सभी राज्यों के शासकों की विचारधारा प्रायः मध्यकालीन थी। इनमें से प्रत्येक भारत को आधुनिक विचार और साधन उपलब्ध कराने में विफल रहा।

यद्यपि 18वीं सदी के इस राजनीतिक उथल-पुथल और संघर्ष के समय में अधिकांशतया मराठे भारत की सर्वश्रेष्ठ शक्ति बने रहे। लेकिन वे केवल मुगल बादशाह को अपना पेंशनर बनाने से ही सन्तुष्ट हो गये। 18वीं सदी के समाप्त होने तक यह स्पष्ट हो गया कि भारत की सत्ता के लिए उनके मुख्य तथा शक्तिशाली प्रतिद्वंदी अंग्रेज थे। मुगल साम्राज्य के पतन का सबसे महत्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि इसने ब्रिटिश शासकों के लिए भारत विजय का रास्ता आसान कर दिया। भारतीय शक्तियों के बीच से कोई भी शक्ति महान मुगलों की विरासत का दावा करने के लिए सामने नहीं आई। वे साम्राज्य को नष्ट करने के लिए काफी हद तक शक्तिशाली थीं, लेकिन उसे एकता के सूत्र में बांधने या उसकी जगह कोई नया विकल्प लाने में वे समर्थ नहीं थीं। वे कोई ऐसी नई समाज व्यवस्था नहीं बना सके जो पश्चिम से आने वाले नये शत्रुओं का सामना कर पाती। वे न अपनी रक्षा कर सके और न अपने नागरिकों के

सम्मान और आर्थिक हितों की रक्षा कर पाए। इस कारण एक-एक कर सभी अंग्रेजों से पराजित हुए। उनमें से कुछ के राज्य छोटे कर दिए गए। जिन राज्यों का अस्तित्व बना रह सका, वे भी अंग्रेजों के अधीनस्थ राज्य बनकर रहे। इस प्रकार देश के सदियों पुराने सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक ढांचे की जगह अंग्रेजों द्वारा एक औपनिवेशिक ढांचा स्थापित किया गया, जिसका उद्देश्य अपने आर्थिक-राजनीतिक हितों को पूरा करना था।

नोट

1.2 मुगल साम्राज्य का पतन

18वीं सदी का पूर्वार्द्ध मुगल साम्राज्य के पतन और विघटन का काल रहा है। इस काल में मुगल बादशाहों की सत्ता और महिमा नष्ट हो गई और उनका साम्राज्य दिल्ली के आस-पास सिमटकर रह गया। अंत में 1803 ई. में दिल्ली पर भी ब्रिटिश सेना का अधिकार हो गया और महान् मुगल बादशाह एक विदेशी शक्ति का पेंशनर बन गया।

मुगल साम्राज्य की एकता और स्थिरता औरंगजेब के लम्बे और कठोर शासन के अन्तर्गत चरमराने लगी थी। लेकिन उसकी अनेक हानिकारक नीतियों के बाद भी 1707 ई. में उसकी मृत्यु के समय तक मुगल प्रशासन काफी कुशल था और मुगल सेना काफी शक्तिशाली थी। साथ ही देश में मुगल राजवंश की प्रतिष्ठा भी कायम थी। औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् मुगल साम्राज्य पतन की ओर बढ़ चला और पूरे देश में मुगल सत्ता कमजोर होने लगी। जिसके परिणामस्वरुप देश में अराजकता और व्यापक अशांति का वातावरण बना। औरंगजेब के उत्तराधिकारी अयोग्य एवं शक्तिहीन थे। उनमें इतनी क्षमता नहीं थी कि वे विशाल मुगल साम्राज्य को एकता के सूत्र में बांध सकें। महत्वाकांक्षी और स्वार्थी सरदारों, विदेशी आक्रमणों तथा उभरती हुई मराठा शक्ति ने मुगल साम्राज्य को अनेक टुकड़ों में बांट दिया। अठारहवीं सदी के पूर्वार्द्ध में अनेक छोटे-छोटे स्वतंत्र राज्य भारत में स्थापित हो चुके थे। तत्कालीन परिस्थितियों मे मराठे ही सर्वोच्च शक्ति के रुप में उभरे थे। लेकिन वे भी भारत में राजनीतिक एकता और शासन-व्यवस्था स्थिर रखने में विफल रहे। तब एक विदेशी शक्ति अंग्रेजों ने अवसर का लाभ उठाकर अपनी कुशलता तथा कूटनीति से भारत में अपना साम्राज्य स्थापित किया। 1857 ई. तक मुगल बादशाह अंग्रेजों के लिए राजनीतिक मोहरा बने रहे। 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के असफल रहने के बाद मुगल वंश अंतिम रूप से समाप्त कर दिया गया।

1.3 क्षेत्रीय शाक्तियों का उदय

मुगल साम्राज्य के कमजोर होने और पतन की ओर बढ़ने के साथ-साथ देश में स्थानीय राजनीतिक और आर्थिक शक्तियां उभरने लगीं और दबाव बढ़ाने लगीं। 18 वीं सदी में मुगल साम्राज्य और उसकी राजनीतिक व्यवस्था के अवशेषों पर अनेक स्वतंत्र और अर्ध-स्वतंत्र शक्तियों का उदय हुआ। क्षेत्रीय शक्तियों ने तुरन्त मुगल साम्राज्य के पतन से उत्पन्न खाली जगह को भर दिया। 18वीं सदी में क्षेत्रीय शक्तियों के रुप में तीन प्रकार के राज्यों का उदय हुआ। इनमें से प्रथम श्रेणी में उत्तराधिकार वाले राज्यों को रखा जा सकता है। जिनमें अवध, हैदराबाद और बंगाल के राज्य प्रमुख थे। मुगल साम्राज्य की केन्द्रीय शक्ति के कमजोर हो जाने पर इन मुगल प्रांतों के सूबेदारों ने स्वतंत्र होने का दावा किया, और इन राज्यों का जन्म हुआ। दूसरी श्रेणी, उन नवस्थापित राज्यों की थी, जिनकी उत्पत्ति मुगल शासन के खिलाफ स्थानीय सरदारों, जमींदारों तथा किसानों के विद्रोह के कारण हुई थी, जिनमें मराठा जाट, सिक्ख एवं रुहेलखण्ड के राज्य प्रमुख हैं। तीसरी श्रेणी उन राज्यों की थी, जो स्वतंत्र थे और पहले से

उनका अस्तित्व विद्यमान था तथा जो मुगलों के अधीन थे। इस श्रेणी में मैसूर, राजपूत राज्य व केरल के राज्य सम्मिलित थे।

नोट

18वीं सदी के सभी राज्यों के शासकों ने मुगल सम्राट की नाम मात्र की सर्वोच्चता स्वीकार कर और उसके प्रतिनिधि के रुप में स्वीकृति प्राप्त कर, अपने पद को वैधता प्रदान करने की कोशिश की थी। फिर भी इनमें से लगभग सभी ने मुगल प्रशासन की शैली और उसकी पद्धति को अपनाया था। पहले समूह के राज्यों ने उत्तराधिकार के रुप में कार्य विधि, मुगल प्रशासनिक ढांचा और मुगल संस्थाओं को अपनाया था। अन्य राज्यों ने अलग-अलग मात्रा में थोड़ा बहुत परिवर्तन करके इसी प्रशासनिक ढांचे और इन संस्थाओं को अपनाया था। इसमें मुगल राजस्व-व्यवस्था भी शामिल थी।

1.4 मुगल साम्राज्य के उत्तराधिकारी राज्य

हैदराबाद, बंगाल तथा अवध ऐसे राज्य थे जो मुगलों के द्वारा नियुक्त सूबेदारों के प्रशासन के अन्तर्गत थे। मुगल प्रशासन में सामान्यत: सूबेदारों का स्थानान्तरण होता रहता था किन्तु इन तीन स्थानों पर सूबेदारों की नियुक्ति उत्तराधिकार के आधार पर होती रही थी। मुगल साम्राज्य के पतनकाल में इन सूबेदारों ने स्वतंत्र राज्यों की स्थापना कर ली। फिर भी इन राज्यों ने मुगल सत्ता से अपने सम्बन्ध पूरी तरह समाप्त नहीं किए तथा नाममात्र के सम्बन्ध बनाकर रखे। 1739 ई. में नादिरशाह के आक्रमण के समय अवध तथा हैदराबाद के नवाब एवं निजाम ने दिल्ली पहुंचकर मुगलों की सहायता की। इन राज्यों के उदय का विवरण निम्न प्रकार हैं।

1.4.1 हैदराबाद

हैदराबाद के स्वतंत्र राज्य की स्थापना चिनकिलीच खां ने 1724 ई. में की थी, जिसको बाद में मुगल बादशाह ने 'निजाम-एल-मुल्क आसफजहां' की उपाधि प्रदान की। औरंगजेब के बाद के नवाबों में उसका महत्वपूर्ण स्थान था। 1713 ई. में उसे दक्षिण का सूबेदार नियुक्त किया गया था। सैय्यद बंधुओं को गद्दी से हटाने में उसकी महत्वपूर्ण भूमिका रही थी। 1720 से 1722 के बीच उसने दक्षिण में अपनी स्थिति सुदृढ़ कर ली थी। वह 1722 से 1724 ई. तक मुगल साम्राज्य का वजीर रहा। निजाम ने दिल्ली दरबार की षड्यंत्रपूर्ण राजनीति, सम्राट की अयोग्यता और सूबेदारों की मनमानी देखकर अनुभव किया कि वह वजीर के रुप में कुछ भी करने में असमर्थ है। सम्भवत: बादशाह मुहम्मद शाह ने प्रशासन में सुधार लाने की सभी कोशिशों को विफल कर दिया था। अतएव उसने वापस दक्षिण जाने का निश्चय किया। जहां वह अपना स्वतंत्र शासन स्थापित रख सकता था।

1724 ई. में निजाम ने हैदराबाद पर अधिकार कर लिया। उसी समय से दक्षिण भारत में हैदराबाद के स्वतंत्र राज्य की नींव पड़ी और हैदराबाद नगर उसकी राजधानी बना। उसने केन्द्रीय सरकार से अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कभी नहीं की, लेकिन व्यवहार में एक स्वतंत्र शासक के रुप में कार्य किया। यद्यपि उसने अपने नाम के सिक्के नहीं चलाये और न राज्य-छत्र ग्रहण किया, लेकिन उसने दिल्ली की केन्द्रीय सरकार से पूछे बगैर युद्ध किए, संधियां की, खिताब बांटे और जागीरें तथा पद दिए। मुगल बादशाह ने तब विवशता में अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा करते हुए निजामउल-मुल्क को दक्कन का सूबेदार नियुक्त किया और उसे श्आसफजहां की उपाधि प्रदान की। उसे दक्कन के छ: सूबे भी दिए गए। तत्कालीन परिस्थतियों में वह भी मुगल दरबार से अपने सम्बंध पूरी तरह नहीं तोड़ना चाहता था। अत: उसने मुगल सत्ता के साथ प्रतीकात्मक

सम्बन्ध कायम रखे। उसने दिसम्बर, 1737 ई. में पेशवा बाजीराव के साथ युद्ध किया, जिसमें वह पराजित हुआ। 1739 ई. में दिल्ली पर नादिरशाह के आक्रमण के समय निजाम ने मुगल बादशाह की ओर से नादिरशाह के विरुद्ध करनाल के युद्ध में भाग लिया। इस युद्ध में नादिरशाह विजयी रहा। निजाम नादिरशाह से समझौता कराने में असफल रहा और हैदराबाद वापस लौट आया। उसके बाद उसने कभी भी दिल्ली की राजनीति में हस्तक्षेप नहीं किया।

निजाम अनेक कठिनाइयों व चुनौतियों का सामना करते हुए हैदराबाद राज्य को राजनीतिक शिखर पर पहुंचाने में सफल रहा। उसने अपने राज्य की सीमाएं ताप्ती नदी से लेकर कर्नाटक, मैसूर और चित्रनापल्ली तक बढ़ा लीं। उसने हिन्दुओं के प्रति सहिष्णुता की नीति अपनाई। उदाहरण के लिए उसका दीवान पूरनचंद नामक हिन्दू था। उसने दक्षिण में मुगलों के जैसी जागीरदारी प्रथा चलाकर सुव्यवस्थित प्रशासन स्थापित किया और अपनी स्थिति मजबूत की। उसने बड़े उपद्रवी जमींदारों को अपनी सत्ता मानने के लिए बाध्य किया और शक्तिशाली मराठों को अपने अधिकार क्षेत्र से बाहर रखा।

1748 ई. में उसकी मृत्यु के बाद हैदराबाद राज्य भी उन्हीं विघटनकारी शक्तियों का शिकार हो गया जो दिल्ली में सक्रिय थीं। उसके पुत्र नासिरजंग और पौत्र मुजफ्फरजंग में गद्दी के लिए संघर्ष हुआ। इस संघर्ष में नासिरजंग ने अंग्रेजों से सहायता ली और मुजफ्फरजंग ने फ्रांसीसियों से सहायता प्राप्त की, जिसके परिणामस्वरुप हैदराबाद की राजनीतिक दुर्बलताएं तो सामने आयी ही, साथ ही विदेशी व्यापारिक कम्पनियों को भारत के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने का मौका भी मिला। हैदरअली के नेतृत्व में मैसूर राज्य की शक्ति का विस्तार हुआ और मराठे भी निरन्तर शक्तिशाली होते गये। इन दोनों शक्तियों ने भी हैदराबाद राज्य के लिए कठिनाइयाँ उत्पन्न की। वस्तुतः निजाम-उल-मुल्क की मृत्यु के बाद हैदराबाद के शासकों का दक्षिण भारत की राजनीति में सम्मानजनक स्थान नहीं रहा। हैदराबाद का कोई भी शासक योग्य सिद्ध नहीं हुआ। परिणामतः 1798 ई. में हैदराबाद के तत्कालीन निजाम ने वैलेजली से सहायक संधि को स्वीकार कर लिया। तब से हैदराबाद के शासक अंग्रेजों पर आश्रित हो गये।।

1.4.2 कर्नाटक

कर्नाटक, दक्षिणी मुगल साम्राज्य के अन्तर्गत एक सूबा था। उसे हैदराबाद के निजाम के अधिकार के अन्तर्गत माना जाता था। लेकिन व्यवहारिक रुप से जिस प्रकार निजाम दिल्ली की सरकार से स्वतंत्र हो गया था। उसी प्रकार कर्नाटक का नायब सूबेदार जिसे कर्नाटक का नवाब कहा जाता था, ने अपने को दक्कन के नवाब के नियंत्रण से मुक्त कर लिया था तथा अपने पद को वंशानुगत बना लिया था। इसलिए यहां के नवाब सआदतउल्ला खां ने अपने भतीजे दोस्तअली को नवाब की स्वीकृति के बिना ही अपना उत्तराधिकरी बना दिया था। 1740 ई. के बाद कर्नाटक में सत्ता पर अधिकार के लिए अनेक संघर्ष हुए, जिससे वहां की स्थिति खराब हुई। इसके फलस्वरुप यूरोपीय व्यापारिक कंपनियों को भारतीय राजनीति में प्रत्यक्ष रुप से हस्तक्षेप करने का मौका मिल गया।

1.4.3 बंगाल

बंगाल भी केन्द्रीय मुगल साम्राज्य का एक सूबा था और वहां के सूबेदार की नियुक्ति मुगल बादशाह द्वारा की जाती थी। केन्द्रीय सत्ता की बढ़ती हुई कमजोरी को देखकर बंगाल के सूबेदार ने भी बंगाल को स्वतंत्र बना लिया। औरंगजेब के शासनकाल के समय से ही

मुर्शीदकुली खां बंगाल के नायब सूबेदार के पद पर था। 1717 ई. में मुगल बादशाह फर्रुखसियर ने उसको बंगाल का सूबेदार बना दिया। इससे उसके अधिकारों तथा राजनीतिक स्थिति में वृद्धि हुई।

नोट

दिल्ली दरबार में होने बाली गुटबन्दी, मुगल सम्राट की दुर्बलता, राजनीतिक षड्यंत्र और घटती हुई केन्द्रीय प्रशासनिक शक्ति को देखकर उसने स्वयं को केन्द्रीय नियंत्रण से मुक्त कर लिया। लेकिन बादशाह के प्रति निष्ठा प्रकट करते हुए वह नियमित रुप से बादशाह को नजराने के रुप में काफी रकम भेजता था। उसने आंतरिक और बाह्य संकट से बंगाल को मुक्त कर वहां शांति स्थापित की। उसके काल में बंगाल जमींदारों के विद्रोहों से भी लगभग मुक्त हो गया। अपने सूबों के आन्तरिक मामलों में वह पूरी तरह स्वतंत्र था। राजस्व, न्याय, व्यापार एवं सुरक्षा की स्थापना आदि सभी महत्वपूर्ण कार्य वह स्वयं देखता था। उसकी एक मुख्य सफलता अपने राज्य को आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न बनाने की रही। उसने प्रशासन में मितव्ययिता अपनाई तथा बंगाल के वित्तीय मामलों का प्रबन्ध नए सिरे से किया। उसने नए भू-राजस्व प्रबन्ध के द्वारा जागीर भूमि के एक बड़े भाग को खालसा भूमि बना दिया और लगान वसूल करने के लिए भूमि ठेकेदारों को दी। उसने व्यापार और उद्योग को भी प्रोत्साहन दिया जिससे राज्य की सम्पन्नता में वृद्धि हुई।

1727 ई. में मुर्शीदकुली खां की मृत्यु के बाद उसका दामाद शुजाउद्दीन बंगाल का नवाब बना। 1733 ई. में मुगल बादशाह मुहम्मदशाह ने बिहार का प्रशासनिक कार्य भी बंगाल के नवाब को सौंप दिया। इस प्रकार मुगल बादशाहों व दरबार की निर्बलता व प्रशासनिक अकुशलता का स्वाभाविक परिणाम बंगाल, बिहार व उड़ीसा को मिलाकर निर्मित बंगाल की सूबेदारी का स्वतंत्र राज्य के रुप में उदय होना था। 1739 ई. में शुजाउद्दीन की मृत्यु के बाद उसका पुत्र सरफराज खां उसका उत्तराधिकारी बना। किन्तु उसी वर्ष बंगाल के नायब सूबेदार अलीवर्दी खां ने विद्रोह कर सरफराज को घेरिया नामक स्थान पर हराकर मार दिया और स्वयं बंगाल का सूबेदार बन गया। अलीवर्दी खां ने भी केन्द्रीय सत्ता की अधीनता मानते हुए स्वयं को प्रतीकात्मक रुप से शासक माना। उसने मुगल बादशाह को 2 करोड़ रुपये का नजराना भेजकर अपने उत्तराधिकार को मुगल दरबार से अनुमोदित करवा लिया। अलीवर्दी खां के शासनकाल में बंगाल एक पूर्ण स्वायत्तशासी राज्य बन गया था।

अलीवर्दी खां एक योग्य शासक था। उसने बंगाल को एक शक्तिशाली राज्य बनाने का प्रयत्न किया, किन्तु उसके कार्य में दो बाधाएं आई। प्रथम, बिहार में अफगानों ने विद्रोह किया। 1748 में वह उनकी शक्ति को नष्ट करने में सफल हो गया। उसके सामने दूसरी कठिनाई मराठों के आक्रमण से उत्पन्न हुई। अलीवर्दी खां को 12 लाख रुपये प्रति वर्ष मराठों को देने के लिए बाध्य होना पड़ा। मराठों ने यह वचन दिया कि जब तक उन्हें यह धनराशि मिलती रहेगी तब तक वे बंगाल की सीमाओं में प्रवेश नहीं करेंगे। 10 अप्रेल 1756 ई. को उसकी मृत्यु हो गई।

बंगाल के इन तीनों नवाबों ने राज्य को शान्ति और सुव्यवस्थित प्रशासन दिया। उनका मानना था कि व्यापार का प्रसार जनता और सरकार के लिए लाभदायक है इसलिए उन्होंने देशी और विदेशी व्यापारियों को प्रोत्साहित किया। लेकिन उन्होंने इस बात का भी ध्यान रखा कि विदेशी व्यापारिक कम्पनियां अपने विशेषाधिकारों का दुरुपयोग नहीं करने पायें। उन्होंने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कर्मचारियों को देश के कानूनों का पालन करने तथा अन्य व्यापारियों

नोट

के बराबर सीमा शुल्क देने के लिए बाध्य किया। अलीवर्दी खां ने अंग्रेजों और फ्रांसीसियों को कलकत्ता और चंद्रनगर के अपने कारखानों की किलेबंदी करने की अनुमति नहीं दी। लेकिन इन सब सावधानियों के बाद भी वे उपनिवेशवादी शक्तियों से होने वाले भावी खतरों को नहीं समझ पाए। बंगाल के नवाबों ने राज्य की सुरक्षा हेतु शक्तिशाली फौज बनाने की ओर ध्यान नहीं दिया। उनके उत्तराधिकारियों को कालान्तर में इसकी भारी कीमत चुकानी पड़ी।

अलीवर्दी खां की मृत्यु के पश्चात् उसका नाती सिराजुद्दौला बंगाल का नवाब बना। उसने अपने विरोधियों को नष्ट किया और बंगाल के शासन को मजबूत बनाया। लेकिन उसके शत्रुओं की संख्या बढ़ती गई। उसका संघर्ष अंग्रेजों से भी हुआ। अंग्रेज बंगाल में बिना कर देते हुए व्यापार करते थे, उसके शत्रुओं को शरण देते थे और उसकी आज्ञा के विरुद्ध कलकत्ता की अपनी फैक्ट्री की किलेबन्दी कर रहे थे। सिराजुद्दौला ने उनके कार्यों में बाधा डाली। अंग्रेजों ने उसके शत्रुओं से मिलकर उसके खिलाफ षड़यंत्र किया। इस संघर्ष का अन्तिम परिणाम जून 1757 ई. में प्लासी के युद्ध के रुप में सामने आया। इस युद्ध में सिराजुद्दौला की पराजय हई। शक्तिशाली फौज के अभाव ने भी विदेशी कम्पनी की जीत में बहुत योगदान दिया। अंग्रेजों ने मीरजाफर को बंगाल का नवाब बनाया। 1760 ई. में अंग्रेजों ने मीरजाफर को गद्दी से हटाकर मीरकासिम को गद्दी पर बिठाया। मीरकासिम एक महत्वकांक्षी शासक था। वह अंग्रेजों के प्रभाव से मुक्त होना चाहता था। अतः उसके अंग्रेजों के साथ सम्बन्ध तनावपूर्ण हो गए। 1764 ई. में मीरकासिम और अवध के नवाब शुजाउद्दौला के साथ अंग्रेजों का बक्सर में युद्ध हुआ। इस युद्ध में अंग्रेज विजयी रहे। बंगाल का शासन उस समय से ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथों में चला गया। 1772 ई. में उसने प्रत्यक्ष रुप से बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा का शासन अपने अधिकार में ले लिया।

1.4.4 अवध

अवध के स्वतंत्र राज्य का संस्थापक सआदत खां बुरहान-उल-मुल्क था। सआदत खां ईरान का निवासी शिया मुसलमान था। वह 1708 ई. में भारत आया तथा मुगल दरबार में नौकरी करने लगा। उसने सैय्यद बंधुओं के प्रभाव से मुगल दरबार को मुक्त करने में बादशाह मुहम्मदशाह की सहायता की। उसकी सेवाओं से खुश होकर बादशाह ने उसे पांच हजार जात ब तीन हजार सवार की मनसबदारी तथा सआदत खां बुरहान-उल-मुल्क की उपाधि प्रदान की। 1722 ई. में उसे अवध का सूबेदार बनाया गया। आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से अवध का सूबा बहुत महत्वपूर्ण था। सआदत खां को वहां का सूबेदार बनाये जाने से अवध के पृथक राज्य की स्थापना का मार्ग प्रशस्त हुआ। वह अत्यंत निडर कर्मठ, दृढ़ प्रतिज्ञ और कुशाग्र बुद्धि था। उसकी नियुक्ति के समय कई उपद्रवी जमींदारों ने प्रांत में हर जगह उपद्रव किए। उन्होंने लगान देने से इंकार किया, अपनी निजी सेनाएं गठित कर किले बनाए और शाही सेना की अवहेलना की। सआदत खां ने कई सालों तक उनसे संघर्ष किया। उसने अपने राज्य में अव्यवस्था को समाप्त किया और बड़े जमींदारों को अनुशासित किया, उसने 1723 ई. में नया राजस्व बंदोबस्त किया। जिससे किसानों की दशा ठीक हुई।

1724 ई. के पश्चात् उसने स्वतन्त्र शासक की तरह व्यवहार करना शुरु कर दिया। उसने मुगल सत्ता को अस्वीकार तो नहीं किया किन्तु अवध पर मुगल दरबार के नियंत्रण को कमजोर कर दिया। 1728 ई. में उसने बनारस, गाजीपुर, जौनपुर तथा चुनार के जिले वहां के नवाब मुर्तजाखान से छीन लिए। अब उसका प्रभाव क्षेत्र कन्नौज तक बढ़ गया। 1729-35

नोट

ई. तक वह मराठों के आक्रमणों को रोकने में लगा रहा। 1735 ई. के अन्त में उसे कोरा जहानाबाद का फौजदार भी नियुक्त कर दिया गया। 1738 ई. में जब नादिरशाह ने भारत पर आक्रमण किया तो बादशाह की आज्ञा से वह अपने सैनिकों सहित दिल्ली गया। परन्तु उसकी सहायता से कोई लाभ नहीं हुआ। 1739 ई. मे उसकी मृत्यु हो गयी। अपनी मृत्यु से पहले वह वस्तुत: स्वतंत्र बन गया था और उसने अवध प्रांत को अपनी वंशगत जायदाद बना लिया था।

सआदत खां का उत्तराधिकारी उसका भतीजा सफदरजंग था। वह एक योग्य शासक था जिसने अवध को शान्ति और सम्पन्नता प्रदान की। उसकी योग्यता से प्रभावित होकर मुगल बादशाह अहमदशाह ने 1748 ई. में उसे अपने साम्राज्य का वजीर बना दिया। इसके अलावा उसे इलाहाबाद का प्रांत भी दिया गया। अपने शासनकाल में उसने अवध और इलाहाबाद की जनता को किसी प्रकार की अशांति का सामना नहीं करने दिया। उसने उपद्रवी जमींदारों का दमन किया और दूसरों को अपने पक्ष में कर लिया। उसने मराठा सरदारों से मित्रता कर ली ताकि उसके अधिकार क्षेत्र में उनकी घुसपैठ न हो सके। राजपूत सरदारों और कुलीनों की स्वामिभक्ति हासिल करने में भी वह कामयाब रहा। उसने रुहेलों और बंगश पठानों के खिलाफ युद्ध किए। बंगश नवाबों के खिलाफ 1750-51 ई. की लड़ाई में उसने मराठों की सैनिक सहायता तथा जाटों का समर्थन प्राप्त किया। इसके लिए उसे मराठों को प्रतिदिन 25,000 रुपये और जाटों को 15,000 रुपये प्रतिदिन देने पड़े। सफदरजंग ने न्याय की भी अच्छी व्यवस्था की। उसने नौकरियां देने में हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच निष्पक्षता की नीति अपनाई। उसकी सरकार के सबसे उच्च पद पर एक हिन्दू महाराजा नवाब राय नियुक्त था। इस प्रकार उसने उच्चकोटि की व्यक्तिगत नैतिकता का उदाहरण प्रस्तुत किया।

1754 ई. में उसकी मृत्यु के बाद शुजाउद्दौला उसका उत्तराधिकारी बना। उसके शासनकाल में अवध की राजनीति में गम्भीर परिवर्तन हुए। उसने मुगल शहजादा अली गौहर को अपने राज्य में शरण दी तथा पानीपत के तृतीय युद्ध में मराठों के विरुद्ध अहमदशाह अब्दाली का साथ दिया। अली गौहर जब शाह आलम के नाम से बादशाह बना तब 1782 ई. में उसे मुगल साम्राज्य का वजीर पद दिया गया। उसने बंगाल के नवाब मीरकासिम को भी अपने राज्य में शरण दी थी और अंग्रेजों के विरुद्ध बक्सर का युद्ध लड़ा था, जिसमें उसकी भारी पराजय हुई। उसने 1765 ई. में अंग्रेजों से इलाहाबाद की सन्धि की जो अवध के राजकीय हितों के विरुद्ध थी। अंग्रेजों ने उससे 50 लाख रुपया लिया तथा इलाहाबाद और कड़ा जिले मुगल बादशाह शाह आलम को दिला दिए।

1.4.5 फर्रुखाबाद और रूहेलखण्ड

मुगल साम्राज्य के पतनकाल में उत्तरप्रदेश में अवध के अलावा अनेक छोटेछोटे राज्यों का उदय हुआ। फर्रुखाबाद और रुहेलखण्ड के दोनों राज्यों की स्थापना मुगल सम्राट औरंगजेब की मृत्यु के बाद मुगल साम्राज्य के विघटन के परिणाम स्वरुप पठान सरदारों के द्वारा की गई थी। अफगान मुहम्मद खां बंगश को 1713 ई. में फौजदारी के रुप में मुगल बादशाह फर्रुखसियर ने फर्रुखाबाद का क्षेत्र प्रदान किया था। कालान्तर में उसने व उसके उत्तराधिकारियों ने अपनी स्वायत्ता में वृद्धि कर ली तथा फौजदारी के रुप में मिले क्षेत्र को स्वतंत्र राज्य के रुप में विकसित कर लिया।

नादिरशाह के आक्रमण के समय प्रशासनिक अव्यवस्था का लाभ उठाकर अली मुहम्मद खां रुहेला ने रुहेलखण्ड नामक राज्य स्थापित किया। यह राज्य हिमालय की तराई में दक्षिण

में गंगा और उत्तर में कुमायूं की पहाडियों तक फैला हुआ था। इस राज्य के अन्तर्गत बरेली, शाहजहांपुर, मुरादाबाद, बिजनौर इत्यादि कस्बे सम्मिलित थे। इसकी राजधानी पहले बरेली में आंवला में थी और बाद में रामपुर चली गई। अली मोहम्मद खां ने नादिरशाह के आक्रमण के पश्चात् मुगल दरबार को राजस्व ब नजराना देना बन्द कर दिया था। 1745 ई. में उसने मुगल केन्द्रीय सेना की कार्यवाही के बाद मुगल सत्ता की प्रभुता को स्वीकार तो कर लिया लेकिन 1747 ई. में अहमदशाह अब्दाली के प्रथम भारत आक्रमण के समय स्वयं को पुनः मुगल सत्ता से स्वतंत्र कर लिया था। इस प्रकार रुहेलों का अव, दिल्ली और जाटों से लगातार संघर्ष होता रहा। 1748 ई. में मुहम्मदशाह की मृत्यु के बाद पठान सरदार हाफिज रहमत खां रुहेलखण्ड का उत्तराधिकारी बना। 1761 ई. में पानीपत के तृतीय युद्ध में अहमदशाह अब्दाली को रुहेलों ने पूरा सहयोग दिया। जिसके फलस्वरुप रुहेलों का अधिकार इटावा व शिकोहाबाद पर भी हो गया तथा दोआब का बहुत बड़ा भू-भाग रुहेलों व बंगशों के अधिकार में आ गया था। दिल्ली के आस-पास इन अफगान पठानों के स्वतंत्र राज्य स्थपित होने से मुगल साम्राज्य बहुत सिकुड़ गया था।

1.5 मुगल साम्राज्य के प्रतिरोध मे स्थापित नये राज्य

मुगलों की राजस्व नीति के विरोध में मराठों, सिक्खों एवं जाटों ने विद्रोह किये थे। अठारहवीं सदी के मध्य में केन्द्रीय नेतृत्व की दुर्बलता का लाभ उठाकर इन प्रतिरोधी जातियों के नेताओं ने स्वतंत्र राज्य स्थापित करने में सफलता प्राप्त कर ली। ये राज्य निम्नलिखित हैं।

1.5.1 जाट राज

उत्तरी भारत में जाट एक कुशल खेतिहर जाति है। जाट दिल्ली, आगरा और मथुरा के आस-पास के क्षेत्र में रहते थे। मथुरा के आस-पास के जाट किसानों ने औरंगजेब की दमनकारी राजस्व नीतियों के खिलाफ 1669 ई. और फिर 1688 ई. में जाट जमींदारों के नेतृत्व में विद्रोह किए। जाट-विद्रोहों को कुचल दिया गया लेकिन क्षेत्र में शांति स्थापित नहीं हुई। औरंगजेब की मृत्यु के बाद उन्होंने दिल्ली के चारों ओर अशांति का वातावरण उत्पन्न कर दिया। जमींदारों के नेतृत्व में जाट-विद्रोह मूलतः किसान विद्रोह था। लेकिन शीघ्र ही वह लूटमार तक सीमित हो गया। उन्होंने अमीरगरीब, जागीरदार-किसान, हिन्दू-मुसलमान सभी को लूटा। उन्होंने दिल्ली के दरबारी षड्यंत्रों में भी भाग लिया। अपने लाभ के अनुसार वे पक्ष बदल लेते थे। भरतपुर जाटों की सत्ता का प्रमुख केन्द्र था।

औरंगजेब की मृत्यु के बाद होने वाले उत्तराधिकार के संघर्ष में जाट नेता चूड़ामन ने अन्ततः जीतने वाले पक्ष का साथ दिया, जिसके फलस्वरुप उसे मनसबदार बना दिया गया। उसने अपनी स्थिति को बहुत मजबूत कर लिया था। वस्तुतः चूड़ामन जाट राजनीतिक सत्ता का संस्थापक था। उसने थून नामक स्थान पर एक सुदृढ़ किला बनवाकर मुगलों की सत्ता को चुनौती दी। 1721 ई. में जयपुर के महाराजा सवाई जयसिंह के नेतृत्व में मुगल सेना ने चूड़ामन की राजनीतिक शक्ति को नष्ट कर दिया। 1722 ई. में थून का किला भी बर्बाद कर दिया गया। उसकी मृत्यु के बाद उसके भतीजे बदनसिंह ने जाटों का नेतृत्व किया। उसने डीग, कुम्हेर, वैर एवं भरतपुर में चार नये दुर्गों का निर्माण करवाया। नादिरशाह के आक्रमण से उत्पन्न राजनीतिक व्यवस्था का लाभ उठाते हुए जाटों ने मथुरा पर भी अधिकार कर लिया और इस प्रकार भरतपुर राज्य की स्थापना हुई। 1756 ई. में सूरजमल भरतपुर का शासक बना, तथा उसके नेतृत्व में

नोट

जाट सत्ता उच्चतम शिखर पर पहुंच गई। तब उसे जाटों का अफलातून (प्लेटो) कहा जाने लगा। वह एक योग्य प्रशासक, सैनिक और बुद्धिमान राजनीतिज्ञ था। उसने एक विशाल क्षेत्र पर अधिकार किया जो पूर्व में गंगा से लेकर दक्षिण में चंबल तक तथा पश्चिम में आगरा के सूबे से लेकर उत्तर में दिल्ली के सूबे तक फैला हुआ था। उसके राज्य में आगरा, मथुरा. मेरठ, अलीगढ़ व अन्य जिले शामिल थे। मुगल राजस्व व्यवस्था को अपनाकर उसने एक स्थाई राज्य की नींव रखने का प्रयास किया। उसके नेतृत्व में जाट शक्ति इतनी बढ़ गई थी कि मुगल दरबार सहित उत्तरी भारत की राजनीतिक शक्तियां अपनी सफलता के लिए उसकी सहायता मांगने तथा आवश्यकता होने पर उसकी शरण में जाने को तैयार थी। 1762 ई. में उसकी मृत्यु हो गई। उसके बाद जाट राज्य पतन की ओर अग्रसर होने लगा। यद्यपि उसका उत्तराधिकरी जवाहरसिंह भी साहसी था किन्तु बदलती राजनीतिक परिस्थितियों में भरतपुर के विशाल राज्य को सुरक्षित नहीं रख पाया। उसे मराठों, राजपूतों व रुहेलों से लगातार संघर्ष करना पड़ा। कालान्तर में जाट राज्य छोटे जमींदारों के बीच विभाजित हो गया, जिनमें से ज्यादातर ने लूटमार को पेशा बना लिया था।

1.5.2 पंजाब में सिक्ख शक्ति का उत्थान

सिक्ख धर्म पन्द्रहवीं शताब्दी में भक्ति आन्दोलन के सन्त गुरु नानक द्वारा चलाया गया था। यह एक सरल, लोकतांत्रिक पद्धति पर आधारित, आडम्बर और अंधविश्वास रहित धर्म था जो जल्द ही पंजाब के जाट किसानों तथा अन्य निम्न जातियों के बीच फैल गया। गुरु हर गोविन्द (1606–1945) ने सिक्खों को एक लड़ाकू समुदाय के रुप में बदलने का काम शुरु किया। सिक्खों के दसवें और अंतिम गुरु गोबिन्द सिंह (1606–1708) के नेतृत्व में सिक्ख एक राजनीतिक और सैनिक ताकत बने। उन्होंने खालसा सेना की स्थापना की। गुरु गोविन्दसिंह ने उनमें बहादुरी और स्वतंत्रता की भावना का विकास किया था। औरंगजेब की सेनाओं और पहाड़ी राजाओं के विरुद्ध गुरु गोविन्दसिंह ने 1699 ई. से लेकर लगातार संघर्ष किए। औरंगजेब की मृत्यु के बाद हुए उत्तराधिकार युद्ध में गुरु गोविन्द सिंह ने बहादुरशाह का साथ दिया। बहादुरशाह ने उन्हें 5,000 जात और 5,000 सवार का मनसब दिया था। वे बहादुरशाह के साथ दक्षिण गये जहां एक अफगान नौकर ने विश्वासघात कर उन्हें मार दिया।

गुरु गोविन्दसिंह ने अपनी मृत्यु से पहले गुरु की प्रथा को समाप्त कर दिया और कहा, कि जहां भी पांच सिक्ख एकत्र होंगे वहां मैं उपस्थित रहूंगा। इस प्रकार सिक्खों के हितों के बारे में सोचने का निर्णय सिक्ख पंचायत को सौंप दिया गया। 1708 ई. मे सिक्खों का नेतृत्व उन के विश्वासपात्र शिष्य बन्दा बहादुर के हाथों में आ गया। उसने पंजाब के किसानों और निम्न जातियों के लोगों को एकजुट किया और मुगल सेना के विरुद्ध 8 साल तक असमानता का युद्ध किया। 1715 ई. में सहयोगियों के विश्वासघात के कारण वह मुगल सेना द्वारा गिरफ्तार कर लिया गया और उसकी हत्या कर दी गई। उसकी असफलता के निम्न कारण थे

1. मुगल शासन अभी भी काफी शक्तिशाली था।
2. पंजाब के सम्पन्न वर्ग और ऊँची जातियों के लोगों ने उसके विरोधियों का साथ दिया क्योंकि वह निम्न जातियों और गांवों की जनता का पक्षधर था।
3. अपनी धार्मिक कट्टरता के कारण वह मुगल विरोधी सभी शक्तियों को संगठित नहीं कर सका।

नोट

1716 ई. में सिक्खों का विद्रोह लगभग कुचल दिया गया। बन्दा बहादुर के दमन के बाद सिक्ख नेतृत्वहीन हो गये। वे लगभग 20 वर्ष तक शान्त रहे। बन्दा बहादुर ने सिक्ख-सरदारों को अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित करने का विचार दिया था। उससे प्रेरित होकर विभिन्न सिक्ख सरदारों ने अपनी सेनाएं एकत्र करके अपने-अपने प्रभाव-क्षेत्र को बढ़ाने का प्रयत्न किया। ऐसी स्थिति में उनका मुगलों से संघर्ष होना स्वाभाविक था। नादिरशाह और अहमदशाह अब्दाली के आक्रमणों और उसके कारण पंजाब के प्रशासन में उत्पन्न अव्यवस्था ने सिक्खों को पुनः उभरने का अवसर दिया। आक्रमणकारियों की सेनाओं के आगे बढ़ने पर सिक्खों ने बिना किसी भेदभाव के सबको लूटा और धन तथा सैनिक शक्ति जमा की। बाह्य आक्रमणों ने मुगल सत्ता को और अधिक कमजोर कर दिया। जबकि सिक्खों को इससे अप्रत्यक्ष लाभ मिला। 1761 ई. में पानीपत के तीसरे युद्ध में अहमदशाह अब्दाली ने मराठों को बुरी तरह से पराजित कियाश जिसके कारण पंजाब की राजनीति में मुगलों और मराठों का प्रभाव कम हो गया। अब्दाली के पंजाब से वापस जाने के बाद सिखों ने राजनीतिक खालीपन को भरना शुरु किया। 17 अक्टूबर, व 1762 ई. को दीपावली के अवसर पर अमृतसर में 60,000की सिख संगत एकत्र हुई तथा उन्होंने अब्दाली के अफगान सैनिकों पर आक्रमण कर दिया तथा उन्हें लाहौर से आगे खदेड़ दिया। अब्दाली की मृत्यु के बाद पंजाब पर अफगान शासक का नियंत्रण भी कमजोर हो गया तथा सिखों ने विभिन्न स्थानों पर अपने छोटे-छोटे राज्य बना लिये जिन्हें 'मिसल' कहा जाता था सिख मिसलों में संगठित थे जो सूबे के विभिन्न भागों में काम करते थे। ये मिसल परस्पर पूरा सहयोग करते थे। मूलतः वे समानता के सिद्धान्त पर आधारित थे। धीरे-धीरे मिसलों का लोकतांत्रिक और अकुलीन चरित्र गायब हो गया और शक्तिशाली सरदारों, सामंतों और जमींदारों ने उस पर अपना प्रभाव स्थापित कर लिया। इन्हीं मिसलों में से एक सुकरचकिया मिसल का मालिक रणजीत सिंह का पिता महासिंह था। अठारहवीं सदी के अंत में रणजीत सिंह ने इन मिसलों को संगठित कर पंजाब में एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना की।

1.5.3 मराठा शक्ति का उत्थान और पतन

मुगल साम्राज्य के पतनकाल में मुगलों को सबसे महत्तवपूर्ण चुनौती मराठों से मिली। मराठा राज्य, नवोदित शक्तियों में सबसे शक्तिशाली थे। स्वतंत्र मराठा राज्य की स्थापना छत्रपति शिवाजी ने औरंगजेब के शासनकाल में की थी। वस्तुतः मुगल साम्राज्य के विघटन से उत्पन्न राजनीतिक रिक्तता को मरने की क्षमता केवल मराठों में ही थी। इस कार्य के लिए आवश्यक प्रतिभाशाली सेनापति और राजनीतिज्ञ भी उनके पास थे। लेकिन मराठा सरदारों में एकता का अभाव था। साथ ही उनके पास एक अखिल भारतीय साम्राज्य बनाने की योजना तथा कार्यक्रम भी नहीं था। अतएव वे मुगलों की जगह लेने में सफल नहीं हुए। किन्तु मुगल साम्राज्य के नष्ट होने तक उनका मुगलों से संघर्ष चलता रहा। 1881 ई. में शिवाजी की मृत्यु के बाद उनका बड़ा पुत्र शम्भाजी शासक बना। उसने भी मुगल विरोधी नीति का पालन किया। व 1689 ई. में औरंगजेब ने शम्भाजी को समाप्त करने तथा महाराष्ट्र पर अधिकार करने में सफलता पाई। मराठों ने शम्भाजी की मृत्यु के बाद महाराष्ट्र को स्वतंत्र कराने के लिए जो संघर्ष शुरु किया वह औरंगजेब की मृत्यु तक चलता रहा। शिवाजी के दूसरे पुत्र राजाराम की पत्नी ताराबाई ने 1700 ई. में अपने पति की मृत्यु के बाद मराठों का नेतृत्व किया। औरंगजेब अपने अंत समय तक मराठों के दमन में सफल नहीं हो सका।

नोट

औरंगजेब के पुत्रों में होने वाला उत्तराधिकर युद्ध मराठों के लिए हितकारी सिद्ध हुआ। औरंगजेब के दूसरे पुत्र आजमशाह ने शम्भाजी के पुत्र को 8 मई, 1707 ई. को कैद से मुक्त कर दिया। उसे मराठों के राजा की मान्यता प्रदान करते हुए मराठा स्वराज्य के साथ मुगलों के दक्षिणी सूबे की चौथ और सरदेशमुखी वसूलने का अधिकार दिया गया। अधिकांश मराठा सरदारों ने भी उसे मराठा-छत्रपति मान लिया।

1714 ई. में बाद मराठा इतिहास में एक नये युग का सूत्रपात हुआ। इस काल को पेशवा काल के नाम से जाना जा सकता है। पेशवाओं ने मराठा राज्य को एक साम्राज्य के रुप में बदल दिया। पेशवा का पद छत्रपति शिवाजी की अष्टप्रधान परिषद में प्रधानमंत्री के समान था। शिवाजी की मृत्यु के बाद अष्टप्रधान सभा का महत्व कम हो गया था। शाहू को अपने शासनकाल के आरम्भ में बालाजी विश्वनाथ नामक अधिकारी ने शत्रुओं को कुचलने में बहुत सहायता की थी। शाहू ने 1713 ई. में बालाजी विश्वनाथ को पेशवा नियुक्त किया। बालाजी विश्वनाथ ने धीरे-धीरे मराठा अधिकार स्थापित कर लिया। उसने मराठा शक्ति को बढ़ाने के लिए मुगल अधिकारियों के आपसी झगड़ों का पूरा लाभ उठाया। उसने दक्कन के छः सूबों की चौथ और सरदेशमुखी वसूलने का अधिकार भी मुगल दरबार से प्राप्त कर लिया। साथ ही वे इलाके भी शाहू को वापस मिल गए, जो पहले शिवाजी के राज्य का भाग थे। बालाजी विश्वनाथ 1719 ई. में एक मराठा सेना लेकर सैय्यद हुसैन अली खां के साथ दिल्ली गया और मुगल बादशाह फर्रुखसियर का तख्ता पलटने मे सैय्यद बंधुओं की सहायता की। इस दिल्ली अभियान ने उसकी राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा को बढ़ा दिया था। उसमें मराठों का अपना प्रभाव-क्षेत्र उदर की ओर बढ़ाने की महत्वाकांक्षा जाग उठी। बालाजी विश्वनाथ का यह भी विचार था कि राजपूताना पर भी मराठा आधिपत्य स्थापित किया जा सकता है।

1720 ई. में बालाजी विश्वनाथ की मृत्यु हो गई और उसका पुत्र बाजीराव प्रथम पेशवा बना। युवा होने के बावजूद बाजीराव एक निर्भीक सेनापति, महत्वाकांक्षी और चतुर राजनेता था। उसे शिवाजी के बाद गुरिल्ला युद्ध का सबसे बड़ा प्रतिपादक कहा जाता है। बाजीराव के नेतृत्व में मराठों ने मुगलों के खिलाफ अनेक अभियान किए उसने मालवा और गुजरात पर आक्रमण किया और मुगल सूबेदारों को पराजित कर वहां चौथ वसूल करना शुरु कर दिया। बुन्देलखण्ड तथा जाट शासकों से भी चौथ वसूल करके उसने अपनी शक्ति इतनी बढ़ा ली कि कोई भी मराठों को चुनौती नहीं दे सकता था। बाजीराव ने दक्षिण में निजाम-उल-मुल्क की शक्ति को नियंत्रित करने की भी कोशिश की। निजाम ने भी पेशवा की शक्ति को कमजोर करने के लिए कोल्हापुर के राजा, मराठा सरदारों और मुगल अधिकारियों से मिलकर लगातार षड्यंत्र किए लेकिन उसे सफलता नहीं मिली। निजाम को पालखेद और भूपाल के युद्ध में हार का सामना करना पड़ा। परिणामतः उसे दक्षिणी प्रांतों की चौथ और सरदेशमुखी मराठों को देने के लिए बाध्य होना पड़ा।

1733 ई. में बाजीराव ने जंजीरा के सिद्दियों के खिलाफ एक लम्बा और शक्तिशाली अभियान शुरु किया। अंत में वह उन्हें मुख्य भूमि से निकालने में सफल रहा। उसने पुर्तगालियों के विरुद्ध भी एक अभियान आरम्भ किया। वहां भी उसे सफलता मिली और सिलसिट ब बसई (बस्सीन) पर उसने कब्जा कर लिया। व 1737 ई. में वह दिल्ली तक भी पहुंच गया। उसके दिल्ली अभियान का उद्देश्य मुगल सम्राट मुहम्मदशाह के सामने मराठों की शक्ति का प्रदर्शन करना था। इसके काल में पूना मराठा राजनीति का मुख्य केन्द्र बन गया था क्योंकि यहां पेशवा का कार्यालय था, जबकि छत्रपति सतारा में रहता था। उसी के काल में मराठा

नोट

संघ की स्थापना हुई उसने सम्पूर्ण मराठा क्षेत्र को पांच भागों में विभक्त कर दिया था। इनमें ग्वालियर सिन्धिया को, इन्दौर होल्कर को, नागपुर भौंसले को, गुजरात गायकवाड़ को तथा महाराष्ट्र का मराठा स्वराज्य छत्रपति व पेशवा के अधीन रखा गया था। इस मराठा संघ का मुखिया स्वयं पेशवा ही था।

बाजीराव की मृत्यु अप्रैल 1740 ई. में हुई। बीस वर्षों की अल्प अवधि में ही उसने मराठा राज्य को एक साम्राज्य के रुप में बदल दिया जिसका प्रसार उत्तर में भी हुआ था। उसके बाद उसका पुत्र बालाजी बाजीराव 18 वर्ष की आयु में पेशवा बना। वह 1740 से 1761ई. तक पेशवा-पद पर रहा। वह भी अपने पिता की तरह योग्य था। मराठा शासक शाहू की मृत्यु 1749 ई. में हुई। उसने एक वसीयत द्वारा सारा राजकार्य पेशवा को सौंप दिया था। पेशवा का पद तब तक वंशानुगत हो गया था और पेशवा ही राज्य का असली शासक हो गया था। बालाजी बाजीराव ने अपने पिता दवारा शुरू की गई साम्राज्य विस्तार की नीति को अपनाया। उसने साम्राज्य को विभिन्न दिशाओं में बढ़ाया। बालाजी बाजीराव के योग्य नेतृत्व में मराठा प्रभाव महाराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान, मालवा, बुन्देलखण्ड, बंगाल, कर्नाटक, अवध तथा पंजाब तक बढ़ गया साथ ही में मुगल दरबार में भी मराठों का प्रभाव बहुत बढ़ गया। उसने राजपूतों के आन्तरिक झगड़ों में भी हस्तक्षेप किया। यह हस्तक्षेप राजपूतों को पसन्द नहीं आया और वे मराठों के शत्रु बन गये।

1752 ई. तक मराठे अपनी शक्ति की चरम सीमा पर पहुंच गये थे। मराठाघुड़सवार दक्षिण से उत्तर भारत तक फैल गये, मुगल बादशाह उनके हाथ की कठपुतली बन गये, भारत के अधिकांश भू-भाग पर उनका अधिकार हो गया और बचे हुए क्षेत्रों में उन्होंने 'चौथ और सरदेशमुखीं' वसूल करना शुरु कर दिया। लेकिन मराठे अपने बढ़ते हुए उत्तरदायित्व को संभालने में समर्थ नहीं हुए। उन्होंने राजपूतों और जाटों से अपने सम्बन्ध खराब कर लिये, दिल्ली की राजनीति में हस्तक्षेप करने के बाद वे उसे अपने अधिकार में नहीं रख सके। मुगल सम्राट व मराठों के बीच 1752 ई. में एक संधि हुई। जिसके अन्तर्गत तय हुआ कि देशी एवं विदेशी शत्रुओं से चौथ वसूल करने का अधिकार मराठों का रहेगा। इस संधि का नुकसान मराठों को हुआ क्योंकि अब सब देशी शक्तियां उनके खिलाफ हो गई। मुगल दरबार का विदेशी मुसलमान सरदारों का दल भी उनके खिलाफ हो गया तथा उस गुट ने अफगानिस्तान के शासक अहमदशाह अब्दाली से मराठों के विरुद्ध सहायता मांगी।

उपरोक्त अनुकूल परिस्थितियों में अहमदशाह अब्दाली ने लाभ उठाया। उसने मराठों को उत्तरी भारत से भगाने के लिए पांचवी बार भारत पर आक्रमण किया। उसने रुहेलखण्ड के नजीबउद्दौला और अवध के शुजा-उद्-दौला से भी संधि कर ली। वे दोनों मराठा सरदारों से हार चुके थे। इस प्रकार उत्तरी भारत में मराठों के प्रदेश तथा विस्तारवादी नीति का परिणाम पानीपत के तृतीय युद्ध के रुप में सामने आया। विरोधी सेनाएं व नवम्बर 1760 ई. से एक दूसरे के सामने पानीपत के मैदान में डटी हुई थीं। जबकि पानीपत का तृतीय निर्णयात्मक युद्ध 14 जनवरी 1761 ई. को प्रातः अहमदशाह अब्दाली और मराठा सेनाओं के बीच हुआ। अफगान सेना 60 हजार के लगभग थी और मराठा सैनिकों की संख्या 45 हजार ही थी। दोपहर तक मराठा सेना विजयी होने की स्थिति में थी। लेकिन बाद में मराठा फौज के पैर पूरी तरह उखड़ गए। मल्हारराव होल्कर युद्ध के बीच में ही भाग निकला। इब्राहीम गार्दी के तोपखाने ने अब्दाली की सेना को बहुत नुकसान पहुंचाया लेकिन अन्त में मराठों की पराजय हुई। पेशवा का बेटा विश्वासराव, सदाशिव राव भाऊ, जसवन्तराव पंवार, जनकोजी सिन्धिया, इब्राहीम गार्दी इत्यादि

अनेक मराठा सेनापति और लगभग 28 हजार सैनिक मारे गये। अफगान घुड़सवारों ने भागने वाले मराठा सैनिकों का दूर तक पीछा किया।

नोट

उत्तरी भारत में मराठा-अफगान संघर्ष में मराठा सेना का नेतृत्व कर रहे पेशवा के चचेरे भाई सदाशिव राव की पराजय ने पेशवा बालाजी बाजीराव को आघात पहुंचाया। वह पहले से ही गम्भीर रुप से बीमार था। अत: 23 जून व 1761 ई. को उसकी मृत्यु हो गई।

पानीपत में मराठों की पराजय के अनेक कारण थे :

1. इसका मुख्य कारण सदाशिवराव की कूटनीतिक असफलता और अब्दाली की तुलना में उसका कमजोर सेनापतित्व था।
2. मराठों की सेना में स्त्रियों और नौकरों की संख्या बहुत ज्यादा थी।
3. सदाशिवराव ने अपने गलत सैन्य संचालन से दोआब का क्षेत्र खो दिया और वह अपनी सेना के लिए पर्याप्त रसद भी नहीं जुटा सका।
4. तीन महीने तक मराठा सेना बेकार पड़ी रही।
5. मराठों ने इस युद्ध में 'छापामार' (गुरिल्ला) रण-नीति का प्रयोग नहीं किया अपितु इब्राहीम गार्दी के तोपखाने पर आश्रित होकर सुरक्षात्मक युद्ध किया।
6. अब्दाली के पास अच्छी घुड़सवार और ऊँट-सेना थी और उसके पास अच्छी बंदूकें भी थी, जबकि मराठा सेना में घुड़सवारों की कमी थी।
7. मुस्लिम शासकों ने मराठों के बजाय अहमदशाह अब्दाली की सहायता की।
8. सदाशिवराव राजपूतों, सिक्खों और जाटों से भी सहायता नहीं ले पाया।
9. पेशवाओं के नेतृत्व में मराठा राज्य की स्पष्ट आर्थिक और प्रशासनिक नीतियों का विकसित न होना भी उनकी पराजय का कारण बना।
10. इसी प्रकार जहां अब्दाली की सेना में एकता और अनुशासन उल्लेखनीय था वहीं मराठों में इसका पूर्णत: अभाव था। उपरोक्त सभी परिस्थितियों ने मराठों की पराजय को निश्चित बना दिया।

पानीपत का तीसरा युद्ध भारतीय इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसने मुगल-सत्ता को हमेशा के लिए गौण कर दिया और मराठों की सम्पूर्ण भारत में हिन्दू स्वराज्य स्थापित करने की कामना पर भी पानी फेर दिया। इस युद्ध के पश्चात यह तय हो गया कि मुगल साम्राज्य की विरासत को संभालने में कोई भी भारतीय शक्ति सक्षम नहीं है।

पानीपत की पराजय से मराठों को बहुत नुकसान पहुंचा। उन्होंने अपने योग्यतम सेनापतियों और बहादुर सरदारों को खो दिया था, जिसके कारण रघुनाथ राव जैसे दुर्बल और षड्यंत्रकारी सरदारों को मराठा राजनीति में भाग लेने का अवसर मिला। मराठों की राजनीतिक प्रतिष्ठा को भी बड़ा धक्का लगा। इस युद्ध में पेशवा की शक्ति कमजोर हो गयी और मराठा राज्य छिन्न-भिन्न होने लगा इस पराजय ने उदर भारत में मराठों की प्रगति को रोक दिया। उनकी पराजय ने बंगाल और दक्षिण भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी को अपना प्रभाव जमाने का अवसर दिया। मराठा सेना अब अजेय नहीं रही थी। पानीपत के तृतीय युद्ध के परिणामस्वरूप पंजाब में सिख शक्ति का तेजी से विकास हुआ। संक्षेप में इस युद्ध ने मराठा शक्ति को बहुत

आघात पहुंचाया। इसके बाद वे सम्पूर्ण भारत की सर्वश्रेष्ठ शक्ति होने का दावा नहीं कर सके, अपितु भारत की विभिन्न शक्तियों में से एक रह गये। वस्तुत: पानीपत के तृतीय युद्ध ने यह फैसला नहीं किया कि भारत पर कौन राज्य करेगा बल्कि यह तय कर दिया कि भारत पर कौन शासन नहीं करेगा। अब भारत में ब्रिटिश सत्ता के उदय का रास्ता साफ हो गया था।

नोट

1.6 मुगलों के अधीन राज्यों मे स्वतंत्रता की पुर्नस्थापना

18वीं सदी में क्षेत्रीय शक्ति के रुप में उदित होने वाले कुछ राज्य ऐसे थे जिनका अस्तित्व पहले से विद्यमान था तथा वे नाममात्र के लिए ही सही लेकिन मुगलों के अधीन थे। इनमें मैसूर, केरल और राजपूत राज्य सम्मिलित थे।

1.6.1 मैसूर

18वीं सदी के मध्य में भारत के राजनीतिक क्षितिज पर स्वतंत्र राज्यों के उदय की खला में दक्षिण भारत का मैसूर राज्य एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। मैसूर के स्वतंत्र राज्य की स्थापना हैदरअली ने की थी। विजयनगर साम्राज्य के अंत समय से ही मैसूर राज्य ने अपनी कमजोर स्वाधीनता को बनाए रखा और वह नाममात्र को ही मुगल साम्राज्य का अंग था। 1704 ई. में मैसूर के राजा ने औरंगजेब की आधीनता स्वीकार कर ली थी। औरंगजेब की मृत्यु के बाद इस क्षेत्र में मराठों को चौथ वसूली का अधिकार मिल गया। 18वीं सदी के प्रारम्भ में नन्दराज और देवराज नाम के दो मंत्रियों ने मैसूर राज्य की सभी प्रशासनिक शक्तियां अपने हाथ मे ले रखी थी वहां का शासक कृष्णराज नाम मात्र का शासक रह गंवा था।

अठारहवीं सदी के मध्य में केन्द्रीय सत्ता के कमजोर होने से प्रान्तीय शासक अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित करने में लगे थे। इस काल में यह प्रवृत्ति भी दिखाई देती है कि राज्य-शासन में विधिवत अधिकारियों का स्थान राजघरानों के बजाय साधारण वर्ग के योग्य व शक्तिशाली व्यक्ति लेने लगे थे। उदाहरण स्वरुप, मराठा शासक छत्रपति का स्थान पेशवा और मैसूर के राजाओं का स्थान हैदरअली और टीपू सुल्तान ने ग्रहण कर लिया था। हैदरअली का पिता फतह मुहम्मद एक छोटा जागीरदार तथा मैसूर राज्य की सेना में अधिकारी था। 1738 ई. में हैदरअली एवं सिपाही के रुप में मैसूर की सेना में भर्ती हुआ था। वह कुशाग्र बुद्धि और प्रतिभा का धनी था। वह अत्यंत परिश्रमी और लगनशील था, तथा एक प्रतिभाशाली सेनानायक एवं चालाक राजनीतिज्ञ भी था।

मैसूर राज्य 20 साल तक युद्ध में उलझा रहा। इस अवधि में हैदरअली ने हर अक्सर का लाभ उठाया और सेना में ऊँचे पद पर पहुंच गया। 1755 ई. में वह डिण्डीगुल का फौजदार नियुक्त किया गया। वहाँ उसने एक आधुनिक शस्त्रागार स्थापित किया। जिसमें उसने फ्रांसीसी विशेषज्ञों की मदद ली। 1761 ई. में उसने नंदराज को सत्ता से अलग कर दिया तथा मैसूर राज्य पर अपना अधिकार कायम कर लिया। योद्धा सरदारों और जमींदारों के विद्रोहों को उसने नियंत्रित कर लिया तथा बिदनुर, सुंडा, सेदा कन्नड और मालाबार के इलाकों को जीत लिया। हैदराबाद और कर्नाटक के उत्तराधिकार के युद्धों तथा पानीपत के तृतीय युद्ध में मराठों की पराजय तथा दक्षिण में अंग्रेजों और फ्रांसीसियों की कट्टर शत्रुता ने हैदरअली को अपनी शक्ति और राज्य का विस्तार करने में सहयोग किया। इस प्रकार एक साधारण स्थिति से ऊपर उठकर

नोट

वह मैसूर राज्य के प्रमुख के पद पर पहुंच गया। वह एक अच्छा प्रशासक था। अपने राज्य में उसी ने मुगल शासन प्रणाली तथा राजस्व व्यवस्था लागू की थी। एक कमजोर और विभाजित राज्य को उसने शीघ्र ही भारत की प्रमुख शक्ति में बदल दिया। उसने धार्मिक सहिष्णुता की नीति को अपनाया। उसका पहला दीवान और अन्य अनेक अधिकारी हिन्दू थे।

हैदरअली की विस्तारवादी नीति के कारण उसे अपने शासन के प्रारम्भ से ही मराठा सरदारों, निजाम और अंग्रेजों के साथ संघर्ष करना पड़ा। उसने 1769 ई. में अंग्रेजी सेनाओं को बार-बार हराया और मद्रास तक पहुंच गया। द्वितीय आंग्ल-मैसूर युद्ध के दौरान 1782 ई. में उसकी मृत्यु हो गई। उसके स्थान पर उसका पुत्र टीपू सुलातन गद्दी पर बैठा।

1.6.2 केरल

अठारहवीं सदी के आरम्भ में केरल अनेक सामंत सरदारों और राजाओं में बंटा हुआ था। इनमें बार राज्य प्रमुख थे - कालीकट, चिरक्कल, कोचिन और त्रावणकोर। 1729 ई. के बाद त्रावणकोर राज्य राजा मार्तण्ड बर्मा के नेतृत्व में एक प्रमुख राज्य के रुप में उभरा। उसमें विलक्षण, दूरदर्शिता तथा दृढ़ संकल्प और साहस तथा निर्भीकता का सामंजस्य था। उसने सामंतों की शक्ति को दबा दिया। क्विलोन और इलायादाम को उसने जीत लिया और डच लोगों को हराकर केरल में उनकी राजनीतिक सत्ता समाप्त कर दी। उसने यूरोपीय अधिकारियों की सहायता से पश्चिमी सैनिक आदर्श (मॉडल) के आधार पर एक शक्तिशाली सेना का गठन किया तथा उसे आधुनिक हथियारों से सुसज्जित किया। उसने एक आधुनिक शस्त्रगार भी बनाया। मार्तण्ड बर्मा ने अपनी सेना का उपयोग अपने राज्य का उत्तर में विस्तार के लिए किया। त्रावणकोर की सीमाएं शीघ्र ही कन्याकुमारी से कोचीन तक फैल गई। उसने सिंचाई की अनेक व्यवस्थाएं की, आवागमन के लिए सड़कों का निर्माण कराया तथा विदेश व्यापार को प्रोत्साहन दिया। 18वीं सदी के उत्तरार्ध में त्रावणकोर की राजधानी त्रिवेंद्रम संस्कृत साहित्य का एक प्रसिद्ध केन्द्र बन गया।

1.6.3 राजपूत राज्य

मुगल सम्राट औरंगजेब की मृत्यु के बाद राजपूत राज्यों में मुगल सत्ता का नियंत्रण कमजोर पड़ गया था। प्रमुख राजपूत राज्यों ने मुगल सत्ता की बढ़ती हुई कमजोरी का लाभ उठाकर अपने को केन्द्रीय नियंत्रण से मुक्त कर लिया था। इसके साथ ही उन्होंने मुगल साम्राज्य के शेष भागों में अपना प्रभाव बढ़ाया। फर्रुखसियर और मुहम्मदशाह के शासनकाल में आमेर और मारवाड़ के शासकों को आगरा गुजरात और मालवा जैसे महत्वपूर्ण मुगल प्रांतो का सूबेदार बनाया गया था। राजपूत शासकों ने मुगलों के उत्तराधिकार के संघर्ष तथा सत्ता के षड्यंत्रों में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, किन्तु उदर मुगलकाल में मुगल दरबार में उनका महत्व पहले से कम हो गया था।

राजपूत राज्य पूर्व की भांति अभी भी विभाजित रहे। बड़े राज्यों ने अपने से छोटे राजपूत और गैर-राजपूत राज्यों के क्षेत्रों को हथिया कर अपना राज्य विस्तार किया। इन राज्यों की आंतरिक राजनीति में भी मुगल दरबार के समान भ्रष्टाचार, षड्यंत्र और विश्वासघात का वातावरण था।

18वीं सदी का सबसे श्रेष्ठ राजपूत शासक आमेर का सवाई जयसिंह (1681-1743 ई) था वह एक विख्यात राजनीतिज्ञ, कानून-निर्माता और समाज सुधारक था। उसने 1727 ई. में

जयपुर शहर की स्थापना की। 18वीं सदी के मध्य तक राजपूताना से मुगल नियंत्रण लगभग पूरी तरह समाज हो गया था। अब मराठों के रुप में एक नई शक्ति का उदय हुआ था। मराठे मालवा और गुजरात में अपना प्रभाव स्थापित कर चुके थे। अब उनकी महत्वाकांक्षा राजपूताना के राज्यों पर वर्चस्व जमाने की थी। 1734 ई. के बाद से मराठों के राजपूताना में अभियान शुरु हो चुके थे। मेवाड़, मारवाड़, जयपुर, कोटा व बूंदी आदि बड़े राज्य मराठा अभियानों के प्रमुख केन्द्र थे। मराठों के आक्रमणों के सम्पादित खतरे को देखते हुए सवाई जयसिंह ने राजपूताना के शासकों को संगठित करने का प्रयास किया। मराठों के विरुद्ध एक संयुक्त मोर्चा बनाने के उद्देश्य से जुलाई, 1734 ई. में राजपूत-शासकों का सम्मेलन मेवाड़ के हुडा नामक स्थान पर हुआ। इस की अध्यक्षता मेवाड़ के शासक जगतसिंह द्वितीय ने की। इस सम्मेलन में सभी राजाओं ने शपथ ली कि वे अच्छे और बुरे में एक रहेंगे, लेकिन राजपूत स्वभाव से एकता के विरोधी थे। अत: वे मराठों के विरुद्ध एकजूट होकर कोई कदम नहीं उठा सके। 1735 ई. के बाद मराठों के राजपूताना के राज्यों में सैनिक अभियान और तेज हो गए। मराठों ने राजपूत राज्यों के आपसी विवादों में किराये के बिचौलियों की भूमिका निभाई। 1752 ई. में मुगल बादशाह ने मराठों को अजमेर की सूबेदारी दे दी। अब अप्रत्यक्ष रुप से राजपूताना में मराठों की सत्ता स्थापित हो गई। धीरे-धीरे राजपूत शासक मराठों की अधीनता में चले गए। उनका मराठों से वही सम्बन्ध हो गया जो पहले मुगल बादशाह से था। कालान्तर में जब भारत में मराठों का स्थान अंग्रेजों ने ले लिया- तब राजपूताना के राजपूत शासक अंग्रेजों की सम्प्रभुता के अधीन हो गये।

1.7 सारांश

उपरोक्त विवरण के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि 18वीं सदी के मध्य में भारत की राजनीतिक स्थिति अच्छी नहीं थी। मुगल साम्राज्य के कमजोर और धीरे-धीरे पतन की ओर बढ़ने के साथ-साथ अनेक क्षेत्रीय राजनीतिक शक्तियों का उदय भारत के राजनीतिक पटल पर हुआ। बंगाल, अवध और हैदराबाद के महत्त्वाकांक्षी सामंतों ने अपनी अर्द्धस्वतंत्र रियासतें स्थापित कर ली। ये रियासतें पहले मुगल सूबेदारों के अधीन थीं, जिन्होंने अब स्वतंत्रता का दावा किया था। कुछ शक्तियों का उदय मुगल सत्ता के प्रति विद्रोह के परिणामस्वरूप हुआ। इनमें मराठा, अफगान, रुहेले, जाट तथा पंजाब राज्य मुख्य हैं। पेशवाओं के नेतृत्व में मराठा राज्य की सीमाएं महाराष्ट्र से निकलकर गुजरात व मालवा तक फैल गई। मराठों ने दक्षिण के बजाय उदर भारत में साम्राज्य प्रसार पर ज्यादा ध्यान दिया। 1752 ई. में मराठों ने एक संधि द्वारा मुगल बादशाह व साम्राज्य की सुरक्षा का दायित्व स्वीकार कर लिया जिसके फलस्वरुप मराठा राज्य की सीमाएं पंजाब तक पहुँच गई, जिससे मराठा शक्ति का विनाश हुआ। उत्तरी भारत में दोआब के क्षेत्र में रुहेला पठानों ने रुहेलखण्ड की स्थापना की। दिल्ली व आगरा के निकट जाट राज्य की स्थापना भी इसी काल में हुई। पंजाब में सिक्खों ने अपनी राजनीतिक स्थिति को सुदृढ़ किया। केन्द्रीय नियंत्रण के कमजोर होने से मैसूर व राजपूत राज्यों ने भी नाममात्र की मुगल अधीनता से मुक्त होकर स्वतंत्र राज्यों की तरह कार्य करना शुरु कर दिया।

18वी सदी के मध्य तक केन्द्रीय सत्ता इतनी दुर्बल हो चुकी थी कि वह 1739 ई. में नादिरशाह के आक्रमण का सफल प्रतिरोध भी नहीं कर सकी। इस आक्रमण से मुगलों की प्रतिष्ठा नष्ट हो गई। मुगल साम्राज्य की कमजोरी का लाभ मराठों के बाद विदेशी कम्पनियों

नोट

ने उठाया। जिनमें ईस्ट इण्डिया कम्पनी सबसे प्रमुख है। 16वीं सदी में भारत की राजनीतिक रिक्तता को भरने के लिए उत्तर-पश्चिम से किसी शक्ति का आगमन नहीं हुआ बल्कि वह शक्ति समुद्री मार्ग से भारत में आयी थी। जब प्रमुख भारतीय राजनीतिक शक्तियां उत्तरी भारत की राजनीति में उलझी हुई थीं, उस समय व्यापारिक कम्पनियों के रुप में विदेशी शक्तियां दक्षिणी और पूर्वी भारत में अपना प्रभाव स्थापित कर चुकी थीं।

1.8 अभ्यास प्रश्न

1. अठारहवीं शताब्दी के मध्य में भारत की राजनीतिक स्थिति की मुख्य विशेषताओं का विवेचन कीजिए।
2. 18वीं सदी के मध्य में मुगल साम्राज्य के विघटन की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप अस्तित्व में आए स्वतंत्र राज्यों के निर्माण का उल्लेख कीजिए
3. मराठा-शक्ति के विकास में पेशवाओं के योगदान को स्पष्ट कीजिए।
4. 18वीं सदी में मैसूर-राज्य के उत्थान के कारणों और परिस्थितियों पर प्रकाश डालिए।

इकाई-2 आंग्ल-मैसूर संबंध

पाठ-संरचना

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 मैसूर राज्य के अंग्रेजों से सम्बन्ध

2.3 प्रथम आंग्ल-मैसूर युद्ध (1767-69) के कारण

2.3.1 युद्ध का आरम्भ और घटनाएँ

2.3.2 मद्रास की सन्धि (अप्रैल 1769 और युद्ध की समाप्ति)

2.4 द्वितीय आंग्ल मैसूर युद्ध (1780-84) के कारण

2.4.1 द्वितीय आंग्ल मैसूर युद्ध का आरम्भ और घटनाएँ

2.4.2 मंगलोर की सन्धि (मार्च 1764) और युद्ध की समाप्ति

2.5 तृतीय आंग्ल-मैसूर युद्ध (1790-92) के कारण

2.5.1 युद्ध के कारण और घटनाएँ

2.5.2 श्रीरंगपट्टम की सन्धि (मार्च 1792) और युद्ध की समाप्ति

2.6 चतुर्थ आंग्ल-मैसूर युद्ध (1799) के कारण

2.6.1 युद्ध का आरम्भ और घटनाएँ

2.6.2 मैसूर का राजनीतिक निर्णय

2.7 अंग्रेजों के विरुद्ध टीपू की असफलता के कारण

2.8 सारांश

2.9 अभ्यास प्रश्न

नोट

2.0 उद्देश्य

इस इकाई में आप अध्ययन करेगें :

- फ्रांसीसियों की पराजय तथा बंगाल पर विजय के बाद ब्रिटिश कम्पनी ने किस प्रकार दक्षिण भारत के एक महत्वपूर्ण राज्य मैसूर की शक्ति पर नियंत्रण करने के लिए हस्तक्षेप किया?
- दक्षिण भारतीय शक्तियाँ परस्पर वैमनस्य के कारण या तो अंग्रेजों के विरुद्ध संगठित ही नहीं हुई और यदि अल्पकाल के लिए हो पायी हो तो अंग्रेजों ने किस प्रकार ऐसे संघ का विघटन कर उसे अपने पक्ष में कर लिया।
- हैदर अली ने तत्कालीन सामरिक आवश्यकताओं के अनुसार सेना निर्माण का प्रयास किया और अंग्रेजों के लिए सशक्त चुनौती प्रस्तुत की।
- हैदर अली के बाद उसके पुत्र टीपू ने अंग्रेजों से संघर्ष को जीवन पर्यन्त जारी रखा लेकिन श्रीरंगपट्टम की सन्धि की व्यवस्थाओं के कारण टीपू पंगु बन गया।

नोट

- अंग्रेज अधिकारियों की उस साम्राज्यवादी महत्वकांक्षा को जिसने पिट्स इंडिया एक्ट के प्रावधानों के विरुद्ध जाकर मैसूर से युद्ध किया।
- टीपू द्वारा अपनी शक्ति वृद्धि के लिए विदेशी शक्तियों से सहायता प्राप्त करने के यथा सम्भव प्रयासों की श्रृंखला की।
- चतुर्थ मैसूर युद्ध के बाद क्षेत्रीय शक्तियों को प्रभावी लाभ दिये बिना कम्पनी द्वारा स्वयं राजनीतिक, सामरिक, भौगोलिक तथा आर्थिक लाभ अर्जित करते। हुए मैसूर राज्य को अस्तित्वहीन होड़ करने की कूटनीति के विषय में।
- उन कारणों के विषय में जिन्होंने मैसूर राज्य के पतन को अवश्यम्भावी बना दिया।
- आंग्ल मैसूर युद्ध के परिणामस्वरूप किस प्रकार भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार एक पायदान और आगे चढ़ा।

2.1 प्रस्तावना

18वीं सदी के उत्तरार्द्ध में दक्षिण भारत में राजनीतिक घटनाओं का क्रम चार शक्तियों पर निर्भर करता था। ये शक्तियाँ थी – मराठे, हैदराबाद का निजाम, मैसूर तथा अंग्रेज ईस्ट इंडिया कम्पनी। मराठों का राजनीतिक प्रभावक्षेत्र व्यापक था किन्तु केन्द्रीय संगठन प्रभाशाली नहीं था। 1748 के बाद हैदराबाद के शासक अपेक्षाकृत अयोग्य थे जो दक्षिण की राजनीति से क्षणिक लाभ उठाना चाहते थे। मैसूर में 1761 ई. में हैदरअली ने अधिकार स्थापित किया। वह दक्षिण के अन्य शासकों की अपेक्षा योग्य होते हुए भी अन्य शक्तियों की नीति परिवर्तन से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता था। ब्रिटिश नीति भी अन्य राज्यों की भाँति अस्पष्ट तथा परिवर्तनशील रहती थी। इन चारों शक्तियों की परिवर्तनशील नीतियों के संघर्ष में अंग्रेजी कूटनीति अधिक सफल नहीं क्योंकि निजाम, मैसूर तथा मराठे अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए परस्पर संघर्ष में अंग्रेजों से सहायता चाहते थे। किसी एक शक्ति का निर्णय शेष दो को प्रभावित करता था अत: इन तीनों शक्तियों के लिए संघर्ष श्रृंखला में भाग लेना आवश्यक होता था क्योंकि उस श्रृंखला की प्रत्येक कड़ी उन्हें निर्णायक दिखाई पड़ती थी, जबकि अंग्रेज अपने राजनीतिक हितों के लिए इन्तजार कर सकते थे। इसलिए अंग्रेजों को अधिकांश अवसरों पर कूटनीतिक सफलता मिली।

इस पृष्ठभूमि में हम इस इकाई के अन्तर्गत आंग्ल-मैसूर युद्धों का अध्ययम करेगें जो अंग्रेजों द्वारा दक्षिण की राजनीति में अपने हितों के अनुकूल हस्तक्षेप तथा क्षेत्रीय शक्तियों के परस्पर विरोधी गठबन्धन की ऐसी श्रृंखला को प्रकाशित करता है जो मैसूर के सशक्त राज्य के अस्तित्व की रक्षा को असंभव एवं अंग्रेजों की 'फूट डालो-राज करो' की नीति की सफलता का मार्ग प्रशस्त करती है। हैदर एक ऐसा व्यक्तित्व था जिसकी व्यक्तिगत योग्यता ने न केवल मैसूर की। आन्तरिक राजनीति पर वर्चस्व प्राप्त किया, अपितु जिसने विदेशी शक्तियों से सैनिक तथा कूटनीतिज्ञ सहायता प्राप्त करने का यथासम्भव प्रयास किया। किन्तु क्षेत्रीय राजनीति के विरोधाभासों, क्षेत्रीय शक्तियों से किये गये समझौतों से प्रतिबद्धता के अभाव में, अंग्रेजी नीति ही अन्तत: सफल रही और लम्बे संघर्ष की परम्परा के बावजूद हैदर तथा टीपू का संघर्ष विफल रहा। मैसूर उन राज्यों की श्रृंखला की एक और कड़ी बन गया, जिन्हें एक एक करके अंग्रेजों ने पराजित किया, जिससे भारत ब्रिटिश शक्ति का संगठित मुकाबला नहीं कर सका। मैसूर राज्य के पतन के बाद, अंग्रेजों के लिए दक्षिण में मराठों की अकेली बड़ी ताकत से

लड़ना आसान हो गया। इस इकाई में हम इस संघर्ष के आंग्ल-मैसूर के विभिन्न पड़ावों तथा कारणों एवं घटनाओं तथा परिणामों की चर्चा करेगें।

2.2 मैसूर राज्य के अंग्रेजों से सम्बन्ध

नोट

1761 ई. में हैदर अली ने अपनी सैनिक, राजनीतिक योग्यता तथा व्यक्तिगत परिश्रम के आधार पर मैसूर राज्य पर नियंत्रण स्थापित किया था। 1762 से ही वह इस बात के लिए प्रयत्नशील था कि वह मराठों के विरुद्ध अपनी स्थिति मजबूत करने में अंग्रेजों की सहायता प्राप्त कर सके। हैदर अली की यह योजना थी कि वह यूरोपीय शक्तियों की परस्पर प्रतिन्दिता से लाभ उठाकर आवश्यकता पड़ने पर अपने लिए सैनिक सामग्री तथा सहायता प्राप्त कर सके। इसी दृष्टि से उसने फ्रांसीसियों से घनिष्टता बढ़ाई थी जिसे अंग्रेजों ने हमेशा अपने विरूद्ध समझा। दक्षिण भारत की राजनीति में सन्तुलन बनाये रखने के लिए तथा मराठों को मद्रास से दूर रखने के लिए अंग्रेजों को मैसूर के अस्तित्व की आवश्यकता थी किन्तु हैदर अली की योग्यता, कूटनीतिक सूझबूझ, सैनिक कुशलता ही अंग्रेजों की दृष्टि में उसका दोष था क्योंकि इन योग्यताओं के आधार पर मैसूर राज्य अत्यधिक शक्तिशाली बन सकता था और ऐसा शक्तिशाली राज्य दक्षिण के शक्ति संतुलन को बिगाड़ कर बढ़ती अंग्रेजी सत्ता के लिए खतरा हो सकता था। इसलिए अंग्रेजों ने हैदर जैसे योग्य नेता को समर्थन देना अपने हितों के विरूद्ध समझा। यही नहीं, मैसूर की बढ़ती शक्ति को दबाने के लिए अंग्रेज शीघ्र ही युद्ध का बहाना ढूँढने लगे जो दक्षिण भारतीय राजनीति ने शीघ्र ही उन्हें प्रदान कर दिया। इसी के साथ मैसूर तथा अंग्रेजों के मध्य युद्ध की उस श्रृंखला की शुरुआत हुई जो हैदर अली की मृत्यु के बाद ही टीपू के नेतृत्व में जारी रही और अंग्रेजों ने मैसूर के पतन के बाद ही राहत की साँस ली।

2.3 प्रथम आंग्ल-मैसूर युद्ध (1767-69) के कारण

प्रथम आंग्ल मैसूर युद्ध मद्रास सरकार द्वारा दक्षिण की राजनीति में भाग लेने के कारण हुआ। अंग्रेजों ने बंगाल में आशातीत सफलता प्राप्त की थी और मद्रास सरकार इसी प्रकार की सफलता को दक्षिण में दोहराना चाहती थी। 1765 में हैदराबाद के निजाम ने हैदरअली के विरूद्ध अंग्रेजों से सहायता माँगी और उत्तरी सरकार के इलाके को प्राप्त करने के बदले में अंग्रेज निजाम को सहायता देने के लिए तैयार हो गये। मराठे भी इस संधि में सम्मिलित हो गये और इस प्रकार 1766 में पहले मराठों ने मैसूर पर आक्रमण किया किन्तु हैदर अली ने बहुत चालाकी से काम लिया। उसने इस गुट को तोड़ने और मराठों के आक्रमण से बचने के लिए कूटनीति का सहारा लिया। उसने आक्रमणकारी मराठों को 35 लाख रुपये देने का वादा किया। आधा धन उसी समय दे दिया गया तथा आधे धन के बदले में कोलार के जिले को रहन के रूप में मराठों को दे दिया। मराठे इससे सन्तुष्ट होकर वापस चले गये।

हैदर ने निजाम को भी प्रलोभन देकर अपनी और मिला लिया। मई 1767 ई. में निजाम ने अंग्रेजों के विरूद्ध हैदर की सहायता करने के लिए एक संधि पर हस्ताक्षर किये क्योंकि निजाम अंग्रेजों को उत्तरी सरकार देने के पक्ष में नहीं था।

2.3.1 युद्ध का आरम्भ (1767 ई.) और घटनाएँ

निजाम और अंग्रेजों ने अप्रैल 1767 ई. में हैदर पर आक्रमण किया किन्तु मई 1767 में निजाम हैदर की ओर मिल गया। युद्ध अब अंग्रेजों और हैदर अली में ही रह गया। अंग्रेज इस

नोट

समय मैसूर में हैदर की शक्ति को आन्तरिक विद्रोह करवा कर भी समाप्त करने की योजना बना रहे थे। सितम्बर 1767 ई. में ब्रिटिश सेनापति स्मिथ को हैदर तथा निजाम की सम्मिलित सेनाओं से युद्ध करना पड़ा तथा त्रिनोपली वापस लौटना पड़ा जहाँ कर्नल वुड की सेना भी उसके साथ हो गयी। त्रिनोपली के युद्ध में निजाम और हैदर अली की सेनाओं को असफलता मिली और दिसम्बर 1787 में हैदर अली की एक अन्य स्थान पर भी हार हुई। इन असफलताओं को देखकर और यह जानकर कि अंग्रेज हैदराबाद पर भी आक्रमण करने के लिए सेना भेज रहे हैं, निजाम का साहस टूट गया और मार्च 1768 में उसने पुनः पाला बदलते हुए हैदर अली का साथ छोड़कर अंग्रेजों से सन्धि कर ली। निजाम के साथ मद्रास सरकार दवारा की गयी यह संधि अंग्रेजों और मैसूर राज्य के बीच स्थायी झगड़े का कारण बनी क्योंकि इस मैत्री में अंग्रेजों ने हैदर के अस्तित्व को समाप्त करने तथा बंगाल की भाँति मैसूर की दीवानी प्राप्त करने की योजना बनायी थी, हैदर को अपहरणकर्ता और विद्रोही घोषित किया गया था। इस संधि के पश्चात् हैदर को अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करना पड़ा।

इसके बाद अंग्रेजों ने मार्च 1768 ई. में मंगलोर के दुर्ग पर अधिकार कर लिया लेकिन हैदर ने शीघ्र ही उस पर पुनः नियंत्रण स्थापित कर लिया। इससे हैदर की सैनिक प्रतिष्ठा बढ़ी तथा उसका अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ने का निश्चय भी दृढ़ हुआ। उसने अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध शैली में परिवर्तन किया। एक स्थान पर युद्ध करने की अपेक्षा उसने अपनी घुड़सवार फौज से अंग्रेजी सेना को परेशान करना आरम्भ किया और 1768 ई. के अन्त तक हैदर विभिन्न स्थानों पर पुनः नियन्त्रण स्थापित कर सका। विजयी होकर हैदर ने अंग्रेजों से संधि वार्ता आरम्भ की। यह वार्ता दिसम्बर 1768 ई. से अप्रैल 1769 ई. तक चलती रही। डेढ़ वर्ष के अनिर्णायक युद्ध के पश्चात् हैदर अली ने अंग्रेजों के विरुद्ध बाजी उलट दी तथा मद्रास को घेर लिया। मद्रास सरकार विवशता की स्थिति में थी अतः भयभीत अंग्रेजों को हैदर के साथ संधि करनी पड़ी।

2.3.2 मद्रास की सन्धि (अप्रैल 1769) और युद्ध की समाप्ति

4 अप्रैल 1789 ई. को हैदर अली तथा अंग्रेजों के मध्य जो संधि हुई उसके :

1. दोनों पक्षों ने एक दूसरे के जीते हुए क्षेत्र लौटा दिए।
2. हैदर अली के पास करुर का क्षेत्र रहने दिया गया।
3. हैदर ने 205 अंग्रेज युद्धबन्दियों को छोड़ दिया।
4. अंग्रेजों तथा हैदर अली ने एक दूसरे को किसी भी बाह्य आक्रमण के अक्सर पर परस्पर सहायता देने का वादा किया।

इस प्रकार यह एक प्रकार का रक्षात्मक समझौता था। मद्रास सरकार को इस युद्ध से कोई लाभ नहीं हुआ। निःसन्देह, युद्ध में हैदर अली को सफलता प्राप्त हुई थी और उसने ही संधि की शर्तो को निश्चित किया था किन्तु यह संधि दो मित्रों के बीच न थी। अंग्रेज न तो हैदर अली को मित्र मानने को तैयार थे और ना ही इस संधि की शर्तो के अनुसार हैदर को उसके शत्रुओं के विरूद्ध सहायता देने के लिए तत्पर थे। 1771 ई. में मराठा पेशवा माधवराव ने मैसूर पर आक्रमण किया और हैदर द्वारा सहायता माँगने पर भी अंग्रेजों ने उसकी सहायता नहीं की। हैदर को पराजित होकर मराठों को भारी धनराशि देनी पड़ी। अंग्रेजों द्वारा की गयी इस वादा खिलाफी से हैदर का विश्वास उन पर से उठ गया। 1771 ई. की यह घटना ही 10 वर्ष पश्चात् हैदर को अंग्रेजों के पक्ष में लाने में विफल रही।

2.4 द्वितीय आंग्ल-मैसूर युद्ध (1780-84) के कारण

नोट

1775 ई. के बाद मद्रास प्रशासन कुछ आन्तरिक कलह और विवादों में उलझा हुआ था। मराठा संघ भी आन्तरिक कठिनाइयों में उलझा हुआ था इसलिए हैदर को अपनी शक्ति बढ़ाने का सुअवसर मिलता रहा। इस दौरान भी दोनों पक्षों में मतभेद रहे जिन्होंने परिवर्तित परिस्थितियों में द्वितीय अतल मैसूर युद्ध के कारणों को जन्म दिया :

1. 1776 ई. में आरम्भ हुये अमरीकी उपनिवेशों के स्वतंत्रता संग्राम में फ्रांस ने इंग्लैण्ड के विरूद्ध उपनिवेशों की सहायता की थी इसलिए भारत में अंग्रेजी कम्पनी के अधिकारियों ने फ्रांसीसियों के क्षेत्रों पर अधिकार करने का निश्चय किया। इसी क्रम में पोण्डिचेरी, मच्छलीपट्टम तथा 19 मार्च 1779 ई. को माही पर अंग्रेजों का नियंत्रण हो गया। मलाबार तट पर स्थित माही का यह फ्रांसीसी तट हैदर के नियंत्रण में था जहाँ से सैनिक सामान मैसूर पहुँचता था।

2. अंग्रेजों ने हैदर को 'गन्टूर सरकार' के प्रश्न पर भी लड़ने के लिए बाध्य किया। 1778 में अंग्रेजों ने बसालत जंग (निजाम का सम्बन्धी) से गन्टूर छीन लिया। यह कार्य हैदर अली विरोधी था क्योंकिं गन्टूर के निकट हैदर अली अपना प्रभाव स्थापित कर रहा था अत: हैदर ने बसालत के विरूद्ध कार्यवाही की धमकी दी और अंग्रेजों ने बसालत की सहायता के लिए ऐसा मार्ग चुना जो हैदर के राज्य से होकर जाता था। हैदर की अनुमति के बिना ही अंग्रेजी सेनाओं को मद्रास सरकार ने मैसूर राज्य से जाने का आदेश दिया। जब हैदर की सेना ने अंग्रेजी सेना का विरोध किया तो मद्रास सरकार ने इसे शत्रुता पूर्ण कार्य कहा। यह युद्ध आरम्भ होने का दूसरा कारण था।

3. युद्ध का एक अन्य कारण हेस्टिंग्स की साम्राज्यवादी महत्त्वाकांक्षा थी। उसने मद्रास सरकार के साथ हैदर के 1778 ई. में सन्धि स्थापना के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। हेस्टिंग्स ने मराठों की राजनीति में हस्तक्षेप करके यह स्पष्ट कर दिया था कि उसकी महत्त्वाकांक्षा समस्त भारत में अंग्रेजी प्रभाव स्थापित करने की है जिससे मैसूर राज्य भी अधिक दिनों तक नहीं बच सकता था।

4. अंग्रेजी नीति ने दक्षिण भारतीय शक्तियों को संगठित होने का अवसर दिया। हैदर अली अंग्रेजों से पहले ही असन्तुष्ट था जबकि अंग्रेजों ने 1768 में निजाम के साथ की गयी संधि के अनुसार उत्तरी सरकार के जिलों के बदले सात लाख रूपये वार्षिक देने के वादे को भी पूरा नहीं करने से इन्कार कर दिया और बसालत जंग से गन्दर का जिला छीन लिया। इसलिए निजाम इस समय अंग्रेजों से असंतुष्ट था। उधर, मराठों के साथ अंग्रेजों का प्रथम युद्ध आरम्भ हो चुका था परिणाम स्वरूप अंग्रेजों से नाराज इन तीनों दक्षिणी शक्तियों ने अंग्रेजों के विरूद्ध एक गुट बना लिया और एक निश्चित योजना के तहत यह तय किया गया कि मराठे बरार और मध्य भारत से होते हुए अंग्रेजों पर उत्तर भारत में आक्रमण करेगें, निजाम उत्तरी सरकार पर आक्रमण करेगा तथा हैदर अली मद्रास तथा उसके आसपास के क्षेत्रो को जीतेगा। इस प्रकार द्वितीय आंग्ल-मैसूर युद्ध की पृष्ठभूमि तैयार हो गयी।

2.4.1 द्वितीय आंग्ल-मैसूर युद्ध का आरम्भ और घटनाएँ

नोट

फरवरी 1780 में अंग्रेज विरोधी गुट में शामिल होने के बाद हैदर ने तय योजना के अनुसार जुलाई 1780 में 83,000 सैनिकों तथा 100 तोपों के साथ कर्नाटक के मैदान में प्रवेश किया। मद्रास सरकार ने एक सेना कर्नल बेली और दूसरी बक्सर युद्ध के विजेता हैक्टर मुनरो के नेतृत्व में हैदर अली को आगे बढ़ने से रोकने के लिए भेजी। टीपू ने इन दोनों सेनाओं को मिलने से रोका। कांजीवरम के निकट हुए बेली के साथ मुकाबले में बेली मारा गया। मुनरो, जो काँजीवरम में बेली का इन्तजार कर रहा था इतना घबराया कि उसने मद्रास में जाकर शरण ली। अक्टूबर 1780 में हैदर ने अकार्ट पर अधिकार कर लिया। अंग्रेजी प्रतिष्ठा अपने न्यूनतम बिन्दु पर पहुँच गयी। अल्फ्रेड लॉयल ने उस समय की अंग्रेजों की स्थिति के बारे में लिखा है कि श्भारत में अंग्रेजों का भाग्य सबसे नीचे गिर चुका था। किन्तु वारेन हेस्टिंग्स ने बड़ी दृढ़ता से काम लिया और उसने बंगाल से एक बड़ी सेना सर आयर कूट के नेतृत्व में मद्रास भेजी। उसने कूटनीति का भी सहारा लिया। भौसले तथा सिन्धिया को मैसूर की सहायता न करने के लिए सहमत कर लिया तथा निजाम को गन्टूर का जिला देकर उसे भी हैदर अली से पृथक कर दिया परिणामस्वरूप अंग्रेजों के विरूद्ध अब हैदर अकेला ही रह गया।

जुलाई 1781 ई. में अंग्रेजी सेनाध्यक्ष सर आयरकूट अवश्य हैदर अली को पोर्टोनोवा के स्थान पर हराया किन्तु कूट को इस सफलता से कोई लाभ प्राप्त नहीं हुआ। युद्ध स्थल से एक भी तोप नहीं मिल सकी। कूट के पास घोड़े नहीं थे इसलिए वह हैदर अली का पीछा नही कर सका। उसने स्वयं लिखा कि उसकी स्थिति विजय की अपेक्षा पराजित सेना की सी थी। इसी समय कर्नल पीयर्स के नेतृत्व में एक अन्य सेना बंगाल से आ गयी। इन दोनों सेनाओं ने पोलीलूर के युद्ध में हैदर अली का मुकाबला किया, किन्तु इस युद्ध में कोई निर्णय नहीं हुआ। सितम्बर 1781 में आयरकूट ने हैदर अली को सोलिंगपुर के युद्ध में परास्त किया और नवम्बर में अंग्रेजों ने नीगापट्टम पर अधिकार कर लिया। परन्तु इसके पश्चात् अंग्रेजों की हार होनी आरम्भ हो गई। सन् 1782 के आरम्भ में ही एडमिरल सफरिन के नेतृत्व में फ्रांसीसियों ने कुडालोर और त्रिनोपाली के बन्दरगाहों पर अधिकार कर लिया और आयरकूट का अनी पर अधिकार करने का प्रयास तथा बम्बई सरकार का मालाबार पर आक्रमण का प्रयत्न विफल रहा। वर्षा आरम्भ होने से युद्ध शिथिल पड़ गया। अंग्रेज मद्रास चले गये, फ्रांसीसी कुडालोर में तथा हैदरअली अकार्ट के निकट पड़ा रहा। ऐसी ही स्थिति में 7 दिसम्बर 1782 को केन्सर से हैदरअली की मृत्यु हो गयी।

हैदरअली की मृत्यु से द्वितीय मैसूर युद्ध समाप्त नहीं हुआ बल्कि उसका बेटा टीपू सुल्तान उससे भी अधिक महत्वाकांक्षी साबित हुआ और उसने युद्ध जारी रखा। उसने बम्बई सरकार द्वारा भेजे गए ब्रिगेडियर मैथ्यूज को न केवल मंगलोर और बदनौर पर आक्रमण करने से ही रोक दिया बल्कि उसे बहुत से सेनिकों के साथ कैद कर लिया। परन्तु इसी समय यूरोप में फ्राँस तथा ब्रिटेन के मध्य पेरिस की संधि (1783) हो गयी तथा फ्रांसीसी इस संघर्ष से अलग हो गये। यह टीपू के लिए हानिकारक था। 1783 में अंग्रेजों को पुनः सफलता मिली। अंग्रेजों के पाल घाट तथा कोयम्बटूर पर अधिकार कर लिया किन्तु जब कर्नल फुलर्टन मैसूर की राजधानी श्रीरंगपट्टम् की ओर बढ़ रहा था तभी उसे मद्रास सरकार ने वापस बुला लिया क्योंकि आर्थिक संसाधनों की अत्यधिक कमी के कारण मद्रास का गवर्नर मैकार्टने संधि के लिए उत्सुक था। इधर फ्रांसीसी यूरोप में अंग्रेजों से समझौता कर चुके थे, मराठों तथा अंग्रेजों

में साल्बाई की संधि हो गयी थी और निजाम भी अंग्रेजों की ओर जा मिला था इसीलिए अकेले संघर्षरत टीपू ने भी अंग्रेजों से संधि करना उचित समझा परिणामस्वरूप दोनों पक्षों में मंगलोर की संधि हो गयी।

नोट

2.4.2 मंगलोर की सन्धि (मार्च 1764) और युद्ध की समाप्ति

आरम्भ में वारेन हैस्टिंग्स मद्रास सरकार के इस प्रस्ताव से सहमत नहीं था कि टीपू के साथ एक अलग संधि की जाए लेकिन संचालक समिति के युद्ध समाप्ति के आदेश के बाद बंगाल सरकार के सामने कोई विकल्प नहीं रह गया अत: मार्च 1784 ई. में दोनों पक्षों के बीच मंगलोर की संधि हुई। इस संधि के अनुसार दोनों पक्षों ने एक दूसरे के जीते हुए प्रदेश लौटा दिए तथा टीपू ने अंग्रेज बंदियों को छोड़ दिया। यह संधि टीपू के लिए एक प्रकार से कूटनीति सफलता थी क्योंकि वह अंग्रेजों के साथ पृथक और मराठों की सर्वोच्चता स्वीकार करने का सफल विरोध कर सका था। उसने अपने राज्य में अंग्रेजों को कोई व्यापारिक अधिकार प्रदान नहीं किए। वारेन हैस्टिंग्स संधि से बिल्कुल भी सन्तुष्ट नहीं था और इंग्लैण्ड में बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल ने युद्ध के पुन: आरम्भ होने के बुरे परिणाम को सोचकर संधि को स्वीकार कर लिया था। वस्तुत: मद्रास सरकार और टीपू दोनों उस समय युद्ध से तंग आ चुके थे और थोड़ा समय शांति के लिए चाहते थे अत: निश्चित था कि दोनों पक्ष एक बार फिर आमने-सामने होगें।

2.5 तृतीय आंग्ल-मैसूर युद्ध (1790-92) के कारण

अंग्रेजी साम्राज्यवादी परम्परा के अनुकूल, मंगलोर की संधि को अंग्रेजों ने आने वाले आक्रमण के लिए साँस लेने का समय ही माना और टीपू को भी अंग्रेजों के विरूद्ध युद्ध अवश्यम्भावी प्रतीत होता था। ऐसी स्थिति में युद्ध के लिए निम्नलिखित कारण उत्तरदायी रहे :

1. 1784 के पिट्स इण्डिया अधिनियम में यह स्पष्ट कर दिया गया था कि कम्पनी भारत में कोई नया प्रदेश जीतने का प्रबल नहीं करेगी किन्तु भारत में अंग्रेजों की प्रधानता स्थापित करने के लिए कार्नवालिस यह आवश्यक समझता था कि टीपू को पराजित किया जाए, क्योंकि समकालीन भारतीय शासकों में टीपू सबसे अधिक योग्य, शक्तिशाली था तथा उसका राज्य भी सम्पन्न था। कार्नवालिस ने मालाबार को बड़ी लालच भरी दृष्टि से देखा तथा इन प्रदेशों को अमरीकी उपनिवेशों का उचित मुआवजा समझा।
2. टीपू ने भी अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध को अवश्यम्भावी मानते हुए अपनी स्थिति को दृढ़ करने के लिए उसने जुलाई 1787 में एक राजदूत मण्डल फ्राँस भेजा था तथा उसी वर्ष दूसरा राजदूत मण्डल टर्की के सुल्तान के यहाँ भेजा। यद्यपि दोनों स्थानों पर इन मण्डलों का अच्छा स्वागत हुआ किन्तु आश्वासन के अलावा कोई विशेष भौतिक सहायता उसे फर्ज नहीं हो सकी। उसके इन कार्यो का अर्थ कार्नवालिस ने यह लिया कि टीपू अंग्रेजों की शक्ति को नष्ट करने के लिए कृत संकल्प था। यद्यपि सीक्रेट कमेटी ने लन्दन से जुलाई 1788 ई. में लिखा था कि फ्राँस सरकार ने ब्रिटेने के विरूद्ध ना तो कोई संधि की और ना ही किसी का विचार था। कमेटी ने यह भी आश्वासन दिया कि इंग्लैण्ड सरकार टीपू के दूत पर निगरानी रखेगी। इसके बावजूद टीपू द्वारा फ्राँस में दूत भेजने के कार्य को ब्रिटिश विरोधी मना गया।

नोट

3. ट्रावनकोर पर टीपू द्वारा किया गया आक्रमण भी दोनों पक्षों में झगड़े का कारण बना। हैदर अली के समय से ही कालीकट तथा ट्रावनकोर के मध्य कोचीन पर उसका आधिपत्य बढ़ गया था। कोचिन के क्षेत्र में 40 मील लम्बी ट्रावनकोर लाइंस थी जो ट्रावनकोर की उत्तरी आक्रमण से रक्षा के लिए महत्वपूर्ण थी। इस रेखा तक पहुँचने का मार्ग दो से नियंत्रित था – कांगनूर और आइकोटा। ये दोनों दुर्ग डच नियंत्रण में थे। टीपू के बढ़ई हुए प्रभुत्व को रोकने के लिए ट्रावनकोर के शासक ने इन दोनों दुर्गा को डच गवर्नर से खरीद लिया जबकि टीपू स्वयं उन्हें खरीदना चाहता था। कोचीन रियासत को अपने अधीन मानने के कारण टीपू ने ट्रावनकोर के शासक के इस कार्य को अपनी सत्ता में हस्तक्षेप मानते हुए उसने अप्रैल 1790 में ट्रावनकोर पर आक्रमण कर दिया। अंग्रेजों ने, जो इस युद्ध के लिए पहले से ही उद्यत बैठे थे ट्रावनकोर के राजा का पक्ष लिया क्योंकि 1784 में दोनों पक्षों के बीच इस आशय की संधि हुई थी। यद्यपि अंग्रेजों की अनुमति के बिना ट्रावनकोर द्वारा दुर्गों को खरी. दना स्वयं कार्नवालिस ने अनुचित माना था फिर भी उसने टीपू के कार्य को युद्ध का कार्य समझा।

4. मैसूर पर आक्रमण करने से पहले कार्नवालिस ने इस बात की भी व्यवस्था की कि मराठे या किसी कारण टीपू का साथ देने को तैयार न हो जाये। कार्नवालिस और टीपू में युद्ध कहीं तक ट्रावनकोर के प्रश्न के फलस्वरूप हुआ था, यह इस बात से भी स्पष्ट होता हैं कि कार्नवालिस ने मराठों और निजाम से टीपू के विरुद्ध युद्ध के लिए अक्टूबर 1788 में ही वार्ता आरम्भ कर दी थी और अन्ततः इस युद्ध से ट्रावनकोर को कोई लाभ भी नहीं हुआ था। दो वर्षों के निरन्तर प्रयास के बाद ही मैलेट तथा कोनावे (पूना तथा हैदराबाद में अंग्रेज प्रतिनिधि) मराठों तथा निजाम के साथ क्रमशः समझौता कर सकें। मराठों का संदेह दूर करने के लिए कार्नवालिस ने बम्बई की सैनिक टुकड़ी को मराठा सेनाध्यक्ष के नियंत्रण में रखना स्वीकार किया। 01 जून 1790 ई. को मराठों के साथ तथा 4 जुलाई 1790 ई. को निजाम के साथ अंग्रेजों ने मैत्री संधि कर ली जिनके अनुसार मराठा तथा निजाम दोनों ने टीपू के विरुद्ध युद्ध में अंग्रेजों की सैनिक टुकड़ियों के साथ सहायता करने का वादा किया। अंग्रेजों ने युद्ध में जीते गए क्षेत्रों को आपस में बाँटने का आश्वासन दिया। यद्यपि निजाम तथा मराठों ने अंग्रेजों की बहुत कम सहायता की तथा युद्ध का अधिकांश भार अंग्रेजों पर ही रहा परन्तु इससे मराठों तथा निजाम के टीपू के साथ जा मिलने की सम्भावना को खत्म कर दिया गया। इस प्रकार टीपू के आक्रमण को आरम्भ में ही रोका जा सकता था क्योंकि इन राज्यों के साथ अंग्रेजों के मेत्री सम्बन्ध थे इस प्रकार टीपू के लिए राज्य विस्तार अत्यन्त कठिन हो गया था। उसे फ्राँस से भी काई सहायता प्राप्त नहीं हो सकी क्योंकि एक वर्ष पहले ही फ्राँस में जनक्रांति प्रारम्भ हो चुकी थी।

2.5.1 युद्ध के कारण और घटनाएँ

अप्रैल 1790 ई. में टीपू द्वारा ट्रावनकोर पर आक्रमण के बाद कार्नवालिस ने एक बड़ी सेना की सहायता से मद्रास के गवर्नर मिडोज के नेतृत्व में मैसूर पर आक्रमण का निर्णय लिया किन्तु यह अभियान पूर्णतः विफल रहा। इस असफलता के पश्चात् कार्नवालिस ने इँडास को

लिखा था - ''युद्ध की शीघ्र और सफल समाप्ति की मधुर आशा अब कुछ धुंधली हो गयी है। हम समय खो चुके हैं और शत्रु ने प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली है।''

कार्नवालिस ने टीपू को आशा से अधिक शक्तिशाली पाया और इसलिए उसे स्वयं मद्रास पहुंचने और सेना का नेतृत्व सम्भालने के लिए विवश होना पड़ा। कार्नवालिस ने वैलोर और अम्बर की ओर से बंगलौर की ओर बढ़ना शुरू किया और मार्च 1791 ई. में बंगलौर पर अधिकार कर लिया। मई तक अंग्रेजी सेनाएं श्रीरंगपट्टम से एक मील दूर रह गयी थी परन्तु टीपू ने इस समय बहुत साहस और कुशल सेनापतित्व का परिचय दिया। कुछ वर्षा ऋतु के आरम्भ होने से, अंग्रेजी सेना में बीमारी फैल जाने तथा खादय सामग्री के कम हो जाने से कार्नवालिस को पीछे हट जाना पड़ा।

नोट

कार्नवालिस की इस असफलता को देखकर इंग्लैण्ड में उसकी नीति की आलोचना होने लगी। युद्ध को अनावश्यक, अनुचित तथा मराठों एवं निजाम के साथ की गयी संधियों को 1784 ई. के ऐक्ट के विपरीत बताया गया। इससे कार्नवालिस बहुत क्रुद्ध हुआ। उसे यह विश्वास था कि टीपू के साधन तथा सैनिक शक्ति बहुत कम हो चुकी थी और यदि मराठे तथा निजाम अंग्रेजों का साथ देते रहे तो टीपू को शीघ्र ही संधि की याचना करनी पड़ेगी। वर्षा ऋतु की समाप्ति के बाद नवम्बर 1791 में कार्नवालिस ने पुनः टीपू के विरूद्ध सैनिक अभियान आरम्भ किया। फरवरी 1792 में कार्नवालिस ने श्रीरंगपट्टम पर घेरा डाला। टीपू ने अत्यन्त कुशल सैन्य संचालन का परिचय दिया किन्तु अंग्रेजी सेनाएँ श्रीरंगपट्टम के किले की दीवार तक आ पहुँची। हताश होकर टीपू को संधि की बातचीत आरम्भ करनी पड़ी और मार्च 1792 में संधि हो गयी।

2.5.2 श्रीरंगपट्टम की सन्धि (मार्च 1792) और युद्ध की समाप्ति

जनवारी 1792 ई. में टीपू ने संधि वार्ता आरम्भ कर दी थी लेकिन कार्नवालिस टीपू को निर्णायक रूप से हराना चाहता था इसलिए श्रीरंगपट्टम की जीत निश्चित होने के बाद ही मार्च 1792 में संधि हो गयी। इस संधि के अनुसार :

1. टीपू का लगभग आधा राज्य उससे छीन लिया गया। अधिकांश भाग अंग्रेजों को प्राप्त हुआ जिसमें मलाबार, दक्षिण में डिण्डीगुल तथा उसके समीप के सभी जिले, पूर्व में बारामहल और आसपास के सभी पहाड़ी मार्ग शामिल थे जिससे उनके राज्य का विस्तार ही नहीं हुआ बल्कि उन्हें मैसूर में सैनिक और राजनीतिक, महत्व के स्थान भी प्राप्त हुए। मराठों को तुंगभद्रा नदी के उत्तर का भाग मिला और निजाम को पन्नार तथा कृष्णा नदी के बीच का भाग मिला।
2. टीपू को 4 करोड़ रूपये युद्ध के हरजाने के रूप में देने पड़े।
3. अंग्रेजों को कुर्ग के राजा पर आधिपत्य प्राप्त हुआ।
4. जब तक हरजाना न चुका दिया जाए, टीपू के दो पुत्र अंग्रेजों के पास बंधक के रूप में रखे गये।

इस संधि से मैसूर राज्य की आर्थिक सम्पन्नता तथा सुरक्षात्मक व्यवस्था विच्छिन्न हो गयी थी। बारामहल, कुर्ग तथा मालाबार के निकल जाने से मैसूर की प्राकृतिक सुरक्षा व्यवस्था समाप्त प्राय हो गयी। ऐसी स्थिति में टीपू विशाल सेना का भार सहन नहीं कर सकता था। अन्ततः मैसूर की अंग्रेजों के विरूद्ध सफलता असम्भव हो गयी।

नोट

कई इतिहासकारों, विशेषकर मुनरों तथा थार्नटन ने कार्नवालिस की इस नीति की तीव्र आलोचना की है कि उसने पूर्ण सफलता प्राप्त करने के बावजूद मैसूर राज्य को ही समाप्त क्यों नहीं किया। किन्तु कार्नवालिस के लिए ऐसा करना सम्भव नहीं था। कार्नवालिस का टीपू की राजधानी पर अधिकार नहीं हुआ था। उधर, महादजी सिंधिया उत्तर भारत से पूना की ओर चल चुका था और वह मराठा सेना की अंग्रेज समर्थक नीति के पक्ष में नहीं था। इसलिए कार्नवालिस को टीपू के साथ युद्ध शीघ्र ही समाप्त करना आवश्यक हो गया। तीसरे, यूरोप में फ्राँस तथा इंग्लैण्ड में आरम्भ होने की पूरी सम्भावना थी और ऐसी स्थिति में टीपू को फ्रांस की सैनिक सहायता प्राप्त हो सकती थी। साथ ही कम्पनी को प्राप्त इंग्लैण्ड की सैनिक सहायता हो सकती थी। चौथा किन्तु सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण यह था कि यदि मैसूर राज्य को पूरी तरह समाप्त कर दिया जाता तब उसके भूभाग को तीनों पक्षों अंग्रेजों, मराठों तथा निजाम में समान रूप से बाँटना पड़ता जिससे मराठे बहुत अधिक शक्तिशाली हो सकते थे। कार्नवालिस यह नहीं चाहता था। उसने अपनी इस कूटनीतिक सफलता को इस प्रकार वर्णित किया है – ''हमने युद्ध को इतनी लाभदायक शर्तो पर समाप्त किया है जितनी कोई आशा कर सकता था। हमने अपने मित्रों को अधिक शक्तिशाली बनाये बिना ही अपने शत्रु को प्रभावशाली ढंग से पंगु बना दिया है।''

2.6 चतुर्थ आंग्ल-मैसूर युद्ध (1799) के कारण

भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की नीति का मुख्य अंग साम्राज्य विस्तार के लिए युद्ध लड़ना था और फिर युद्ध के लिए अपने आप को तैयार करने के लिए शांति की नीति अपनाना था। उधर तृतीय मैसूर युद्ध में शीघ्र ही अंग्रेज तथा टीपू पुनः युद्ध में उलझ गये जिसके निम्नलिखित कारण थे :

1. टीपू अपनी पराजय को स्वीकार नहीं कर पा रहा था इसलिए श्रीरंगपट्टम की संधि के बाद वह पुनः अपनी स्थिति को मजबूत करने में लग गया। उसने अपने किले की किलेबन्दी मजबूत करना आरम्भ किया, अपनी घुड़सवार तथा पैदल सेना की संख्या तथा प्रशिक्षण उन्नत किया, विद्रोही सरदारों को दबाया तथा कृषि अवस्था को उन्नत करने का प्रयास किया। 1796 में मैसूर के नाममात्र के राजा की मृत्यु के बाद टीपू ने उसके अल्पवयस्क पुत्र को नाममात्र का शासक भी नहीं बनाया। इस प्रकार अपनी आन्तरिक स्थिति को संभालने के प्रयास के बाद उसने अपने पृथक अस्ति. त्व को सुरक्षित रखने के लिए उसने फ्राँस तथा अफगानिस्तान से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया। इसी क्रम में टीपू तथा फ्राँसीसी द्वीप मॉरिशस के गवर्नर मेलार्टिक के मध्य पत्र व्यवहार हुआ था। इसके बाद में टीपू ने अपने प्रति. निधी मॉरिशस भेजे जिनका मेलार्टिक ने नागरिक अभिनन्दन किया। उसने मॉरिशस के फ्रांसीसी नागरिकों से टीपू की सैनिक सहायता करने का अनुरोध किया, जिसके परिणामस्वरूप 99 व्यक्ति अप्रैल 1798 को मंगलौर पहुँचे। इन्होने मैसूर में स्वतंत्रता के वृक्ष को आरोपित किया। इसके अलावा अरब, काबुल तथा टर्की में भी टीपू ने अपने दूत भेजे। मॉरिशस के फ्राँसीसी गवर्नर ने टीपू को मैसूर का सुल्तान स्वीकार किया। टीपू की इन समस्त गतिविधियों को अंग्रेजविरोधीमाना गया।
2. में लॉर्ड वेलेजली भारत का गवर्नर जनरल बनकर आया जो साम्राज्यवादी नीति का प्रबल पक्षधर था और उसकी आक्रामक नीति ही चतुर्थ आंग्ल मैसूर युद्ध के लिए

मुख्य रूप से जिम्मेदार थी। टीपू के फ्रांसीसियों से सम्बन्धों को वेलेजली ने अंग्रेजों के प्रति शत्रुता पूर्ण कार्य माना। टीपू द्वारा मैसूर में 99 फ्रांसीसियों के सार्वजनिक सम्मान किये जाने को वेलेजली ने जुलाई 1798 में ही युद्ध की घोषणा के समान माना था। अपने 12 अगस्त 1798 ई. के आलेख में उसने कहा था कि टीपू के राज्य में फ्रांसीसी सैनिकों का स्वागत एक स्पष्ट असंदिग्ध तथा निश्चित युद्ध की घोषणा के समान है। वह उस समय भी टीपू पर आक्रमण करने के लिए तैयार था किन्तु सैनिक तैयारी में कुछ कमी के कारण उसे अभियान की शीघ्र सफलता में विश्वास नहीं था इसलिए उसने तुरन्त आक्रमण नहीं किया।

नोट

3. वेलेजली ने दृढ़ निश्चय किया था कि या तो टीपू को पूर्णतया समाप्त कर दिया जाये अथवा उसे पूर्णतया अंग्रेजों के अधीन कर लिया जाए। वह पहले टीपू के तटीय प्रदेशों को नियंत्रण में कर लेना चाहता था। उसने इस बात का भी प्रयत्न किया कि वह मराठों तथा निजाम के साथ उस त्रिगुट को पुनः टीपू के विरूद्ध स्थापित करे जिसे कार्नवालिस ने बनाया था। सितम्बर 1798 में सहायक संधि स्वीकार करके निजाम अंग्रेजों का मित्र बन गया। मराठों ने वेलेजली को कोई स्पष्ट उत्तर नहीं दिया। फिर भी अपने पक्ष को मजबूत करने के लिए वेलेजली ने अपनी ओर से मैसूर के जीते हुए क्षेत्रों में से आधे पेशवा को देने की पेशकश की। इस प्रकार दक्षिण में अपनी स्थिति को दृढ़ करने के बाद वेलेजली ने आक्रमण की तैयारी आरम्भ कर दी।

2.6.1 युद्ध का आरम्भ और घटनाएँ

टीपू पर आक्रमण की योजना उसके फ्राँस से मैत्री या मेलार्टिक की घोषणाओं की अपेक्षा केवल वेलेजली की अपनी सैनिक तैयारी पर निर्भर करती थी अतः तैयारी पूर्ण होते ही मैसूर पर आक्रमण का निर्णय ले लिया गया।

जनरल हैरिस और आर्थर वेलेजली के नेतृत्व में एक सेना ने फरवरी 1799 में वैलोर से चलकर मार्च 1799 में मैसूर पर आक्रमण कर दिया। पश्चिम से एक दूसरी सेना ने जनरल स्टुअर्ट के नेतृत्व में मैसूर पर आक्रमण किया। जनरल स्टुअर्ट ने टीपू को सीदासीर और जनरल हैरिस ने टीपू को मालवेली के युद्ध में परास्त किया। अब टीपू को श्रीरंगपट्टम के किले में शरण लेने के लिए बाध्य होना पड़ा। 17 अप्रैल 1799 को श्रीरंगपट्टम का घेरा डाल दिया गया ओर 4 मई 1799 को उस पर अधिकार कर लिया गया। टीपू अपने किले पर युद्ध करते हुए मारा गया और उसके बेटों ने अंग्रेजों के समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया। टीपू की राजधानी श्रीरंगपट्टम अंग्रेजी सेना के नियंत्रण में चली गयी। टीपू ने राजमहल तथा समस्त नगर को सेना ने खुले रूप से लूटा तथा विभिन्न स्थानों को जलाया। यह लूट 5 मई को सुबह आरम्भ हुई और 6 मई तक मकान जलते रहे। इस लूट में टीपू का पुस्तकालय मी था जिसमें 2 हजार से अधिक पाण्डुलिपियाँ थी। इनमें से अधिकांश या तो लूट ली गई या जला दी गई। लूट का आधा माल अंग्रेजी सेना में बाँटा गया। टीपू का समस्त राज्य क्षेत्र अंग्रेजों के नियंत्रण में चला गया।

2.6.2 मैसूर का राजनीतिक निर्णय

मैसूर राज्य की निर्णायक पराजय के बाद वेलेजली समस्त मैसूर राज्य को ब्रिटिश साम्राज्य में मिला सकता था किन्तु उसने, ऐसा नहीं किया क्योंकि ऐसा करने पर उसे आधा राज्य

नोट

पूर्व शर्त के अनुसार निजाम को देना पड़ता और इससे निजाम के बढ़ते राजनीतिक प्रभाव से मराठों के भी असंतुष्ट होने की सम्भावना थी। टीपू के वंशजों को मैसूर की राजगद्दी सौंपना भी वेलेजली की निगाह में कूटनीतिज्ञ रूप से उचित नहीं था अत: वेलेजली ने उपरोक्त सभी राजनीजिक समस्याओं का समाधान करने के लिए ऐसा मध्य मार्ग अपनाया जिसके परिणामस्वरूप मैसूर राज्य को बनाये रखते हुए निजाम को भी कुछ क्षेत्र दिये गए और साथ ही कम्पनी के राजनीतिक हितों को पूरी तरह सुरखित रख लिया गया। इस निर्णय के अनुसार :

1. मैसूर का एक- छोटा सा राज्य स्थापित किया गया जिसका शासक पुराने चले आ रहे वाडियारवंश के दो वर्षीय कृष्णराजा को बनाया गया। उसके साथ अंग्रेजों ने सहायक संधि कर ली, जिसके अनुसार मैसूर राज्य को उसकी सुरक्षा के लिए रखी गयी ब्रिटिश सेना का खर्च देना पड़ा। यह भी घोषणा की गई कि आवश्यकता पड़ने पर कम्पनी कभी भी नये मैसूर राज्य के प्रशासन को अपने हाथ में ले सकती थी। इस अवस्था के परिणामस्वरूप मैसूर के समस्त संसाधन अंग्रेजों के उपयोग के लिए उपलब्ध हो गये तथा कम्पनी पर राज्य विलय तथा साम्राज्य के अत्यधिक विस्तार का आरोप भी नहीं लगाया जा सकता था।
2. निजाम को उत्तर पूर्व में अपनी सीमाओं के निकट का भूभाग प्राप्त हुआ जिसमें गूटी, गुरूमकोण्डा और उसके किले को छोड़कर चित्तलदुर्ग के किले सम्मिलित थे।
3. मराठा पेशवा द्वारा अंग्रेजों के साथ सहायक संधि कर लेने की शर्त पर मैसूर राज्य के कुछ क्षेत्र मराठों को भी देने का प्रस्ताव किया गया किन्तु मराठों ने यह प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया अत: यह क्षेत्र भी कम्पनी तथा निजाम के मध्य बाँट लिया गया। अंग्रेजों ने पश्चिम कनारा, दक्षिण में काइनाद कोयम्बटूर तथा दारापुरम के जिले तथा श्रीरंगपट्टम को सम्मिलित करते हुए मैसूर का समस्त पश्चिमी समुद्र तट तथा दक्षिण ाी पूर्व का कुछ भाग अपने अधिकार में ले लिया। इन क्षेत्रों के अंग्रेजी नियंत्रण में आने से एक लाभ तो यह हुआ कि दक्षिण भारत में ब्रिटिश साम्राज्य पश्चिम पूर्व तक फैल गया। मैसूर राज्य तीन ओर से ब्रिटिश सीमाओं से घिर गया और दूसरे, उत्तर में भी अधिकांश सीमा निजाम के क्षेत्र से मिलती थी जो अंग्रेजों के साथ पहले ही सहायक संधि कर चुका था और बाद में निजाम ने सेना के खर्च के बदले में यह क्षेत्र भी अंग्रेजों को दे दिया।

इस प्रकार वेलेजली ने दक्षिण भारत में एक प्रभावशाली भारतीय चुनौती को समाप्त कर दिया जिसकी इंग्लैण्ड में भी बहुत प्रशंसा हुई तथा वेलेजली को मारक्वेस का एक पद दिया गया। डीन हटन ने मैसूर विजय के सम्बन्ध में कहा है कि ''सैनिक, आर्थिक और शांति स्थापना की दृष्टि से मैसूर की विजय, क्लाइव के काल के बाद, अंग्रेजी शक्ति की सबसे महत्वपूर्ण विजय थी।''

2.7 अंग्रेजों के विरुद्ध टीपू की असफलता के कारण

18वीं शताब्दी में मुगल साम्राज्य के विघटन के बाद भारतीय राजनीति में अव्यवस्था, अराजकता तथा अवसरवादिता के दौर में दक्षिण में एक ऐसे छोटे से राज्य का उत्कर्ष हुआ था जिसे आन्तरिक तथा बाह्य दृष्टि से सुशासित तथा सशक्तिकरण की ओर अग्रसर कहा जा

सकता है। हैदरअली के नेतृत्व में उदित मैसूर राज्य ने न केवल ब्रिटिश सत्ता को सशक्त चुनौती दी अपितु उसके बाद उसके पुत्र ने इस संघर्ष को अनवरत आगे बढ़ाया। टीपू ने सेना, व्यापार, वाणिज्य मुद्रा, ऋण व्यवस्था, कानून व्यवस्था आदि के क्षेत्र में इतने सुधार किये कि मिल के अनुसार – "आन्तरिक शासन की दृष्टि से उसकी तुलना पूर्व के किसी भी महान शासक से ही की जा सकती है।" टीपू ने जितने कुशल प्रशासन का परिचय दिया वह उतना ही बीर, साहसी तथा सैनिक गुणों से परिपूर्ण था। जब भारतीय राज्यों के विभिन्न शासक शक्तिशाली अंग्रेज सत्ता के सामने छुटपुट संघर्ष अथवा बिना संघर्ष के ही हथियार डाल रहे थे, कम्पनी की सत्ता को स्वीकार कर रहे थे ऐसे समय में टीपू ने वेलेजली की संधि के निमंत्रण को अस्वीकार करते हुए स्वाभिमान से संघर्ष किया। किन्तु अन्ततः इस संघर्ष में टीपू को निर्णायक असफलता हाथ लगी। उसकी इस विफलता के संदर्भ में विल्क्स का कहना है कि ''हैदर राज्य बनाने के लिए जन्मा था और टीपू उसे खोने के लिए।'' यह सत्य है। कि व्यक्तिगत योग्यता के आधार पर हैदरअली ने जिस राज्य का निर्माण किया था टीपू के लगातार संघर्ष के बावजूद वह अंग्रेजी साम्राज्यवादी नीति का शिकार हो गया। किन्तु इसके लिए केवल टीपू को व्यक्तिगतरूप से उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। उसकी पराजय के लिए तत्कालीन परिस्थितियाँ तथा घटनाएँ उत्तरदायी थी। वस्तुतः टीपू की असफलता के लिए निम्न कारकों को प्रमुख माना जा सकता है।

1. दक्षिणी शक्तियों में परस्पर प्रतिन्दिता तथा ईर्ष्या होते हुए भी पहले तथा दूसरे मैसूर युद्ध में हैदरअली अंग्रेजों के विरुद्ध मराठा तथा निजाम को अपने साथ कर पाया था इसलिए हैदर अली मरते दम तक अंग्रेजों के विरूद्ध असफल नहीं रहा। किन्तु टीपू इस प्रकार की कूटनीतिक दक्षता का परिचय नहीं दे सका। टीपू ने दक्षिण में मैसूर राज्य को मित्रविहीन कर लिया था। यद्यपि तीनों दक्षिणी शक्तियों में परस्पर शत्रुता बहुत अधिक थी। किन्तु उनमें अल्पकालीन सहयोग असम्भव नहीं था। टीपू के पूना तथा हैदराबाद स्थित दूत मराठों तथा निजाम को अंग्रेजों से अलग करने में असफल रहे। इस प्रकार टीपू अकेला अंग्रेजों मराठों तथा निजाम के विरुद्ध लड़ता रहा अतः वह असफल रहा।
2. उसकी कूटनीतिक अयोग्यता इस तथ्य में भी जाहिर होती है कि भौगोलिक दृष्टि से सहज उपलब्ध दक्षिण शक्तियों की सहायता के बजाय टीपू ने भारत से बाहर की शक्तियों से सहायता प्राप्त करने का निरर्थक प्रयास किया। फ्राँस ब्रिटेन का शत्रु होने के कारण टीपू का सहायक हो सकता था किन्तु वह यह नहीं समझ पाया कि 1790 के दशक में फ्राँस स्वयं क्रान्तिजनित राजनीतिक अनिश्चितता के दौर से गुजर रहा था। तृतीय मैसूर युद्ध के दौरान इसीलिए टीपू को फ्राँस की भौतिक सहायता नहीं मिल सकी, यद्यपि फ्राँस का झुकाव टीपू की ओर था। टीपू द्वारा फ्राँस में अपना दूत भेजने का एक अन्य कूटनीतिक नुकसान यह हुआ कि इससे अंग्रेजों को मैसूर के विरुद्ध युद्ध का ऐसा बहाना मिला कि उन्होंने इसे अपनी साम्राज्यवादी नीति को औचित्य प्रदान करने का आधार बनाया।
3. वीर, साहसी तथा कुशल सेनापति होते हुए भी टीपू ने सैनिक दृष्टि से एक भूल की। उसने अपनी घुड़सवार सेना की अपेक्षा प्रशिक्षित पैदल सेना तथा किलेबन्दी पर अधिक बल दिया परिणामस्वरूप उसकी युद्ध नीति आक्रमणात्मक होने के स्थान पर

स्वरक्षामक हो गयी। टीपू आरम्भ में भी अंग्रेजों के सम्पन्न क्षेत्र कर्नाटक पर आक्रमण नहीं कर सका। वह पश्चिम घाट पर अथवा मध्य मैसूर में घिरा रहा। दुर्ग में घिर कर अंग्रेजों की सैनिक शक्ति का मुकाबला नहीं किया जा सकता था।

नोट

4. टीपू के सैनिक नेतृत्व की एक अन्य कमी यह थी कि वह कार्नवालिस की 1790-91 ई. की असफलताओं से लाभ नहीं उठा सका था। यदि हैदर की भाँति टीपू ने भी मद्रास अथवा कर्नाटक पर आक्रमण कर दिया होता तो अंग्रेजी सेना के लिए सफल होना इतना आसान नहीं होता।

5. तृतीय मैसूर युद्ध में पराजय के बाद टीपू का आधा राज्य चला गया था। यद्यपि इस युद्ध में पराजय के बाद भी टीपू में पराजय के प्रति शोध की आग जलती रही जिसके कारण उसने अपना समस्त ध्यान सैनिक संगठन तथा विदेशी सहायता की प्राप्ति में लगाया किन्तु अब उसकी आर्थिक तथा राजनीतिक स्थिति इतनी दुर्बल हो गयी थी कि केवल इच्छाशक्ति के आधार पर अंग्रेजी कम्पनी जैसी बड़ी ताकत से लोहा नहीं लिया जा सकता था।

6. टीपू की पराजय के लिए एक महत्त्वपूर्ण कारण उच्च अधिकारियों द्वारा विश्वासघात किया जाना था। इनमें सैयद साहब पूर्निया, कमरूद्दीन और मीर सादिक प्रमुख थे। पहले तीन अधिकारी सेना संचालक थे, मीर सादिक वित्त मंत्री था और सैयद साहब स्वयं श्रीरंगपट्टम में युद्ध करते हुए मारा गया। मीर सादिक वह व्यक्ति था जिसने अंग्रेजों को श्रीरंगपट्टम पर आक्रमण का उचित अवसर बताया और टीपू के दुर्ग से भाग निकलने का द्वार बन्द करवा दिया। पूर्निया पर सन्देह का मुख्य आधार यह है कि अंग्रेजों ने विश्वासघात के बदले में उसे नये राज्य का दीवान बनाया था।

7. अन्ततः टीपू दक्षिण भारत के एक छोटे राज्य का शासक था और यह राज्य चाहे जितना सशक्त हो उसका साक्षात्कार एक ऐसे विरोधी से था जिसमें सारे भारत को रौंद डालने की क्षमता थी। अंग्रेज भारत ही नहीं सारे यूरोप में सर्वश्रेष्ठ नौ सैनिक शक्ति से सम्पन्न थे। यद्यपि हैदर अली तथा टीपू दोनों ने नौसेना के महत्व को समझा किन्तु अपने प्रमुख प्रतिद्वंदी ईस्ट इण्डिया कम्पनी के स्तर को वे न प्राप्त कर सकते थे और ना ही कर सके। हैदर अली ने जो भी युद्धपोत बनाये थे वे सभी एडबईहूज ने पहले ही 1780 में मंगलोर पर आक्रमण के समय नष्ट कर दिये थे। जब तृतीय आंग्ल-मैसूर युद्ध में अंग्रेजों ने टीपू के अधीन मलाबार तट के प्रदेशों पर अधिकार कर लिया तो सुल्तान के लिए जल सेना का महत्व और भी बढ़ गया किन्तु उसके साधन अंग्रेजों के साधन से बहुत कम थे। इस तथ्य को स्वीकार करते हुए स्वयं टीपू ने कहा था कि श्मै अंग्रेजों के स्थल साधनों को तो समाप्त कर सकता हूँ परन्तु मैं समुद्र को तो नहीं सुखा सकता।

इस प्रकार अंग्रेजों के विरूद्ध टीपू की असफलता के लिए अनेक कारण उत्तरदायी थे। निःसन्देह उसकी असफलता ने भी भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का मार्ग प्रशस्त किया किन्तु टीपू के संघर्ष का औचित्य उसकी सफलता अथवा असफलता में न होकर इस तथ्य में निहित है कि उसने पाश्चात्य साम्राज्यवाद की गाड़ी में बैठकर निर्जीव जीवन व्यतीत करने के स्थान पर संघर्ष करते हुए मृत्यु का आलिंगन करना श्रेयस्कर समझा।

नोट

2.8 सारांश

इस इकाई में आपने ईस्ट इण्डिया कम्पनी की साम्राज्य विस्तारवादी नीति के क्रम में लड़े गये आंग्ल-मैसूर युद्धों की श्रृंखला का अध्ययन किया। आपने देखा कि किस प्रकार कम्पनी के अधिकारियों ने दक्षिण भारत की राजनीति में अपना हस्तक्षेप बढ़ाया? फ्रांसीसियों की भारत में निर्णायक पराजय तथा बंगाल की विजय से उत्साहित ब्रिटिश कम्पनी के लिए दक्षिण में सक्रिय भागीदारी का मार्ग प्रशस्त हो गया। दक्षिण भारत की राजनीति में शक्ति संतुलन बनाये रखने की हैसियत से आगे, मैसूर राज्य ने जब अपना प्रभाव बढ़ाने का प्रयास किया तो कम्पनी ने श्फूट डालो, शासन करोश के साम्राज्यवादी यंत्र का उपयोग करते हुए दक्षिणी राज्यों की आपसी शत्रुता का लाभ उठाते हुए हैदर के मैत्री प्रयासों को सफल नहीं होने दिया। इस इकाई में हमने यह भी देखा कि हैदरअली ने युद्ध की आधुनिक यूरोपीय तकनीक को अपनाकर अंग्रेजों को चुनौती दी। हैदरअली के बाद उसके पुत्र टीपू ने अंग्रेजों से संघर्ष जारी रखा। इधर, पिट्स इण्डिया एक्ट के प्रावधानों का उल्लंघन करते हुए कम्पनी ने इस पराजय के बाद मैसूर के राज्य को नाममात्र के लिए जीवित रखा और उसके समस्त महत्त्वपूर्ण सामरिक व्यापारिक, समुद्र तटीय स्थानों पर अंग्रेजों ने अधिकार कर लिया जिससे दक्षिण पश्चिम में अंग्रेजों की स्थिति मजबूत हुई।

अंग्रेजों ने भारतीय राज्यों की राजनीति में हस्तक्षेप तथा साम्राज्य विस्तार की नीति को जारी रखा। मैसूर के सन्दर्भ में कार्नवालिस तथा लॉर्ड वेलेजली की नीति इसी तथ्य का प्रमाण है।

हैदर की अपेक्षा टीपू दक्षिणी शक्तियों को मैसूर के पक्ष में अल्पकालीन अवधि के लिए भी संगठित नहीं कर सका। संघर्ष की अदम्य क्षमता के बावजूद तृतीय आंग्ल-मैसूर युद्ध के बाद टीपू की राजनैतिक तथा आर्थिक स्थिति इतनी दुर्बल हो गयी की वह अंग्रेजी ताकत को कड़ी टक्कर नहीं दे सकता था। किन्तु इसके उपरान्त भी उसने विदेशी शक्तियों से यथासम्भव सहयोग प्राप्त करने का प्रयास किया किन्तु अन्ततः ब्रिटिश शक्ति के नियोजित, सशक्त तथा बहुमुखी आक्रमण के समक्ष टीपू को परास्त होना पड़ा। टीपू की असफलता के लिए कई कारण उत्तरदायी थे। यद्यपि इस असफलता ने भारत में ब्रिटिश साम्राज्य विस्तार को एक पायदान और ऊपर चढ़ाया किन्तु यह संघर्ष असफल होकर भी भारतीय प्रतिरोध की जीजिविषा का प्रतीक है। यह उस समय और भी महत्वपूर्ण हो जाता है जबकि भारत की अधिकांश क्षेत्रीय शक्तियाँ नवोदित ब्रिटिश सत्ता के समक्ष विनीत थी। इसीलिए जीवित रहने वाले सैकड़ों महाराजाओं तथा निजामों के बजाय टीपू का जीवन भारतीयों के लिए अधिक प्रेरणास्पद है।

2.9 अभ्यास प्रश्न

1. अंग्रजों के विरूद्ध हैदर अली के संघर्ष का वर्णन कीजिए।
2. अंग्रेजों के विरूद्ध टीपू द्वारा लड़े गये युद्धों की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
3. आंग्ल-मैसूर युद्धों के कारणों एवं परिणामों पर लेख लिखिए।
4. अंग्रेजों के विरुद्ध टीपू की असफलता के लिए कौन से कारण उत्तरदायी थे?
5. चतुर्थ आंग्ल मैसूर युद्ध के बाद मैसूर की राजनीतिक स्थिति का किस प्रकार निर्धारण किया? स्पष्ट कीजिए।

इकाई-3 आंग्ल-सिक्ख संबंध

नोट

पाठ-संरचना

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 पंजाब में सिक्खों का उत्कर्ष

3.3 महाराजा रणजीत सिंह (सन् 1792-1839 ई) के अधीन पंजाब

3.4 महाराजा रणजीत सिंह (सन् 1792-1839 ई.) और अंग्रेज

3.4.1 महाराजा रणजीत सिंह और अंग्रेजों के बीच सन् 1806 ई. की संधि

3.4.2 महाराजा रणजीत सिंह और चार्ल्स मेटकॉफ की मुलाकात

3.4.3 अमृतसर की संधि

3.5 अंग्रेजों का पंजाब-विलय का प्रयास : प्रथम सिक्ख युद्ध (सन् 1845-46 ई.)

3.5.1 लाहौर को संधि (9 मार्च 1846 ई)

3.5.2 भेरोवाल को संधि (16 दिसम्बर 1846 ई.)

3.6 अंग्रेजों का पंजाब विलय का पुनः प्रयास : द्वितीय सिक्ख युद्ध (सन् 1848-49 ई.)

3.7 अनुभागीय सारांश

3.8 इकाई सारांश

3.9 अभ्यास प्रश्न

3.0 उद्देश्य

अंग्रेजों और सिखों के मध्य हुए दो विचारों को आंग्ल-सिख युद्ध के रूप में सम्बोधित किया जाता है। ये युद्ध वर्ष 1845-1849 के मध्य लड़े गए थे। इन परिणामों के परिणामस्वरूप पंजाब में सिख साम्राज्य का अंत हुआ और संपूर्ण शिक्षा क्षेत्र अंग्रेजी हुकूमत के अन्तर्गत आ गया।

3.1 प्रस्तावना

अंग्रेज सदैव से पंजाब की उर्वर भूमि की ओर ललचाई दृष्टि से देखते थे और पंजाब पर आधिपत्य करना चाहते थे। इस तथ्य को हम भारत में बने रहे ब्रिटिश अधिकारियों के ब्रिटेन भेजे गए पत्रों से समझ सकते हैं -

डब्लू० एफ० आसबर्न- वर्ष 1838 में अपने पत्र में लिखा था, "हमें रणजीत सिंह की मृत्यु के पश्चात पंजाब को तुरन्त ही जीत लेना चाहिए और सिंध को अपनी सीमा बनाना चाहिए। कंपनी पहले ही बड़े-बड़े ऊँटों को खा चुकी है, तो इस मच्छर की तो बात ही क्या है"।

लार्ड अलबर्स ने महारानी विक्टोरिया को एक पत्र में लिखा था कि "वह समय दूर नहीं जब पंजाब हमारा समन्वय होगा। ऐसा नहीं है कि यह अगले वर्ष ही होगा लेकिन अनिवार्य है"।

उपरोक्त तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ब्रिटिश सरकार पंजाब को अपने आधीन लाना चाहती थी। वर्ष 1843 में मेजर ब्राडफुट की नॉवेलियन में कंपनी के भारण्ट के रूप में नियुक्ति हुई। उसने वहां जाकर ही स्थिति को और अधिक बिगाड़ दिया। उसने घोषणा की कि सतलुज के पार सभी रियासतें कंपनी के न केवल संरक्षण में होंगे, अपितु राजा दिलीप सिंह की मौत पर ये सब भागने हो जाएँगे।

नोट

वर्ष 1844 में लार्ड एलनबरो के उत्तराधिकारी के रूप में लार्ड कठोरिंग जो एक प्रख्यात सैनिक था, गवर्नर जनरल बन कर आया उसने तुरंत सेना को मजबूत करने के लिए आवश्यक प्रयत्न किया। सिखों ने अंग्रेजों की इस तैयारी का केवल एक ही अर्थ निकाला कि वे आक्रमण और युद्ध करना चाहते हैं।

आंग्ल-सिख युद्ध के प्रारम्भ होने में रानी जिंद कौर का भी सहयोग रहा क्योंकि राजा रणजीत सिंह की मृत्यु उपरान्त खालसा सेना की शक्ति काफी बड़ गई थी और रानी जिंद कौर का उस पर अधिक नियंत्रण नहीं रह गया था, अत: जिंद कौर का हित समान में था कि अगर खालसा सेना हार गई तो उसकी शक्ति समाप्त हो जाएगी और यदि जीत गई तो अनन्त प्रदेश उसके अधीन आ जाएगा।

3.2 पंजाब में सिक्खों का उत्कर्ष

सिक्ख धर्म को गुरू नानक ने पन्द्रहवीं शताब्दी में चलाया था। वह पंजाब के जाट किसानों तथा अन्य छोटी जातियों के बीच फैल गया था। एक लड़ाकू समुदाय के रूप में सिक्खों को बदलने का काम गुरु हरगोविन्द (1606-1645) ने आरम्भ किया। मगर अपने दसवें और आखिरी गुरु गोविन्द सिंह (1564-1708) के नेतृत्व में सिक्ख एक राजनीतिक और सैन्य शक्ति के रूप में आविर्भूत हुये। औरंगजेब की फौजों और पहाड़ी राजाओं के खिलाफ 1699 से लेकर गुरु गोविन्द सिंह ने लगातार लड़ाइयां लड़ी। औरंगजेब के मरने के बाद गुरु गोविन्द सिंह ने बहादुर शाह का साथ दिया। उनका ओहदा 5000 जात और 5000 सवार वाले सामंत का था। वे बहादुर शाह के साथ दक्कन गए, जहां उन्हें एक पठान नौकर ने विश्वासघात कर मार डाला। गुरु गोविन्द सिंह की मृत्यु के बाद गुरु की परम्परा खत्म हो गयी और सिक्खों का नेतृत्व उनके विश्वासपात्र शिष्य बंदा सिंह के हाथों में चला गया जो बंदा बहादुर के नाम से चारों ओर विख्यात है। बंदा बहादुर ने पंजाब के सिक्ख किसानों को एकजुट किया और मुगल फौज के विरुद्ध आठ साल तक जोश-खरोश के साथ असमानता की लड़ाई चलायी। वह 1715 ई. में पकड़ लिया गया और कब्जा कर दिया गया। उसकी हत्या से अधिकार क्षेत्र बढ़ाने की सिक्खों की महत्वाकांक्षा को धक्का लगा और उनकी सजा का पतन हो गया। नादिर शाह और अहमद शाह अब्दाली के आक्रमणों और उनके कारण पंजाब के प्रशासन में हुई अव्यवस्था ने सिक्खों को फिर से एकजुट होकर अन्याय का विरोध करने की प्रेरणा दी। आक्रमणकारियों की फौजों के आगे बढ़ने पर सिक्खों ने बिना कोई भेदभाव किए सबको लूटा और धन तथा सैनिक शक्ति एकत्रित कर ली। अब्दाली के पंजाब से वापस जाने के बाद उन्होंने राजनीतिक रिक्तता को भरना आरम्भ किया। उन्होंने 1765 ई. और 1800 ई. के बीच पंजाब और जम्मू को अपने अधिकार में कर लिया। सिक्ख समुदाय 12 मिसलों या संघों में संगठित था जो सूबे के विभिन्न भागों में काम करते थे। प्रत्येक मिसल एक दूसरे का पूरी तरह सहयोग करती थी। मूलत: वे

नोट

समानता के सिद्धान्त पर आधारित थे। 1764 ई. में विजेता सिक्ख अमृतसर में एकत्रित हुए और उन्होंने ''देग, तेग एवं फतेह'' के मुद्रालेख युक्त शुद्ध चांदी के सिक्के प्रसारित किए, जो पंजाब में सिक्ख संप्रभुता की प्रथम उद्घोषणा थी। 1763 ई. और 1773 ई. के बीच सिक्खों ने अपनी सत्ता का पूर्व में सहारनपुर से पश्चिम में अटक तक और दक्षिण में मुल्तान से उदर में काँगड़ा और जम्मू तक विस्तार किया। सिक्खों ने बारह मिसलों के रूप में स्वयं को गठित किया था (जो प्रजातांत्रिक स्वरूप वाला सैनिक भ्रातृत्व था) इन मिसलों के नेताओं का पंजाब के विभिन्न क्षेत्रों पर नियत्रण था। इस प्रकार रणजीत सिंह के पिता महासिंह, सुकरचकिया मिसल के प्रमुख थे और उनका रावी तथा चिनाब के बीच के क्षेत्र पर निंयत्रण था।

3.3 महाराजा रणजीत सिंह (सन् 1792-1839 ई) के अधीन पंजाब

महाराजा रणजीत सिंह ने सुकरचकिया मिसल के नेता के रूप में शासन प्रारम्भ किया किन्तु शीघ्र ही विविध प्रकार के उपाय अपनाकर उन्होंने अन्य मिसलों पर भी कब्जा कर लिया। इसमें 11 मिसलें सतलज नदी के उत्तर पश्चिम की ओर थी। जबकि 12वीं मिसल फुलकलियाँ ने अपना प्रभाव सतलज के दूसरी ओर बनाया था। प्रारम्भ में रणजीत सिंह ने मांगी मिसल पर अधिकार कर लाहौर को अपने कब्जे में कर लिया सन् 1801 ई. में उसने अपनी स्वतंत्रता की घोषणा करते हुए पंजाब के महाराजा की उपाधि धारण की फिर उसने जम्मू पर चढ़ाई कर वहां के राजा को अपने अधीन बनाया। तत्पश्चात् अकलगढ़ कासूर, चिन्नत भंग, कांगडा आदि पर भी अधिकार कर लिया। 1805 ई. में उसने सिक्खों के पवित्र स्थान अमृतसर पर भी अधिकार कर लिया। 1806 ई. में उसने नाभा, पटियाला, जीन्द पर भी अपना वर्चस्व कायम कर लिया। इस प्रकार महाराजा रणजीत सिंह ने पंजाब में एक नया शक्तिशाली सिक्ख राज्य संगठित किया। रणजीत सिंह के बढ़ते प्रभाव से अंग्रेज चिंतित हो उठे।

3.4 महाराजा रणजीत सिंह (सन् 1792-1839 ई.) और अंग्रेज

सिक्खों और अंग्रेजों का पहला प्रत्यक्ष सम्पर्क सम्बन्ध सन् 1800 ई. में हुआ। इस समय अंग्रेजों की नीति अंग्रेजों और रूस के मध्य रणजीत सिंह के राज्य को बफर स्टेट के रूप में स्थापित करना था। अफगानिस्तान के साथ जमाल शाह के आक्रमण की सम्भावना से भयभीत वेलेजली ने मुंशी यूसुफ अली को बहुमूल्य उपहारों के साथ रणजीत सिंह के दरबार में इस अनुरोध के साथ भेजा कि यदि अफगानिस्तान का शासक जमाल शाह ब्रिटिश भारत पर आक्रमण करे तो वह उसको सहायता न दे। किन्तु जैसे ही वेलेजली को जमाल शाह के आक्रमण न करने का विश्वास हो गया, वैसे ही उसने यूसुफ अली को रणजीत सिंह के दरबार से वापस बुला लिया।

सन् 1807 ई. में कम्पनी से पराजित मराठा शासक जसवन्त राव होल्कर जब रणजीत सिंह के पास अंग्रेजों के विरुद्ध सहायता लेने के लिए पहुंचा तो रणजीत सिंह ने कम्पनी के विरुद्ध सहायता देने से इंकार कर दिया।

3.4.1 महाराजा रणजीत सिंह और अंग्रेजों के बीच सन् 1806 ई. की संधि

कूटनीतिक व्यवहार के धनी अंग्रेजों ने सन् 1806 ई. में कपूरथला के सिक्ख सरदार फतहसिंह तथा रणजीत सिंह से साधारण मित्रता एवं सहयोग की संधि कर ली। इस संधि में प्रमुख प्रावधान इस प्रकार थे -

1. अंग्रेजों ने यह आश्वासन दिया कि मराठों को पंजाब में उपद्रव नहीं करने देंगे।
2. जब तक रणजीत सिंह अंग्रेजों के शत्रुओं से मित्रता नहीं करेगा तब तक दे रणजीत सिंह के राज्य पर आक्रमण नहीं करेंगे।

नोट

इस संधि से रणजीत सिंह को अब पंजाब में अंग्रेजों के हस्तक्षेप का भय नहीं रहा। अत: वह सतलज नदी के उत्तर के राज्यों पर अपना अधिकार चिन्ता मुक्त होकर कर सका।

3.4.2 महाराजा रणजीत सिंह और चार्ल्स मेटकॉफ की मुलाकात

रणजीत सिंह के बढ़ते हुए प्रभाव से अंग्रेज चिंतित तो थे. किन्तु उचित अवसर नहीं मिल रहा था। संयोगवश सतलज पार के सिक्ख राज्यों के सरदारों ने रणजीत सिंह के विरुद्ध अंग्रेजों से सहायता मांगी। परन्तु उस अवसर पर अंग्रेजों को फ्रांसीसी कम्पनी के आक्रमण का भय था। अत: वे रणजीत सिंह से लड़ाई लड़ने की स्थिति में नहीं थे। क्योंकि फ्रांसीसी कम्पनी के सम्भावित आक्रमण के समय अंग्रेजों को रणजीत सिंह के सहयोग की अपेक्षा थी। तत्कालीन गवर्नर जनरल लॉर्ड मिन्टो ने सर चार्ल्स मेटकॉफ को सितम्बर 1808 ई. में लाहौर रणजीत सिंह के पास भेजा। मेटकॉफ का इरादा था कि रणजीतसिंह सतलज नदी के पूर्व के सिक्ख राज्यों पर आक्रमण न करे और फ्रांसीसी आक्रमण के विरुद्ध अंग्रेजों से संधि कर ले। अंग्रेजों का प्रस्ताव रणजीत सिंह को मान्य था परन्तु रणजीतसिंह ने चार्ल्स मेटकॉफ से कहा कि अंग्रेज उसे समस्त सिक्खों का राजा स्वीकार कर लें। इसके लिए अंग्रेज तैयार नहीं थे।

रणजीतसिंह ने तीसरी बार सतलज नदी को पार करके कुछ प्रदेशों पर अधिकार कर लिया, तो ऐसा प्रतीत हुआ कि अंग्रेजों और रणजीत सिंह के बीच संधि की चर्चा समाप्त हो जाती। अब अंग्रेजों ने रणजीत सिंह के प्रति कठोर नीति अपनाने का फैसला किया। क्योंकि इस समय टर्की के सुल्तान महमूद द्वितीय के ब्रिटेन के साथ अच्छे सम्बन्ध हो गये थे। तथापि नेपोलियन प्रायद्वीपीय युद्ध में व्यस्त था। एक ओर ब्रिटिश राजदूत चार्ल्स मेटकॉफ ने रणजीत सिंह के सामने अंग्रेजों की मांगे रखी तथा दूसरी ओर लॉर्ड मिन्टो ने फरवरी 1809 ई. में जनरल ऑक्टरलोनी के नेतृत्व में एक सेना पंजाब की ओर भेज दी। रणजीत सिंह ने परिस्थितियों की गंभीरता को समझ कर संधि करना ही उचित समझा।

3.4.3 अमृतसर की संधि

25 अप्रेल 1809 ई. को अमृतसर में रणजीत सिंह और अंग्रेजों के मध्य संधि हुई इस संधि की मुख्य शर्त इस प्रकार थीं –

1. दोनों में से किसी एक पक्ष द्वारा संधि की एक भी धारा का उल्लंघन करने पर सम्पूर्ण संधि निरस्त मानी जायेगी।
2. अंग्रेजों ने महाराजा रणजीत सिंह को एक स्वतंत्र शासक स्वीकार कर लिया।
3. सतलज नदी के किनारे पर दोनों में से कोई भी पक्ष अधिक सेना नहीं सकेगा। परन्तु सतलज नदी के उत्तर के पैंतालिस परगनों पर रणजीत सिंह का अधिकार स्वीकार किया गया।
4. रणजीत सिंह इन परगनों में आन्तरिक शांति एवं प्रशासनिक अवस्था बनाये रखने के लिए आवश्यक सेना रख सकेगा।

5. सतलज नदी के पूर्व के राज्यों में रणजीत सिंह ने हस्तक्षेप न करने का वचन दिया। जबकि अंग्रेजों ने सतलज नदी को रणजीत सिंह के राज्य की दक्षिणी सीमा मान लिया।

नोट

6. सतलज नदी के उत्तर पश्चिम के क्षेत्रों में राज्य विस्तार करने के लिये रणजीत सिंह को छूट दे दी गई। अंग्रेजों ने इन क्षेत्रों में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप न करने का वचन दिया।
7. रणजीत सिंह ने भी सतलज नदी के पार के राज्यों पर ब्रिटिश सरंक्षण स्वीकार किया तथा वचन दिया कि वह उन राज्यों पर आक्रमण नहीं करेगा।
8. दोनों पक्षों ने परस्पर स्थायी मित्रता बनाये रखने का वचन दिया।
9. इस प्रकार रणजीत सिंह और अंग्रेजों के मध्य संघर्ष कुछ समय के लिये टल गया।

अमृतसर की संधि के बाद रणजीत सिंह और अंग्रेजों के सम्बन्ध दो भागों में विभाजित किये जा सकते हैं –

1. सन् 1809 ई. से सन् 1831 ई. तक के सम्बन्ध जो कि दोनों पक्षों के बीच सद्भा. वना पर आधारित थे तथा दोनों में से किसी को भी कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ा।
2. सन् 1831 ई. से सन् 1839 ई. तक के सम्बन्धों में अंग्रेज रणजीत सिंह के ऊपर मित्रता का दवाब बनाकर तथा धमकियाँ देकर उसे पंजाब के हितों को त्यागने के लिये विवश कर रहे थे।

3.5 अंग्रेजों का पंजाब-विलय का प्रयास : प्रथम सिक्ख युद्ध (सन् 1845-46 ई.)

नवम्बर 1845 ई. में अंग्रेजों ने लुधियाना के समीप दो गांवों पर आक्रमण कर उन पर अधिकार कर लिया। जबकि यह दोनों गांव सिक्ख राज्य के अधिकार में थे। इस घटना से गतिरोध उत्पन्न हुआ तथा सिक्खों एवं अंग्रेजों का पहला युद्ध 18 दिसम्बर 1845 ई. को फिरोजपुर के निकट मुदकी नामक स्थान पर हुआ। युद्ध के आरम्भ में सिक्खों का पलड़ा भारी रहा, लेकिन बाद में लाल सिंह व तेज सिंह के विश्वासघात के कारण अंग्रेजों की विजय हुई। 21 दिसम्बर 1845 ई. को फिरोजपुर नामक स्थान पर दूसरी मुठभेड हुई। इसमें भी अंग्रेजों की जीत हुई। तीसरी लड़ाई 21 जनवरी 1846 को अलीबाल बुदबाल नामक स्थान पर हुई जिसमें सिक्ख सेना की विजय हुई तथा अंग्रेजों को हार का मुंह देखना पड़ा। चौथी लड़ाई सोभराव नामक स्थान पर हुई जिसमें सिक्ख सेना के बड़े-बड़े अधिकारियों द्वारा विश्वासघात के कारण सिक्खों की पराजय हुई तथा 13 फरवरी 1846 ई. को अंग्रेज सेना ने सतलज नदी को पार किया और 20 फरवरी को लाहौर पर उनका अधिकार हो गया।

3.5.1 लाहौर की संधि (9 मार्च 1846 ई)

सिक्खों को विवश होकर 9 मार्च 1846 ई. को लाहौर में संधि करनी पड़ी। संधि पर हस्ताक्षर करने के लिए महाराजा रणजीत सिंह के उत्तराधिकारी महाराजा दलीप सिंह को गवर्नर जनरल के दरबार में लाया गया। इस संधि की प्रमुख शर्त निम्न लिखित थी।

नोट

1. दलीपसिंह की रक्षा के लिए लाहौर में एक ब्रिटिश सेना रखी गई, जो 1846 ई. के अन्त तक वहां रही।
2. अंग्रेजों ने सिक्ख राज्यों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करने का वायदा किया।
3. लाहौर में एक ब्रिटिश रेजीडेण्ट रखा जाएगा तथा सर हेनरी लॉरेन्स को इस पद पर नियुक्त किया गया।
4. महाराजा ने कम्पनी की पूर्व स्वीकृति के बिना किसी भी यूरोपियन या अमेरिकन को अपने यहां नौकरी न देने का आश्वासन दिया।
5. अंग्रेज सेना को पंजाब के मार्ग से गुजरने का अधिकार होगा।
6. युद्ध के दौरान सिक्खों ने कम्पनी की जो तोपें छीन ली थीं, उन्हें वापस लौटा दिया गया।
7. सिक्ख सेना की संख्या में कमी कर दी गई। सिक्खों की सारी तोपें छीन ली गई। अब पंजाब राज्य के लिए सेना की संख्या 12,000 घुड़सवार और 20,000 पैदल; और पचास लाख रुपये निश्चित कर दी गई।
8. पंजाब पर 1 1/2 करोड़ रुपये युद्ध का हर्जाना सौंप दिया गया, जिसको महाराजा नहीं दे सकता था। इस कारण कम्पनी ने काश्मीर और हजारा के सूबे महाराजा से छीन लिए। एक करोड़ रुपये में काश्मीर गुलाबसिंह को बेचा गया और पचास लाख रुपये महाराजा ने शीघ्र चुकाने का आश्वासन दिया।
9. महाराजा ने व्यास और सतलज नदी के बीच की भूमि अर्थात् जालन्धर दोआब का प्रदेश तथा इसमें स्थित किलों पर अपना अधिकार त्याग दिया और ये प्रदेश कम्पनी के सुपुर्द कर दिए गए।
10. महाराजा दलीपसिंह ने सतलज नदी के दक्षिण के सभी भू-भाग से अपना अधिकार त्याग दिया और इन पर कम्पनी का अधिकार स्वीकार कर लिया गया।

3.5.2 भेरोवाल को संधि (16 दिसम्बर 1846 ई.)

18 दिसम्बर 1846 ई. को लाहौर दरबार एवं अंग्रेजों के बीच एक और पूरक संधि हो गई जिसे भेरोवाल की संधि या लाहौर की द्वितीय संधि के नाम से जाना जाता है। इस संधि ने सिक्ख शक्ति को लगभग समाप्त करते हुए ब्रिटिश सत्ता को पंजाब-विलय के और अधिक समीप कर दिया। इस प्रकार प्रथम सिक्ख युद्ध के परिणाम स्वरूप सिक्ख राज्य की दो तिहाई भूमि पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया। जिसके कारण सिक्खों का राज्य सीमित हो गया तथा पृथक डोगरा राज्य स्थापित करके कम्पनी ने पंजाब को छिन्न-भिन्न करने का रास्ता बना लिया।

3.6 अंग्रेजों का पंजाब विलय का पुनः प्रयास : द्वितीय सिक्ख युद्ध (सन् 1848-49 ई.)

द्वितीय सिक्ख युद्ध के कारणों में एक प्रमुख कारण अंग्रेजों को विश्वासघातियों की सहायता से प्राप्त बेबुनियादी आरोप थे जिनका बहाना बनाकर युद्ध प्रारम्भ किया। वस्तुतः यह आरोप सत्य नहीं प्रतीत होता। उदाहरणार्थ - अंग्रेजों ने जहां एक ओर रानी जिन्दल पर मुल्तान में विद्रोह फैलाने का आरोप लगाया जबकि वहां का शासक दीवान मूल राज पहले से ही अंग्रेजो के विरुद्ध था। अंग्रेजों की नीयत भांपकर शेर सिंह और मूलराज ने मिलकर अंग्रेजों के

नोट

विरुद्ध सिक्ख सैनिकों को संगठित करना शुरू कर दिया था। अत्तावाला के सिक्ख सरदारों ने भी उन्हें पूर्ण समर्थन दिया। वास्तविकता यह थी कि विश्वासघातियों से अधिक सिक्ख शासकों की भूमिका ही युद्ध के लिए प्रमुख कारण थी। लॉर्ड डलहौजी ने 10 अक्टूबर 1848 ई. को सिक्खों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। 22 नवम्बर 1848 ई. को चिनाब नदी के किनारे रामनगर नामक स्थान पर दोनों सेनाओं के बीच पहली लड़ाई हुई जिसका कोई परिणाम नहीं निकल सका। दूसरी मुठभेड दिसम्बर 1848 ई. से 22 जनवरी 1849 तक चलती रही। 13 जनवरी 1849 को दोनों सेनाओं के बीच "चिलियान वाला" नामक स्थान पर भयंकर युद्ध हुआ जिसमें दोनों पक्षों की हानि हुई। अन्ततः 22 जनवरी 1849 ई. को अंग्रेजों ने मुलतान पर अधिकार कर लिया और मूलराज ने आत्म समर्पण कर दिया। अन्तिम लड़ाई चिनाब नदी के तट पर गुजरां नामक स्थान पर 21 फरवरी 1849 ई. को लड़ी गई। जिसमें सिक्ख, सैनिकों ने पूर्ण आत्मसमर्पण कर दिया। 12 मार्च 1849 ई. को शेर सिंह, छत्तर सिंह आदि सेना नायकों ने हथियार डाल दिये। इस प्रकार द्वितीय सिक्ख युद्ध समाप्त हो गया और सिक्खों का स्वतंत्र गौरव सदा के लिए लुप्त हो गया।

3.7 अनुभागीय सारांश

अन्ततः 29 मार्च 1849 ई. को डलहौजी ने सम्पूर्ण पंजाब को ब्रिटिश साम्राज्य में विलय घोषित कर दिया। डलहौजी को इस घोषणा की इतनी जल्दी थी कि उसने डायरेक्टरों की आज्ञा की प्रतीक्षा भी नहीं की।

3.8 इकाई सारांश

इस प्रकार उत्तर भारत में ब्रिटिश सत्ता के विस्तार के सन्दर्भ में आपने दो बड़ी रियासतों के विलय के विभिन्न सोपानों का अध्ययन किया है। जहां अवध में कम्पनी सरकार ने कुशासन का आरोप लगाकर सजा हथियाई वही पंजाब में दो युद्धों में विश्वासघातियों की मदद से विजय प्राप्त कर ब्रिटिश सत्ता का विस्तार किया।

3.9 अभ्यास प्रश्न

1. ब्रिटिश सत्ता के विस्तार की विभिन्न धारणाओं पर प्रकाश डालिये।
2. अवध के विस्तार को समझाइये।
3. शुजा-उद्-दौला के विषय में आप क्या जानते हैं?
4. रणजीत सिंह तथा अंग्रेजों के सम्बन्धों पर प्रकाश डालिये।
5. आंग्ल-सिक्ख युद्धों की समीक्षा कीजिये।

इकाई-4 आंग्ल-मराठा संघर्ष

नोट

पाठ-संरचना

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 आंग्ल-मराठा संघर्ष के कारण

4.3 प्रथम आंग्ल-मराठा युद्ध (1775-1782)

4.4 द्वितीय मराठा युद्ध - 1803

4.5 द्वितीय मराठा युद्ध की घटनाएँ

4.6 सुर्जी अर्जुन गांव की सन्धि (30 दिसम्बर, 1803)

4.7 द्वितीय मराठा युद्ध : परिणाम

4.8 तृतीय मराठा युद्ध

4.9 युद्ध का आरम्भ (1804-05)

4.10 तृतीय मराठा-युद्ध का अन्त

4.11 तृतीय मराठा युद्ध - परिणाम

4.12 चतुर्थ मराठा युद्ध (1817-18) कारण

4.13 युद्ध का प्रारम्भ

4.14 भौंसला परास्त

4.15 होल्कर की पराजय और संधि

4.16 चौथा मराठा युद्ध : परिणाम

4.17 सारांश

4.18 अभ्यास प्रश्न

4.0 उद्देश्य

इस इकाई में आप अध्ययन करेंगे -

- अंग्रेज और मराठों के सम्बंध
- प्रथम अंग्रेज-मराठा युद्ध के कारण, घटनायें तथा परिणाम
- द्वितीय अंग्रेज-मराठा युद्ध - पृष्ठभूमि, घटनायें तथा परिणाम
- तृतीय युद्ध - कारण, घटनायें एवं परिणाम
- चतुर्थ युद्ध - कारण, घटनायें तथा परिणाम
- सारांश, अभ्यासार्थ प्रश्न

नोट

4.1 प्रस्तावना

1761 ई. के पानीपत के युद्ध में एक विदेशी शासक से परास्त होकर मराठों की प्रभुता समाप्त हो गई। इस युद्ध ने मराठा शक्ति की पोल ही खोल दी थी, प्लासी के युद्ध में प्राप्त विजय से अंग्रेज उत्साहित हो चुके थे, अब पानीपत के युद्ध में मराठा पराजय ने उन्हें और शक्ति तथा अवसर प्रदान किये। यद्यपि पेशवा माधव राव प्रथम ने मराठा शक्ति को काफी हद तक पुनः जीवित कर दिया, परन्तु उसकी मृत्यु के बाद पुनः मराठा शक्ति के विघटन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई। मराठे आपसी फूट का शिकार हो गये, अतः अंग्रेजों ने इस स्थिति का पूरा लाभ उठाया। उन्होंने न केवल भारतीय राजनीति में हस्तक्षेप ही किया, बल्कि मराठों के पारस्परिक संघर्ष में व्यक्तिगत रुचि लेनी प्रारम्भ कर दी। अब भारतीय राजनीति में दो ही शक्तियाँ शेष रह गई, मराठा और अंग्रेज। अतः इनमें संघर्ष अवश्यम्भावी हो गया।

1758 ई. से ही अंग्रेजों ने मराठों से सम्पर्क रखना प्रारम्भ कर दिया था, जिससे अक्सर मिलते ही मराठों में फूट डालकर उन पर विजय प्राप्त की जा सके। 1758 ई. में उन्होंने एक समझौते के अनुसार मराठों से दस गांव प्राप्त कर लिये, तथा मराठों के प्रभाव क्षेत्र में व्यापारिक सुविधायें भी प्राप्त कर लीं। 1759 में पुनः 2 अंग्रेज अधिकारी मोटसन और प्राइस पूना भेजे गये। इनका उद्देश्य मराठों से सालसीट और वेसीन नामक दो टापू प्राप्त करना था परन्तु उस समय उन्हें अपने उद्देश्य में सफलता नहीं मिली। 1767 में एक बार फिर मोटसन को इसी उद्देश्य से पूना भेजा गया, परन्तु सफलता फिर भी न मिली। इस प्रकार अंग्रेजों की बढ़ती हुई महत्वाकांक्षा तथा मराठों के भारत में मराठा राज्य स्थापित करने के स्वप्न ने भारत में इ दोनों शक्तियों को एक दूसरे के विरोध में खड़ा कर अंग्रेज-मराठा संघर्ष की भूमिका तैयार कर दी।

4.2 आंग्ल-मराठा संघर्ष के कारण

18 नवम्बर, 1772 को पेशवा माधवराव प्रथम की मृत्यु के बाद घटनाचक्र तेजी से घूमा। क्योंकि माधवराव प्रथम पुत्रहीन था। अतः उसकी मृत्यु के बाद उत्तराधिकार का संघर्ष शुरु हुआ। यद्यपि माधवराव प्रथम का चाचा रघुनाथराव पेशवा बनना चाहता था परन्तु उसे सफलता नहीं मिली। फलतः माधवराव प्रथम का भाई नारायणराव पेशवा बना। इस घटना से मराठों में आपसी फूट, गुटबन्दी और गुप्त षड्यन्त्रों की स्थिति उत्पन्न हो गई। रघुनाथराव ने 13 अगस्त, 1773 को अपनी पत्नी आनन्दीबाई के सहयोग से नारायणराव को मौत के घाट उतार दिया तथा स्वयं पेशवा बन बैठा। नाना फड़नवीस के नेतृत्व में अनेक मराठा-सरदारों ने रघुनाथ राव का विरोध किया, परन्तु फिर भी उसे तत्काल पेशवा-पद से हटाया न जा सका क्योंकि नारायणराव भी पुत्रहीन था। अतः 17 अप्रैल, 1774 में जर नारायणराव की पत्नी गंगाबाई ने एक पुत्र को जन्म दिया, तब नाना फड़नवीस तथा मराठा-दरबार के अन्य कई नेताओं ने मिलकर रघुनाथराव को पदच्युत कर दिया तथा नारायणराव के अल्पवयस्क पुत्र को माधवराव द्वितीय के नाम से पेशवा घोषित किया। उसके संरक्षण तथा शासन-संचालन के लिए बारह योग्य मराठा व्यक्तियों के सहयोग से 'बारह भाइयों की परिषद्' नामक एक सलाहकार परिषद की स्थापना की गई। कुछ समय बाद इस परिषद की समस्त शक्तियाँ नाना फड़नवीस के हाथों में केन्द्रित हो गई।

उधर, जब बारह भाइयों की परिषद ने रघुनाथराव को कैद करने के आदेश प्रसारित किए, तब वह पूना से भाग खड़ा हुआ। उसने दिसम्बर, 1774 ई. में थाणे पर आक्रमण करके अधिकार जमाने की कोशिश की परन्तु वह असफल रहा, अतः पराजित होकर उसे भागना पड़ा।

नोट

इस प्रकार, जब रघुनाथराव मराठा-संघ से अलग-थलग जा पड़ा तब उसने शक्ति संगठित करने के लिए अंग्रेजों की तरफ मित्रता का हाथ बढ़ाया। उसने बम्बई कौंसिल के अध्यक्ष हॉर्नबाई से बातचीत की और 6 मार्च, 1775 को अंग्रेजों के साथ एक सन्धि की जो इतिहास में सूरत की संधि के नाम से विख्यात है। इस सन्धि में निम्नलिखित शर्त तय की गई।

1. अंग्रेज रघुनाथराव को पेशवा बनने में सहायता देंगे।
2. इसके प्रतिदान स्वरुप रघुनाथराव कम्पनी की बम्बई शाखा को थाणे, बेसीन, सालसिट व जम्बूसर (गुजरात) के प्रदेश देगा।
3. रघुनाथराव की सुरक्षा के लिए 2,500 सैनिकों की एक अंग्रेज सेना पूना में रखी जाएगी। इस सेना का डेढ़ लाख रुपये का मासिक खर्च रघुनाथराव कम्पनी को अदा करेगा।
4. अपनी सुरक्षा करने के बदले वह कम्पनी को 6 लाख रुपये देगा।
5. यदि रघुनाथराव पूना दरबार से कोई शान्ति समझौता करेगा, तो उसमें अंग्रेजों को अवश्य सम्मिलित करेगा।

यहाँ यह विशेष रुप से उल्लेखनीय है कि कम्पनी की बम्बई शाखा ने यह सन्धि गवर्नर जनरल। की अनुमति के बिना ही स्वीकार कर ली थी, जबकि रैग्युलेटिंग एक्ट द्वारा कम्पनी की बम्बई शाखा के इस अधिकार को समाप्त कर दिया गया था। इस सन्धि को स्वीकार करने के पश्चात हॉर्नबाई ने एक पत्र द्वारा गवर्नर जनरल को इस सन्धि की सूचना अवश्य दे दी थी। इस सन्धि ने अंग्रेजों और मराठों को परस्पर संघर्ष हेतु आमने-सामने ला खड़ा किया। तब स्पष्ट रुप से ये दोनों शक्तियाँ एक दूसरे की शत्रु हो गई। यही वह सन्धि है, जिसने तत्कालीन राजनीति को आँग्ल-मराठा संघर्ष की ओर धकेल दिया। इसके अतिरिक्त 1758 में मॉट्सन ने मराठों को युद्ध न करने का जो आश्वासन दिया था वह इस सन्धि द्वारा भंग कर दिया गया। इसके फलस्वरुप प्रथम आंग्ल-मराठा संघर्ष का सूत्रपात हुआ।

4.3 प्रथम आंग्ल-मराठा युद्ध (1775-1782)

सूरत की सन्धि की पहली शर्त के अनुसार बम्बई सरकार ने रघुनाथराव की सहायता हेतु एक सेना पूना की ओर भेजी। 18 मई, 1775 को अरास नामक स्थान पर अंग्रेजों और मराठों में संघर्ष हुआ इसमें मराठे परास्त हुए। इस युद्ध के फलस्वरुप अंग्रेजों ने सालसिट पर अधिकार कर लिया। अभी ब्रिटिश सेनाएं थोड़ी ही आगे बढ़ी थीं कि इस संघर्ष में बंगाल सरकार ने हस्तक्षेप किया क्योंकि बम्बई सरकार ने यह समझौता करने से पूर्व बंगाल सरकार से अनुमति नहीं ली थी। बंगाल सरकार ने सूरत की सन्धि तथा परिणामस्वरूप अरास में हुए आंग्ल-मराठा संघर्ष को रैग्युलेटिंग एक्ट के विरुद्ध मानते हुए उसे तुरन्त रोकने के आदेश प्रसारित लिए। इसका विरोध करने के कुछ और भी कारण थे :

1. सूरत की सन्धि पर रघुनाथ राव के हस्ताक्षर थे, पेशवा के नहीं।
2. सूरत की सन्धि से कम्पनी को अर्थ ही मराठों से संघर्ष करना पड़ा।
3. मराठा-शक्ति ने अंग्रेजों को किसी भी प्रकार का आघात नहीं पहुँचाया था, अतः बंगाल सरकार ने कम्पनी के इस हस्तक्षेप को अनौचित्यपूर्ण माना।

नोट

समझौता वार्ता : बंगाल सरकार के युद्ध बन्द करने का आदेश देने पर भी जब युद्ध बन्द नही हुआ, तब बंगाल सरकार ने कर्नल अप्टन को मराठों से समझौता वार्ता करने भेजा। अप्टन के पूना पहुँचते ही युद्ध तो बन्द हो गया परन्तु अप्टन और मराठों के बीच अनेक मतभेद उत्पन्न हो गए, क्योंकि अपन ने रघुनाथराव को मराठों को सौंपने, सालसिट बेसीन पर से अपने अधिकार वापस लेने की मराठों की मांग को स्वीकार नहीं किया। इस प्रकार यह वार्ता असफल हो गई तथा दोनों शक्तियों के मध्य यह युद्ध फिर प्रारम्भ हो गया। इस युद्ध में मराठे अद्‌भुत वीरता से लड़े, परन्तु इसी समय एक राजद्रोही मराठा सरदार सदाशिव माफ मराठों के विरुद्ध लड़ने के लिए आ धमका। फलत: मराठे दो मोर्चा पर युद्ध न कर सके। अत: उन्होंने 1 मार्च, 1776 को अंग्रेजों से श्पुरन्दर की सन्धिश कर ली। इस सन्धि के अन्तर्गत:

1. रघुनाथराव के कार्य को करने के लिए अंग्रेजों ने जो रकम खर्च की थी, उसकी क्षतिपूर्ति के रुप में मराठों ने अंग्रेजों को 12 लाख रुपये देना निश्चित किया।
2. सूरत की सन्धि रद्द कर दी गई तथा मराठों ने रघुनाथराव को 3 लाख 15 हजार रुपये की वार्षिक पेन्शन देना स्वीकार किया।
3. यह निर्णय लिया गया कि राघोबा अब कोई सेना नहीं रखेगा तथा गुजरात के कोपरगांव में जाकर रहेगा।
4. युद्ध में अंग्रेजों ने जिन मराठा क्षेत्रों पर अधिकार किया है, वे उन्हीं के पास रहेंगे।

इस संधि-पत्र पर मराठों की ओर से सखाराम बापू ने तथा अंग्रेजों की ओर से कर्नल अप्टन ने हस्ताक्षर किए। बम्बई सरकार तथा वॉरेन हेस्टिंग्ज इस सन्धि की स्वीकृति के पक्ष में नहीं थे। अभी इस विषय पर विवाद ही चल रहा था कि मराठों ने राजद्रोही सदाशिव भाऊ को गिरफ्तार करके उसे मौत के घाट उतार दिया। अब मराठों ने अंग्रेजों का मुकाबला करने के लिए कमर कस ली। परन्तु भाग्य का फेर था कि स्थिति और अधिक जटिल हो गई। इसका कारण बना फ्रांसीसी राजदूत सैण्ट लूबिन। सैण्ट लूबिन 1778 में सम्राट का पत्र लेकर मराठा दरबार में आया था। मराठों ने इसका स्वागत किया जबकि इसके तुरन्त बाद पूना पहुँचने वाले अंग्रेज राजदूत मॉटसन का कोई विशेष स्वागत नहीं किया गया। इससे अंग्रेज शंकित हो उठे तथा सर्वत्र यह समाचार फैल गया कि मराठों और फ्रांसीसियों में परस्पर सन्धि हो गई। दूसरी ओर मॉटसन ने मोरोबा नामक एक मराठा व्यक्ति को अपनी ओर मिलाकर सखाराम बापू तथा नाना फड़नवीस में फूट डलवा दी। चूंकि, सखाराम बापू ने ही मराठों की और से पुरन्दर की सन्धि पर हस्ताक्षर किए थे। अत: वह विद्रोही हो गया तथा गुण रुप से रघुनाथराव को पेशवा बनाने के लिए अंग्रेजों की सहायता करने को तैयार हो गया। इसका परिणाम यह हुआ कि बम्बई सरकार, जो पुरन्दर की सन्धि के विरुद्ध थी, पुन: मराठों से संघर्ष करने को तैयार हो गई। यद्यपि मराठों ने अंग्रेजों को यह स्पष्ट कर दिया कि फ्रांसीसियों के साथ उनकी किसी प्रकार की संधि नहीं हुई है। यहां तक कि इस अफवाह को सुनकर मराठों ने सैण्ट लूबिन को भी वापिस भेज दिया परन्त अंग्रेजों ने एक न सुनी। बंगाल कौंसिल के विरोध परन्तु वॉरेन हेस्टिंग्ज के समर्थन पर बम्बई सरकार ने 1778 में मराठों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी।

बड गांव समझौता : कर्नल इगर्टन के नेतृत्व में एक ब्रिटिश सेना मराठों से संघर्ष करने के लिए भेजी गई, परन्तु जब वह मराठों से पराजित हो गया तब उसके स्थान पर कर्नल काकबर्क को नियुक्त किया गया। उधर, मराठा सेना का नेतृत्व योग्य सेनानायक मल्हारराव

होल्कर तथा महादजी सिंधिया कर रहे थे। इस समय मराठा सेना ने अपनी अदभुत योग्यता का परिचय दिया। वह ब्रिटिश सेना से संघर्ष करती हुई निरन्तर पीछे हटती गई और अन्त में तेलगांव तक या पहुँची। 9 जनवरी, 1779 को जब दोनों सेनाएं तेलगांव पहुंची तब अंग्रेजों को यह एहसास हुआ कि मराठा सेना ने उन्हें तीन ओर से घेर लिया है। यहां अंग्रेजों ने एक बार फिर चतुराई से काम करने का प्रयास किया और अपनी गोला-बारुद में आग लगाकर पीछे हटना शुरु किया, पर मराठे भी कम न थे। उन्होंने मौका देखकर अंग्रेजों पर आक्रमण कर दिया। दोनों के बीच भयंकर युद्ध हुआ और अंग्रेज पराजित हुए। इसके फलस्वरुप अंग्रेजों को मराठों से एक अपमानजनक समझौता करना पड़ा। बडगांव का यह समझौता 19 जनवरी, 1779 को किया गया था। इसमें यह तय किया गया कि -

नोट

1. अंग्रेज रघुनाथराव को मराठों के सुपुर्द कर देंगे।
2. अब तक जीते गए सभी मराठा प्रदेश अंग्रेजों द्वारा उन्हें लौटा दिए जागेंगे।
3. इस संधि की शर्तो के पूरा करने तक दो अंग्रेज अधिकारी मराठों के बंधक के रुप में रहेंगे।

बड़गांव का समझौता अंग्रेजों के लिए बेहद अपमानजनक था। हेस्टिंग्ज ने स्वयं कहा था- 'जब मैं बड़गांव समझौते की धाराओं को पढ़ता हूँ तो मेरा सिर लज्जा से झुक जाता है।' इसलिए हेस्टिंग्ज ने इस समझौते को स्वीकार नहीं किया और सैनिक तैयार करके दो ब्रिटिश सेनाएं मराठों के विरुद्ध भेज दी। ये दोनों सेनाएं कर्नल पोफम और कर्नल गॉडर्ड के नेतृत्व में भेजी गई थीं। नाना फड़नवीस को जब अंग्रेजों के आक्रमण की सूचना मिली तब उसने नागपुर के भोंसले, हैदराबाद के निजाम और मैसूर के हैदरअली के साथ मिलकर एक ब्रिटिश विरोधी संघ की स्थापना की परन्तु हेस्टिंग्ज ने अपनी कूटनीति का परिचय देते हुए निजाम और भोंसले को मराठों से पृथक कर दिया।

उधर, कर्नल गॉडर्ड बेसीन पर अधिकार करता हुआ 1780 में बड़ौदा पहुँच गया। उसने बड़ौदा के शासक फतेहसिंह गायकवाड़ से एक सन्धि की और पूना की ओर बढ़ चला। पूना के समीप अंग्रेजों और मराठों में फिर एक भयंकर मुठभेड़ हुई जिसमें मराठों को काफी क्षति हुई। कर्नल पोफम के नेतृत्व में एक अन्य सेना उत्तर में ग्वालियर की ओर बढ़ी, उसने 3 अगस्त, 1780 को ग्वालियर के किले को हस्तगत कर लिया। इसी आंग्ल-मराठा संघर्ष के दौरान सीपरी नामक स्थान पर महादजी सिन्धिया के नेतृत्व में मराठा सेना तथा कर्नल पोफम के नेतृत्व में एक ब्रिटिश सेना के मध्य भीषण संघर्ष हुआ। इस संघर्ष में महादजी को पराजय मिली। परास्त महादजी ने 13 अक्टूबर, 1781 को अंग्रेजों से एक समझौता कर लिया। इसमें उसने अंग्रेजों को यह आश्वासन दिया कि वह मराठों से भी उनकी सन्धि करा देगा।

उत्तर में अंग्रेजों ने महादजी से सन्धि भले ही करली हो परन्तु गुजरात में युद्ध अभी जारी था। ब्रिटिश सैनिक शक्ति को विभाजित करने के उद्देश्य से नाना फड़नवीस ने मैसूर के शासक हैदर अली को कनार्टक पर आक्रमण करने की सलाह दी। हैदरअली ने तुरन्त कर्नाटक पर आक्रमण कर दिया। नाना की यह चाल सफल हुई क्योंकि इसके बाद से अंग्रेजों की निरन्तर पराजय होने लगी। ऐसी स्थिति में हेस्टिंग्ज ने एण्डरसन नामक एक व्यक्ति को नाना फड़नवीस से समझौता करने के लिए भेजा। इसके परिणामस्वरुप, 17 मई, 1782 को अंग्रेजों और मराठों के मध्य एक सन्धि हुई जिसे 'सालबाई की सन्धि' कहा जाता है। इस सन्धि में-

नोट

1. अंग्रेजों ने मराठों को यह आश्वासन दिया कि वे रघुनाथराव का साथ छोड़ देंगे तथा मराठों ने रघुनाथराव को 25,000 रुपये मासिक पेंशन के रुप में देने का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया।
2. सालसिट तथा भड़ौंच के अतिरिक्त ब्रिटिश सेना द्वारा विजित अन्य सभी मराठा क्षेत्रों पर से अंग्रेज अपना अधिकार त्यागने को तैयार हो गए।
3. अंग्रेजों ने न केवल माधवराव द्वितीय को पेशवा के रुप में स्वीकार कर लिया अपितु फतेहसिंह गायकवाड़ को भी बडौदा का शासक मान लिया। बडौदा के सभी विजित क्षेत्र अंग्रेजों ने बडौदा के शासक को दे दिए।
4. इस सन्धि में अंग्रेजों की ओर से यह प्रस्ताव भी रखा गया कि इस सन्धि को स्वीकार करने के छः महीने के अन्दर ही हैदरअली जीते हुए सभी ब्रिटिश प्रदेश लौटा देगा। इसके अतिरिक्त वह अंग्रेजों, पेशवा व कर्नाटक के नवाब के विरुद्ध युद्ध में भी शामिल नहीं होगा। यदि वह इस सन्धि की शर्तों के अनुसार व्यवहार नहीं करेगा, तो महादजी हैदरअली के विरुद्ध अंग्रेजों का साथ देगा।

यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि जून, 1782 में इस सन्धि के मसविदे पर हस्ताक्षर कर हेस्टिंग्ज ने इसकी पुष्टि कर दी परन्तु सन्धि की चौथी शर्त को लेकर महादजी और नाना फड़नवीस में विवाद उत्पन्न हो गया। इसका कारण था नाना की हैदर अली से गहरी मित्रता। जिस मित्र ने परास्त होते हुए मराठों का साथ दिया था उस सच्चे मित्र को नाना फड़नवीस सन्धि की चौथी शर्त को स्वीकार करके धोखा कैसे दे सकता था। जिस समय सालबाई की सन्धि हुई हैदरअली तब भी अंग्रेजों के विरुद्ध संघर्ष में जुटा था। अतः छः महीने तक, जब तक कि हैदरअली संघर्षरत रहा, नाना ने सन्धि पर हस्ताक्षर नहीं किए, परन्तु जब दिसम्बर, 1782 में हैदरअली की मृत्यु हो गई और अंग्रेजों को भारत से बाहर निकालने का उनका स्वप्न चूर-चूर हो गया, तब विवश होकर उन्होंने 20 दिसम्बर, 1782 को सालबाई की सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिए।

यह सन्धि अंग्रेजों के लिए पर्याप्त महत्वपूर्ण सिद्ध हुई। इससे उन्हें अनेक लाभ हुए-

1. तत्कालीन भारत की एक महत्वपूर्ण शक्ति (मराठा) के साथ अंग्रेजों की सन्धि हो गई।
2. इससे अंग्रेजों को यह आश्वासन मिला कि हैदरअली कर्नाटक के ब्रिटिश क्षेत्र से हट जाएगा। हैदरअली के न हटने की स्थिति में महादजी सिन्धिया की ओर से उन्हें सहायता का आश्वासन मिल गया।
3. इस सन्धि से फ्रेंच-मराठा सन्धि की सम्भावना समाप्त हो गई।
4. कर्नाटक और अवध के नवाबों को अंग्रेजों के मित्रों के रुप में इस सन्धि में शामिल किया गया तथा इन दोनों क्षेत्रों पर अंग्रेजों का अधिकार स्वीकार कर लिया गया।

इस सन्धि की समीक्षा करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रिटिश सत्ता ने इस संघर्ष से पूर्व मराठा शक्ति को कुचलने के उद्देश्य से जितनी तैयारियाँ की थीं, वे उतने लाभान्वित न हो सके। वारेन हेस्टिंग्ज पूना दरबार में अपना प्रभाव जमाने के प्रयास में असफल रहा। इस संधि के बाद लगभग बीस वर्ष तक दोनों शक्तियों के मध्य शान्ति रही। सच बात तो यह है कि इस सन्धि ने बेहद निराशाजनक समय में अंग्रेज सत्ता को सहारा दिया। इतिहासकार के.के

दत्त का मत है कि - इस समय के भारत में अंग्रेजी सत्ता का इतिहास एक नई दिशा की ओर मुड़ता है। स्मिथ की दृष्टि में यह सन्धि इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि इसके बाद 20 वर्ष तक आंग्ल-मराठा सम्बन्धों में शान्ति कायम रही।

नोट

इस सन्धि से मराठे भी लाभान्वित हुए। इस सन्धि के माध्यम से मराठों को अपने वे सभी प्रदेश वापस मिल गए, जो संघर्ष के दौरान अंग्रेजों ने हथिया लिए थे। इस सन्धि से जहां एक ओर पेशवा के प्रभुत्व में वृद्धि हुई वही दूसरी ओर मराठा संघ में महादजी का प्रभुत्व भी बढ़ा। अंग्रेजों ने महादजी को यह आश्वासन भी दिया कि वे शाहआलम के दरबारी मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेंगे। फलतः मुगल दरबार में महादजी का प्रभुत्व बढ़ा। उसे मुगल दरबार में वकील-ए-मुतलक के पद पर नियुक्त किया गया इससे उत्तर भारत में मराठा प्रभाव स्थापित हुआ। इस प्रकार सालबाई की सन्धि से प्रथम मराठा युद्ध का अन्त हुआ। यह सन्धि भारत में अंग्रेजी प्रभुसत्ता के इतिहास को एक नवीन मोड़ देने वाली थी।

4.4 द्वितीय मराठा युद्ध - 1803

प्रथम मराठा युद्ध के अन्त ने सही अर्थों में द्वितीय मराठा-युद्ध के कारण और उसकी पृष्ठभूमि तैयार की। बेसीन की सन्धि ने जहां एक ओर मराठों की विदेश-नीति अंग्रेजों को बेच दी वहीं दूसरी और द्वितीय मराठा-युद्ध को अवश्यम्भावी बना दिया। बेसीन की सन्धि के माध्यम से जिस पेशवा बाजीराव द्वितीय ने मराठों की स्वतंत्रता को अंग्रेजों के हवाले कर बदले में पुनः पेशवा बनने तथा मृत्युपर्यन्त इस वैभव और प्रभुत्व का उपभोग करने की गारंटी प्राप्त कर ली थी, उसके विरुद्ध अन्य मराठा सरदारों को क्रुद्ध होना स्वाभाविक था। दूसरे, बाजीराव को पुनः पेशवा बनाने पर अंग्रेजों का मराठों से युद्ध अनिवार्य था। इन्हीं स्थितियों ने दूसरे मराठा युद्ध को अवश्यम्भावी बना दिया। इस युद्ध के प्रारम्भ होने के निम्नलिखित कारण थे-

1. मराठों को जीत कर वेलेजली साम्राज्य विस्तार की अपनी लालसा पूरी करना चाहता था। जैसा कि प्रो. बी. एम. दिवाकर ने लिखा है- वेलेजली एक-एक कर भारत की बड़ी बड़ी शक्तियों को हजम कर रहा था। हैदराबाद, कर्नाटक, अवध, मैसूर, तंजौर, सूरत और फर्रुखाबाद को अपनी जेब में डाल कर जब उसने भारत के मानचित्र पर दृष्टिपात किया तब उसकी ललचाई नजर दिल्ली के किले पर पड़ी, आगरा के ताजमहल के सपने सजोने लगा, ग्वालियर का अजेय किला उसकी आँख में खटकने लगा। सत्य तो यह है कि गुजरात, मध्य भारत और राजस्थान के राजा मराठों के अधीन थे। विशाल हिन्दुस्तान को अपना उपनिवेश राज्य बनाने के लिए, अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए वेलेजली को बची हुई एकमात्र मराठा शक्ति से लोहा लेना आवश्यक था। ग्वालियर का सिन्धिया दिल्ली, आगरा और दोआब देने वाला न था, अतः उस पर विजय पाना जरुरी था। गुजरात, भड़ोंच, आदि को पाने के लिए पेशवा पर अपना प्रभाव स्थापित करना अनिवार्य था। कटक प्राप्त करने के लिए बरार के शासक रघुजी भोंसले को परास्त करना आवश्यक था। राजस्थान तथा मध्य भारत के भागों पर आधिपत्य जमाने के लिए इन्दौर में होल्कर को परास्त करना आवश्यक था।

2. एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकती थीं। मैसूर, हैदराबाद, कर्नाटक और अवध जैसे बड़े राज्यों पर अधिकार हो जाने से अंग्रेजों की शक्ति बहुत बढ़ गई थी। इधर, मराठे सिन्धिया और होल्कर की अधीनता में गुजरात, महाराष्ट्र, राजस्थान, मध्य प्रदेश, दोआब व उड़ीसा के कुछ भागों में साम्राज्य विस्तार कर रहे थे। नाना फड़नवीस के नेतृत्व में खरदा के

नोट

युद्ध में मराठों ने निजाम को पराजित कर शक्ति तथा युद्ध-कौशल का परिचय दिया था। एक तरफ अंग्रेजों की शक्ति बढ़ती जा रही थी और दूसरी तरफ मराठे पुनः संगठित होने का प्रयास कर रहे थे। यह सच है कि यदि इस समय मराठा संगठन बन जाता तो कदाचित वेलेजली के सपने पूरे न हो पाते और भारत का इतिहास कुछ और ही होता, अतः दो बराबर की शक्तियों का आपस में टकराना स्वाभाविक था। यों भी, टीपू के अन्त के बाद अब सिर्फ मराठे शेष रह गए थे। वेलेजली यह अच्छी तरह से जानता था कि मराठा संघ को छिन्न-भिन्न करने पर ही अंग्रेज भारत के भाग्य निर्माता बन जाएंगे, अतः युद्ध अनिवार्य था।

3. मराठों की आपसी फूट और उनके पारस्परिक लड़ाई-झगड़ों ने वेलेजली को उन पर आक्रमण करने के लिए प्रोत्साहित किया। जब वेलेजली भारत में आया तब विभिन्न मराठा सरदार परस्पर एक दूसरे के शत्रु बने हुए थे। होल्कर सिन्धिया का शत्रु था, क्योंकि सिंधिया पेशवा को अपने अधीन रखना चाहता था। दूसरी ओर नाना फड़नवीस पेशवा को अपने नियंत्रण में रख कर मराठों को उसके नेतृत्व में संगठित करना चाहता था। इस प्रकार वेलेजली के आगमन के समय मराठा राज्य में कुछ ऐसी परिस्थितियाँ बनी हुई थीं जो कालान्तर में न केवल द्वितीय मराठा युद्ध का अपितु मराठों के पतन का भी कारण बनीं- उनकी आपसी फूट और उत्तराधिकार के युद्ध जो प्रायः सभी मराठा घरानों में हुए।

4. बेसीन की सन्धि ने द्वितीय मराठा युद्ध को अनिवार्य बना दिया। यह सन्धि राष्ट्रीय सम्मान के अनुकूल नहीं थी। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है। सिंधिया और भोंसले जो अंग्रेजों से एक न एक दिन भिड़ना चाहते थे, प्रसन्न हुए कि ''इस सन्धि ने आखिरकार उन्हें अंग्रेजों के आमने-सामने खड़ा कर दिया।'' बेसीन की सन्धि वेलेजली का सीधा प्रहार थी, जिस प्रकार श्री रंगपट्टम ने उन्हें दक्षिण भारत दिया था उसी प्रकार इस सन्धि ने अंग्रेजों का सम्पूर्ण दक्षिण पर आधिपत्य स्थापित कर दिया। इसने भारत में अंग्रेजी साम्राज्य को अखिल भारतीय साम्राज्य में विस्तृत करने की निर्णायक स्थिति में ला दिया।

5. अंग्रेजों को सिन्धिया का डर था, अतः वे उसकी शक्ति के विनाश का अवसर ढूंढ रहे थे। वेलेजली ने इंग्लैण्ड से आए नए सेनापति लेक को लिखा था ''हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि कम्पनी को सिन्धिया के साथ सबसे बड़ा युद्ध करना है। उसका नाश कर देने के बाद कम्पनी के खतरे एक प्रकार से खत्म हो जाते हैं।'' 13 मई, 1803 ई. को पेशवा बाजीराव ने अंग्रेजी सेना के संरक्षण में पूना में प्रवेश किया और 26 जून को गवर्नर-जनरल वेलेजली ने अपने भाई जनरल आर्थर वेलेजली को एक गुप्त पत्र लिखा जो इस प्रकार था-

''आप बिना मुझसे पूछे जब चाहे, महाराजा सिन्धिया या बरार के राजा के साथ युद्ध छेड़ दें और निजाम, पेशवा या दूसरे मराठा नरेशों के राज्यों में जो राजनीतिक या सैनिक कार्यवाही करना चाहें, कर डालें।''

27 जून को गवर्नर जनरल ने अपने भाई के नाम दूसरा श्अत्यन्त गोपनीय पत्र लिखा जिसके नीचे लिखे वाक्य उद्धृत करने योग्य है-

''इस पत्र के पाते ही आप कर्नल कॉलिन्स को लिख दीजिए कि सिन्धिया और बरार के राजा, दोनों से उनके साफ-साफ विचार मालूम किए जाएं और उन्हें उत्तर के लिए इतना ही समय दिया जाए जितना आपको मौसम और अपनी संग्राम सम्बंधी सुविधाओं की दृष्टि से ठीक-ठीक मालूम हो।''

''आपको आजादी दी जाती है कि इस काम के लिए आप जो खर्च जरुरी समझें, करें, और जैसे दूत अधिक उपयोगी समझे, भेजें। मैं सोच रहा हूँ कि गोहद के राणा के पास और राजपूत राजाओं के पास मैं स्वयं यथोचित दूत भेजूं। आप भी इन रियासतों को सिन्धिया के विरुद्ध भड़काने की हर तरह से कोशिश कीजिए। यह भी सोचिएगा कि काशीराव होल्कर को जसवन्तराव होल्कर के विरुद भड़काने के लिए क्या-क्या किया जा सकता है।''

नोट

6. वेलेजली के पास युद्ध का एक बड़ा बहाना था- फ्रांसीसियों के आक्रमण का भय। फ्रांसीसियों का भारतीय राजाओं के दरबारों में रहकर सेना तैयार करना किसी भी समय अंग्रेजों के लिए घातक सिद्ध हो सकता था। एक तरफ टीपू फ्रांसीसी टापुओं से सहायता प्राप्त कर रहा था, तो दूसरी ओर निजाम के राज्य में एक फ्रांसीसी जनरल की अधीनता में 1500 सैनिक तैयार हो गए थे। सिन्धिया के पास भी फ्रांसीसी कप्तान पैरोन के नेतृत्व में 40,000 सैनिक जमुना के तट पर तैयार थे।

4.5 द्वितीय मराठा युद्ध की घटनाएँ

इन सब स्थितियों में, द्वितीय मराठा-युद्ध सुनिश्चित हो गया। तत्कालीन कमाण्डर इन चीफ लॉर्ड लेक को उत्तर भारत से सम्बन्धित भाग दिया गया। नर्बदा के दक्षिण का क्षेत्र आर्थर वेलेजली को सौंपा गया। उसकी अध्यक्षता में एक सेना पूना पर आक्रमण के लिए भेजी गई। जैसा कि सरदेसाई ने लिखा है- ''बम्बई के गवर्नर जोनाथन इंकन तथा मद्रास के गवर्नर लॉर्ड क्लाइव को आज्ञा हुई कि दे आर्थर वेलेजली को सहयोग देने के लिए यथा समय कार्य करें। कर्नल मरे के अधीन बम्बई की सेनाओं का तथा जनरल स्टुअर्ट के अधीन मद्रास की सेनाओं का संगठन किया गया। निजाम की सहायक मित्र सेना आवश्यकता पड़ने पर आगे बढ़ने के लिए कर्नल स्टीवेन्सन के अधीन परिण्डा पर ठहरा दी गई। सब मिलाकर ब्रिटिश सेना की संख्या 60 हजार से कुछ ऊपर थी। यह सेना भारत में किसी पूर्व अवसर पर एकत्र की गई किसी भी सेना से बहुत बड़ी थी। इनके अतिरिक्त गवर्नर-जनरल ने मेजर फ्रिथ को भारतीय शासकों के यूरोपीय तथा अन्य अधिकारियों को निष्ठा भ्रष्ट करने के विशेष कार्य पर नियुक्त किया। गवर्नर-जनरल ने अपने विश्वस्त कार्यकर्ता कर्नल मरसर को समस्त उत्तर भारतीय शासकों पर निगाह रखने, उनका सहयोग प्राप्त करने तथा उनको विरोध के मार्ग से दूर रखने के लिए लॉर्ड लेक के पास नियुक्त कर दिया।''

वास्तविक युद्ध आरम्भ होने के पहले ही, आर्थर वेलेजली ने 20 अप्रैल, 1803 को पूना में प्रवेश किया। पेशवा के महलों में जाकर उसने सुरक्षात्मक व्यवस्थाएं की और आवश्यक समाचार बेसीन स्थित कर्नल फ्लोज के पास भेज दिया, 13 मई 1803 को बाजीराव ने कर्नल फ्लोज के साथ अपनी राजधानी में प्रवेश किया। उसने तोपों की सलामियों और हर्षध्वनि के साथ अपनी गद्दी पुनः प्राप्त कर ली। कलकत्ता, सूरत तथा अन्य महत्वशाली नगरों में तोपों की सलामियों से इस घटना की घोषणा की गई। इस प्रकार शान्तिपूर्ण ढंग से ब्रिटिश कूटनीति ने बाजीराव को पुनः पेशवा के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया। साथ ही किसी विरोधी व्यक्ति को कोई उत्तेजना नहीं होने दी गई। होल्कर चन्दवार में घटनाचक्र की भावी गति की प्रतीक्षा करता रहा। अमृतराव जुन्नार वापस चला गया। बाजीराव का मित्र शिन्दे (सिन्धिया) बुरहानपुर में ठहरा रहा तथा अंग्रेजों की ओर से सम्पादित आक्रमण का सामना करने के उपाय ढूंढता रहा।

नोट

पूरी तैयारी के बाद 6 अगस्त, 1803 को जनरल आर्थर वेलेजली ने कम्पनी की ओर से मराठों के साथ युद्ध का विधिवत् घोषणा कर दी। 7 अगस्त को जनरल लेक ने सिन्धिया के विरुद्ध कानपुर से प्रयाण किया और 8 अगस्त को वेलेजली अहमदनगर की ओर चला। लड़ाई में अंग्रेजों के पास लगभग 60,000 की सेना थी और मराठों के पास लगभग 2,50,000 सैनिक थे, जिसमें से 40,000 सैनिक तो फ्रांसीसियों की अधीनता में पाश्चात्य ढंग से प्रशिक्षित थे। प्रो0 दिवाकर ने इस द्वितीय मराठा युद्ध की घटनाओं को संक्षेप में व्यक्त करते हुए लिखा है-

''शत्रु (मराठों) पर हर मोर्चे से आक्रमण किया गया। दोनों उत्तर और दक्षिण के मुख्य मोर्चा पर लेक और आर्थर वेलेजली ने आक्रमण किया; जबकि सहायक आक्रमण बुन्देलखण्ड और उड़ीसा पर भी किए गए, ताकि यमुना के दक्षिणी भाग और कलकत्ता व मद्रास के बीच के उड़ीसा के समुद्री किनारे पर अंग्रेजों का अधिकार हो सके।''

अंग्रेजों ने मराठों पर सब तरफ से भीषण प्रहार किए। आर्थर वेलेजली ने अगस्त में ही मराठों को पीछे खदेड़ कर अहमदनगर पर अधिकार कर लिया। सिन्धिया और भोंसले की संयुक्त योजना हैदराबाद पर आक्रमण करने की थी किन्तु वेलेजली ने औरंगाबाद से पैंतालीस मील दूर असाये नामक ग्राम में उनसे मोर्चा लिया और 23 सितम्बर को एक भयानक युद्ध में सिन्धिया और भोंसले की संयुक्त सेना को पराजित कर पीछे धकेल दिया। इस युद्ध में अंग्रेजों के पास सिर्फ 5,000 सिपाही थे और मराठों के पास 50,000 से भी अधिक सेना थी। लड़ाई में 1500 से अधिक अंग्रेज सैनिक मारे गए। गवर्नर जनरल ने सेनापति आर्थर वेलेजली की सफलता पर हर्ष प्रकट करते हुए इस विजय को श्आश्चर्यजनक विजयश कहकर संबोधित किया। ग्रान्ट डफ ने इस विजय को दक्षिण भारत के इतिहास की सबसे अधिक शानदार लड़ाई माना है।

इसके उपरान्त आर्थर वेलेजली ने 29 नवम्बर, 1803 को आरगांव के युद्ध में भोंसले को पूर्णत: पराजित किया। 15 दिसम्बर को गाविलगढ़ का किला भी भोंसले के हाथ से निकल गया। उत्तरी भारत में भी मराठों को पराजय हासिल हुई। उत्तर भारत का संघर्ष अपेक्षाकृत अधिक निर्णायक व महत्वपूर्ण था। जनरल लेक ने कानपुर से कूच कर सबसे पहले अलीगढ़ पर आक्रमण किया और उसे जीत लिया। इस युद्ध में फ्रांसीसी सेनापति पेरोन हताश हो गया और उसने सिन्धिया की नौकरी छोड़ दी। अगले महीने सिन्धिया और लेक की सेना में दिल्ली की लड़ाई हुई जिसमें लेक ने पेरोन के उत्तराधिकारी को पराजित कर दिल्ली पर अधिकार कर लिया। दिल्ली का 83 वर्ष का अन्धा बूढ़ा बादशाह शाहआलम एक छोटे से फटे शामियाने के नीचे बैठा था। लेक ने 18 अक्टूबर को आगरे पर भी अधिकार कर लिया और नवम्बर में लसवाडी नामक स्थान पर सिन्धिया की शेष सेना का भी खात्मा कर दिया। इस प्रकार उत्तर के मोर्चे पर लेक को सिन्धिया के विरुद्ध पूर्ण सफलता मिली। योजना के अनुसार अलीगढ़, दिल्ली और आगरा के महत्वपूर्ण क्षेत्रों पर बार महीने में चार युद्धों दद्वारा पूर्ण विजय प्राप्त कर ली गई। अगस्त से नवम्बर तक सिन्धिया को हर स्थान पर हार का मुंह देखना पड़ा।

गुजरात में भड़ौंच पर अधिकार कर लिया गया। इस प्रकार सिन्धिया के लगभग सारे राज्य पर कम्पनी का अधिकार हो गया। उड़ीसा में भोंसले की सेना को पूर्ण रुप से पराजित कर पूरे पूर्वी समुद्री तट पर अंग्रेजों ने अधिकार कर लिया। उधर भोंसले को आर्थर वेलेजली ने 29 नवम्बर, 1803 में पूर्ण रुप से पराजित किया। कटक व गाविलगढ़ का पतन होते ही भोंसले ने 17 दिसम्बर को अपनी पराजय के दो दिन बाद ही अंग्रेजों से देवगांव की सन्धि

कर ली और युद्ध से अलग हो गया। देवगांव की सन्धि से दक्षिण भारत में अंग्रेजों और मराठों के बीच युद्ध समाप्त हो गया। सिन्धिया भी सभी मोचों पर हार गया था, अतः उसने भी 30 दिसम्बर, 1803 को सुर्जी अर्जुन पांव में अंग्रेजों से सन्धि करली। इन दोनों सन्धियों के साथ ही द्वितीय मराठा युद्ध समाप्त हो गया। इस युद्ध में अंग्रेजों को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई। भोसले व सिन्धिया भी अंग्रेजों के अधीन हो गए।

नोट

देवगांव को सन्धि (17 दिसम्बर, 1803)

17 दिसम्बर, 1803 को एलिचपुर से कुछ मील उत्तर में स्थित देवगाँव में भोंसले ने अंग्रेजों के साथ सन्धि की निम्नलिखित शर्तो पर हस्ताक्षर कर दिए-

1. समस्त पूर्वी समुद्र तट सहित कटक का प्राप्त अंग्रेजों को दे दिया जाएगा।
2. वर्धा नदी तक पश्चिम बरार का प्राप्त निजाम को दे दिया जाएगा।
3. भोंसले बेसीन की सन्धि का और उन सभी सन्धियों का सम्मान करेगा जो अंग्रेजों ने उसके अधीनस्थ शासकों के साथ की हैं।
4. भोंसले मराठा-संघ को मंग कर देगा तथा अपनी सेश में अंग्रेजों के किसी शत्रु को नियुक्त नहीं करेगा।
5. भोंसले ने अपनी राजधानी नागपुर में एक ब्रिटिश रेजीडेंट रखना भी स्वीकार कर लिया।

देवगाँव की सन्धि द्वारा भोंसले को सिन्धिया से पृथक कर दिया गया। इस प्रकार वेलेजली को सिन्धिया के विरुद्ध अपनी सम्पूर्ण शक्ति एकत्र करने का अवसर मिल गया। भोंसले ने अंग्रेजी सहायक सेना रखना स्वीकार नहीं किया और वेलेजली ने भी उसे इस बात के लिए विवश नहीं किया।

4.6 सुर्जी अर्जुन गांव की सन्धि (30 दिसम्बर, 1803)

सिन्धिया ने स्वयं को अधिक समय तक युद्ध करने में असमर्थ समझ कर अपने दूत कमलनयन मुन्शी और मुख्य मंत्री विठ्ठल पन्त को वेलेजली के पास सन्धि वार्ता के लिए भेजा। विट्ठल पन्त बहुत वृद्ध था और अपने समय का सर्वश्रेष्ठ राजनीतिज्ञ व कूटनीतिज्ञ माना जाता था। कई दिनों के वार्तालाप के बाद सिन्धिया ने अंग्रेजों के साथ 30 दिसम्बर, 1803 को सुर्जी गांव की प्रसिद्ध सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिए, जिसकी मुख्य शर्ते इस प्रकार थीं -

1. सिन्धिया अंग्रेजों को गंगा-यमुना का दोआब क्षेत्र, यमुना पर स्थित दिल्ली क्षेत्र, बुन्देलखण्ड का कुछ भाग, भड़ौंच, गुजरात के कुछ जिले, अहमदनगर का गढ़ तथा गोदावरी नदी तक विस्तृत अजन्ता का क्षेत्र देने को तैयार हो गया।
2. सिन्धिया ने अंग्रेजों को यह वचन दिया कि वह सम्राट पर से अपना नियंत्रण त्याग देगा।
3. सिन्धिया पेशवा निजाम तथा गायकवाड़ पर से अपने समस्त अधिकारों को हटाने को सहमत हो गया। उन सभी सहायक शासकों की स्वतंत्रता को मान्यता दे दी गई, जिन्होंने अंग्रेजों के साथ पृथक-पृथक सन्धियाँ कर ली थीं।

नोट

4. यह निश्चय किया गया कि सिन्धिया अपनी सेवा में किसी फ्रेंच, अमेरिकन या अंग्रेजों के किसी शत्रु को नियुक्त नहीं करेगा।

5. सिन्धिया ने बेसीन की सन्धि को मान्यता प्रदान की और अपने दरबार में एक अंग्रेज रेजीडेन्ट की नियुक्ति पर सहमत हो गया।

6. सिन्धिया अपने यहां ब्रिटिश सहायक सेना रखने को भी तैयार हो गया। सिन्धिया की फ्रांसीसी सेना भंग कर दी गई और उसकी वे 823 तोपें जो फ्रांसीसियों ने बनाई थी, अंग्रेजों को सौंप दी गई।

सरदेसाई ने इस संदर्भ में लिखा है – ''सिन्धिया से ब्रिटिश सहायक सेना स्वीकार करने के लिए कहा गया था, किन्तु उसने ऐसा करने से इन्कार कर दिया। अधिक प्रार्थना करने पर बुरहानपुर तथा असीरगढ़ उसको वापस कर दिए गए। भोंसले से लिया गया बरार प्रदेश निजाम को दे दिया गया, क्योंकि युद्ध में उसने अंग्रेजों को अपना सहयोग दिया था। सिन्धिया और निजाम की राज्य सीमा निर्धारित कर दी गई।''

4.7 द्वितीय मराठा युद्ध : परिणाम

1. ब्रिटिशकालीन भारत के इतिहास में द्वितीय मराठा-युद्ध का विशेष महत्त्व है। इस युद्ध के परिणामस्वरुप ब्रिटिश साम्राज्य उत्तरी भारत और उड़ीसा तक फैल गया। पूर्वी समुद्र तट पर भी उनका अधिकार हो गया। इसके अतिरिक्त भी उन्हें कई प्रदेश प्राप्त हुए। इस युद्ध में विजित होने पर अंग्रेजों की शक्ति का प्रभाव संपूर्ण भारत में फैल गया।

2. द्वितीय मराठा युद्ध का प्रत्यक्ष परिणाम सिक्ख राज्य की स्वतन्त्र उत्पत्ति के रुप में सामने आया। इससे पूर्व सिक्ख मराठों के नियन्त्रण में थे तथा वे सिन्धिया को चार लाख रुपये वार्षिक चौथ के रुप में देने को बाध्य थे। इस युद्ध के दौरान वेलेजली ने सिक्ख-शासक महाराज रणजीत सिंह को आश्वासन दिया कि यदि वह सिन्धिया के विरुद्ध अंग्रेजों की सहायता करेगा तो अंग्रेज युद्ध में विजयी होने पर उनका चौथ कर माफ कर देगें। इस प्रकार द्वितीय मराठा-युद्ध के बाद पंजाब का एक स्वतंत्र राज्य के रुप में उदय हुआ।

3. इस युद्ध ने अंग्रेजों के भावी साम्राज्य की आधार शिला को और भी अधिक मजबूत किया। महाराष्ट्र से फ्रांसीसी प्रभाव नष्ट कर दिया गया, राजपूताना क्षेत्र पर से सिन्धिया का नियन्त्रण शिथिल कर दिया गया। इसके अतिरिक्त मुगल सम्राट शाहआलम पुनः अंग्रेजों के संरक्षण में आ गया। द्वितीय मराठा युद्ध के संदर्भ में इतिहासकार डॉडवेल लिखते हैं- ''इस प्रकार पाँच महीने के अन्दर मराठा संगठन के सबसे अधिक शक्तिशाली हाथों को तुलनात्मक रुप से ऐसा कर दिया कि वे कोई क्षति न कर सकें।''

4. देवगाँव और सुर्जी अर्जुन गाँव की संधियों ने मराठों का उन्मूलन कर कम्पनी के साम्राज्य विस्तार में सहयोग दिया, यहाँ तक कि मुगल बादशाह के संरक्षण का दायित्व भी कम्पनी को अपने ऊपर लेना पड़ा।

5. द्वितीय मराठा युद्ध के दौरान अंग्रेजों का उद्देश्य मराठों की सार्वभौमिक सत्ता को नष्ट करना था। वे अपने इस उद्देश्य में पूर्णतः सफल हुए। सरदेसाई लिखते हैं- ''पेशवा और गायकवाड़ कूटनीतिक उपायों से परास्त किए गए तथा सिन्धिया, भोंसले तथा होल्कर वास्तविक युद्ध द्वारा नष्ट कर दिए गए, किन्तु यह ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि इस युद्ध में मराठा जाति ने भाग नहीं लिया था।''

6. द्वितीय मराठा युद्ध के बाद पेशवा की स्वतंत्रता और पद गरिमा पूर्णत: नष्ट हो गई। वह अंग्रेजों के हाथ में खिलौना मात्र बनकर रह गया। उसकी सरकार नाम मात्र की रह गई। 15 जनवरी, 1804 के अपने पत्र में जनरल आर्थर वेलेजली ने गवर्नर-जनरल लॉर्ड वेलेजली को लिखा- ''अब देश जंगल बन गया है, जहाँ चोरों का राज्य है। वह पेशवा स्वंय सरकार का संचालन करने में अयोग्य है तथा वह किसी अन्य व्यक्ति का न तो विश्वास करता है और न ही किसी को कोई अधिकार ही देता है। उसके पास देश का कार्य संचालन करने वाला कोई व्यक्ति नहीं है।''

नोट

यद्यपि द्वितीय मराठा युद्ध ने मराठों की शक्ति को नष्ट करने में कोई कमी नहीं छोडी परन्तु फिर भी उनकी युद्ध क्षमता समाप्त नहीं हुई। फलत: जल्दी ही श्तृतीय मराठा-युद्धश हुआ। पी.ई. राबर्ट्स लिखते हैं-

''वेलेजली ने विजयी स्वर में घोषणा की कि शान्ति ने युद्ध के प्रत्येक लक्ष्य को समाविष्ट कर दिया है'' और उसका यह कथन किसी सीमा तक ठीक भी था, किन्तु साथ ही उसने जो यह कहा कि ''इससे सदा शान्ति बनी रहेगी'', गलत रहा। हुआ यह कि वेलेजली विजयोन्माद में मराठा-सरदारों की युद्धोत्तर भावनाओं को न पहचान सका जिनका अंतर पराजय एवं अपमान के विक्षोभ से धधक रहा था। वास्तव में हुआ भी यही कि वेलेजली द्वारा स्थापित शान्ति शीघ्र ही संकटग्रस्त हो गई। इसके लिए भी किसी सीमा तक वह स्वयं जिम्मेदार था क्योंकि सिन्धिया और भोंसले पर सन्धियों की अपनी व्याख्या, जो केवल निष्ठुर ही नहीं अन्याय संगत भी थी, लादने का प्रयास किया जिसके फलस्वरुप ये दोनों मराठा- सरदार असन्तुष्ट हो गए, किन्तु युद्ध छिड़ा होल्कर से जिसने पिछले युद्ध में भाग नहीं लिया था।''

4.8 तृतीय मराठा युद्ध

द्वितीय मराठा युद्ध के फलस्वरुप अंग्रेज भारत में प्रमुख शक्ति बन गए। होल्कर को छोड़कर भारत के सभी बड़े राज्यों का नियंत्रण अंग्रेजों के हाथ में आ गया। इसके बाद अंग्रेजों और होल्कर के बीच जो युद्ध हुआ उसे तृतीय मराठा-युद्ध कहा जाता है।

तृतीय मराठा युद्ध : कारण तृतीय मराठा युद्ध के कारण भी मूल रुप से तो वे ही सब थे, जो द्वितीय मराठा युद्ध के थे, किन्तु बदलती परिस्थितियों के साथ कुछ मोटी बातें और जोड़ दी जाएँ तो उचित होगा। मराठा-संघ के तीन स्तम्भों (पेशवा, सिन्धिया और भोंसले) के पतन के बाद अब केवल होल्कर ही शेष था जो वेलेजली के नियंत्रण से बाहर था। इन्दौर के इस मराठा शासक ने द्वितीय मराठा युद्ध में भोंसले और सिन्धिया का साथ नहीं दिया था, पर मराठों की इस अपमानजनक पराजय से उसके जातीय अभिमान को इतनी ठेस पहुंची कि उसने अंग्रेजों से बदला लेने का निश्चय कर लिया। उधर वेलेजली भी होल्कर को अपने संरक्षण में लेकर मराठों की अवशिष्ट शक्ति को नष्ट करना चाहता था। यदि वेलेजली होल्कर को भी हरा देता तो नि:सन्देह सम्पूर्ण भारत पर उसका आधिपत्य स्थापित हो जाता।

यशवन्तराव मीरजाफर होल्कर काफी शक्तिशाली मराठा शासक था। सरदेसाई के अनुसार-

''उसकी शक्ति का रहस्य उसके प्रदेशों का विस्तार नहीं, अपितु उसके अनुयायियों की संख्या थी। उत्तर भारत के सब निकाले हुए सैनिक तथा निश्छल परिश्रम अथवा व्यावसायिक योग्यता द्वारा उन्नति करने की अपेक्षा लूट द्वारा समृद्ध होने की इच्छा रखने वाले समस्त

उच्छंखल व्यक्ति उसके झण्डे के नीचे एकत्र हो गए। उसका कोई स्थिर शासन नहीं था। वास्तव में उसका राज्य उसके घोड़े की जीन थी। वह साहसी, स्वेच्छाचारी तथा निःशंक था। उसकी आशा में 60 हजार सवार थे तथा विशाल तोपखाना था।''

नोट

1803 ई. की गर्मियों में होल्कर ने नियमानुसार औरंगाबाद से चौथ बसूल की। जनरल वेलेजली ने भी उसको रोकने का कोई प्रयास नहीं किया। अक्टूबर, 1803 में, जब सिन्धिया और भौंसले बरार में अंग्रेजों के साथ युद्ध में फँसे हुए थे, तब होल्कर ने उज्जैन को लूट लिया और कर- संग्रह करते हुए वह शीघ्रता से जयपुर की ओर बढ़ा। जयपुर, जोधपुर के राजाओं ने पहले ही विभिन्न सहायक सचिवों द्वारा राजधानी में ब्रिटिश सहायक सेना रखना स्वीकार कर लिया था अतः जयपुर के विरुद्ध होल्कर की लूटमार अंग्रेजों के लिए सीधी चुनौती थी, किन्तु होल्कर ने इस समय दोहरी बात चली और जनरल लॉर्ड लेक को आश्वासन दिया कि वह ब्रिटिश मैत्री को बहुमूल्य मानता है तथा जयपुर के सम्बन्ध में केवल अपने परम्परागत अधिकारों का प्रयोग कर रहा है। इसी समय होल्कर ने अपने विशेष संदेशवाहक नागपुर भेजे तथा भोंसले के राजा को प्रेरणा दी कि अंग्रेजों से अपने राज्य और धर्म की रक्षा करने में वह होल्कर का हाथ बँटाए। सरदेसाई के अनुसार-

''होल्कर ने इसी प्रकार के संदेशवाहक जोधपुर के राजा, अम्बूजी इंगले तथा अन्य कई सरदारों के पास भी भेजे। उसने माचेड़ी के राव राजा को पत्र लिखकर सर्वापहारक ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध विद्रोह करने का आह्वान किया। ब्रिटिश अधिकारियों को विश्वास हो गया कि होल्कर ने अब दोहरी बाल आरम्भ कर दी है।''

लॉर्ड लेक ने होल्कर से निपटने के लिए गवर्नर-जनरल लॉर्ड वेलेजली से आज्ञा माँगी। गवर्नर-जनरल ने चाहा कि यदि यशवन्तराव होल्कर काशीराव के हित में अवकाश ग्रहण करले तो उसे जीवन- निर्वाह के लिए पर्याप्त वृत्ति दे दी जाएगी। गवर्नर-जनरल ने लॉर्ड लेक को आदेश दिया कि होल्कर को इस आशय की लिखित चेतावनी दे दी जाए कि ब्रिटिश सरकार आपके साथ मैत्री सम्बन्ध बनाए रखना चाहती है किन्तु वह अंग्रेजों के मित्रों के विरुद्ध कोई अतिक्रमण सहन नहीं करेगी। लॉर्ड लेक ने गवर्नर जनरल की भावनाएं 29 जनवरी, 1804 के एक पत्र द्वारा होल्कर को अवगत करा दी और स्वंय सेना सहित होल्कर के शिविर के पास डट गया।

लॉर्ड लेक का पत्र पाने के उपरान्त होल्कर ने अपने दो प्रतिनिधि लॉर्ड लेक के पास भेजे और अपनी निम्नलिखित मांगें उसके समक्ष पेश की-

1. होल्कर को अपने पूर्वजों के अनुसार चौथ बसूल करने का अधिकार दिया जाए।
2. होल्कर राज्य के पुराने इलाके जैसे इटावा गंगा और जमुना के बीच के 12 जिले और बुन्देल खण्ड का एक जिला-होल्कर को मिल जाना चाहिए।
3. हरियाणा का इलाका, जो पहले होल्कर-कुल के राज्य में था पुनः उसे मिल जाना चाहिए।
4. जो प्रदेश इस समय होल्कर के राज्य में है, उसमें भविष्य में हस्तक्षेप न करने की जमानत होनी चाहिए और जिस तरह की सन्धि अंग्रेजों ने सिन्धिया के साथ की है, उसी तरह की होल्कर के साथ भी की जानी चाहिए।

जो इलाके होल्कर ने अंग्रेजों से मांगे, उनमें से बहुत से इलाके पहले होल्कर राज्य में शामिल रह चुके थे और मराठों की आपसी लड़ाइयों या मराठों और अंग्रेजों की लड़ाइयों में होल्कर कुल से छिन गए थे। इसके अतिरिक्त, ये समस्त इलाके वे थे, जिन्हें वेलेजली ने होल्कर को देने का वायदा कर रखा था।

नोट

जनरल लॉर्ड लेक ने इन मांगों को ठुकराते हुए होल्कर के प्रतिनिधियों को अपने शिविर से निकाल दिया। साथ ही होल्कर को स्पष्ट लिख दिया कि वह केवल 'युक्तिसंगत तथा स्वीकार्य प्रस्ताव' ही भेजे। इस पर होल्कर ने जनरल लेक को अपना प्रसिद्ध चुनौती पूर्ण उत्तर भेजा। सरदेसाई के अनुसार, फरवरी, 1804 में होल्कर ने लिखा-

''युद्ध की दशा में यद्यपि मैं रण क्षेत्र में ब्रिटिश तोप खाने का सामना नहीं कर सकता तथापि सैकडों कोस का प्रदेश पद दलित कर दूंगा। मैं उनको लूट लूँगा और जला दूंगा तथा सतत् युद्ध में मैं अपनी सेना के आक्रमणों द्वारा लाखों मनुष्यों को खून के आँसू रुला दूंगा। मेरी सेना के आक्रमण समुद्र की लहरों की भाँति विनाशकारी होते हैं।''

4.9 युद्ध का आरम्भ (1804-05)

अप्रैल, 1804 में अंग्रेजों ने तीन ओर से होल्कर पर आक्रमण कर दिया। उत्तर से लेक ने, दक्षिण से जनरल आर्थर वेलेजली ने और पश्चिम से कर्नल मोनसन ने आक्रमण किया। स्मिथ के शब्दों में, 'वेलेजली ने अपने पंजे मराठा शिकार में धंसा दिए थे और वह उसे मारे बिना उन पंजों को वापस निकाल भी नहीं सकता था।' तीनों ओर से भीषण आक्रमण किया गया। युद्ध की घटनाओं को संक्षेप में वक्त करते हुए प्रो. दिवाकर ने लिखा है-

''होल्कर ने होशियारी से काम लिया और पूर्व इसके कि तीनों अंग्रेज सेनापति एक दूसरे से मिलें वह मोनसन पर टूट पड़ा। उसने कोटा के निकट मोनसन की सेना का सर्वनाश कर दिया। मोनसन पाँच बटालियन और छः टुकड़ियों की बर्बादी कराके जान बचा कर आगरा भाग गया।''

''अंग्रेज पहले ही होल्कर की शक्ति से डरते थे। जिस निडरता से उसने 18 मार्च, 1804 को अंग्रेजों से चार मांगें की थीं और चौथ वसूल करने का अधिकार हरियाणा प्रदेश व गंगा-जमुना के बीच के 12 जिले और बुन्देलखण्ड का एक जिला अंग्रेजों से मांगे थे। साथ ही अंग्रेजों को भविष्य में मराठों के राज्य में हस्तक्षेप न करने की जो मांग की थी, उससे अंग्रेज सरकार में आतंक छा गया। गृह सरकार भी कांप गई थी और उस पर मोनसन की करारी पिटाई हुई। इस घटना से होल्कर के हौंसले बढ़ गए और उसने दिल्ली को घेर लिया। लेक ने होल्कर के सेनापतियों को अपनी तरफ मिलाना चाहा पर असफल रहा। उधर वेलेजली का भाई मार्ग की कठिनाइयों के कारण वापस लौट गया। अब सिर्फ उत्तर का एक मोर्चा रह गया था। उसने बुन्देलखण्ड पर आक्रमण किया और कर्नल कॉसेट की अधीनता में अंग्रेजी सेना ने फिर करारी मार खाई और कूच के मैदान से हार कर भाग खड़ी हुई। अंग्रेजों की अनेक तोपें, बन्दूकें और गोला-बारुद मराठों के हाथ लगे और मैदान से भागते हुए एक-एक अंग्रेज अफसर व सिपाही को काट कर जल कर दिया गया। कर्नल कॉसेट पहले ही मैदान छोड़ कर भाग गया था। लेक ने इस घटना का वर्णन वेलेजली को लिखे पत्र में किया और अपने उत्तर में 8 जून, 1804 को वेलेजली ने लेक को आदेश दिया कि इस अपमान से अंग्रेजों के हित संकट में पड़ गए हैं- बुन्देलखण्ड की इस दशा के कारण मैं आपको अपनी राय देना आवश्यक समझता हूँ

कि यशवन्तराव होल्कर और उसके साथ लुटेरों को परास्त करने के लिए जिस प्रकार सम्भव हो सके प्रयत्न और परिश्रम करो।''

नोट

अपनी हार और अपमान का बदला लेने के लिए मोनसन ने लेक से तीस हजार घुड़सवार और एक विशाल तोपखाना लेकर होल्कर पर आक्रमण किया। वेलेजली ने सिन्धिया से भी सहायता मांगी, लेकिन पराजित सिन्धिया होल्कर की सहायता के लिए मचल पड़ा। उसने अंग्रेजों को कोई सहायता नहीं दी। उधर गुजरात से कर्नल मरे की अधीनता में आक्रमण की योजना बनाई गई, किन्तु खाद्य सामग्री के अभाव में मरे को वापस लौट जाना पड़ा। मोनसन तो डर के मारे पीछे ही रहा और उसका सेनापति ल्यूकन बन्दी बना लिया गया। फलत: अंग्रेज सेना हार कर तितर-बितर हो गयी। मोनसन ने भी होल्कर की सीमा से बाहर जाकर सांस ली। भागते समय में मोनसन की तोपें यमुना के कीचड़ में फंस गई और जो सिपाही रसद लेने गांवों में गए थे वे लौट कर नहीं आ पाए। इस भगदड़ में मोनसन के सैकड़ों सिपाही मारे गए तथा कई भाग गए। इस प्रकार 17 जुलाई से लेकर 25 अगस्त की रात तक मोनसन पिटता गया और भागता गया। इस तरह चार बार अंग्रेजी सेना होल्कर के हाथों भुट्टों की तरह काट दी गई। इसके बाद मोनसन कुशल गढ़ होता हुआ आगरा पहुँचा। उसने लेक के पास जाकर शरण ली।

आदेश में होल्कर ने दिल्ली पर आक्रमण किया किन्तु उसे जीत नहीं पाया। लेक ने होल्कर पर वपस आक्रमण किया और उसे परास्त करने में सहारनपुर में सफलता मिली। होल्कर को पीछे हटना पड़ा। दिल्ली की रक्षा आक्टर लोनी ने बड़ी कुशलता से की। होल्कर ने दो युद्ध 12 नवम्बर और 17 नवम्बर, 1804 को डीग और फर्रुखाबाद में हारे और वह पीछे हट कर भरतपुर तक आ गया। लेक ने भरतपुर पर आक्रमण किया किन्तु उसे पीछे खदेड़ दिया गया। लेक ने चार बार भरतपुर की दीवारों से सिर मारा किन्तु चारों बार उसे हताश और निराश वापस लौटना पड़ा। लाचार होकर अंग्रेजों को भरतपुर के हिन्दू राजा से उच्चि करनी पड़ी। अंग्रेजों ने अपनी इन पराजयों के आंसू पीछने के लिए होल्कर की गैर हाजरी में मालवा जीत लिया। लेकिन मोनसन की कोटा में और लेक की भरतपुर में जो बेइज्जती हुई उसे अंग्रेज अपने माथे पर से नहीं मिटा सके।

4.10 तृतीय मराठा-युद्ध का अन्त

इतिहासकार स्मिथ ने लिखा है -

''मोनसन की कोटा में पराजय और आगरा पलायन, दिल्ली का घेरा और लेक की भरतपुर में असफलता ने वेलेजली के जादू का अन्त कर दिया। साम्राज्य के लिए दौड़, अन्तिम चरण में रुक गई। गृह सरकार इस बात से तिलमिला उठी कि अंग्रेजों की इज्जत को एक बहुत बड़ा धक्का लग चुका था, कम्पनी का खजाना खाली हो चुका था और होल्कर और सिन्धिया संयुक्त होकर अंग्रेजों के विनाश के लिए खड़े थे। लगातार फौजी गतिविधियों के कारण कम्पनी का ऋण 1997 में 170 लाख से बढ़कर 1805 के समाप्त होते 300 लाख से भी अधिक हो गया था।''

कम्पनी के डाइरेक्टर खुले आम वेलेजली की निन्दा करने लगे और ब्रिटिश मंत्रालय ने वेलेजली की हारों का समर्थन नहीं किया। पिट ने अपनी राय प्रकट करते हुए कहा- गवर्नर जनरल ने बहुत ही नासमझी के साथ गैर-वाजिब काम किए हैं, और उसे किसी भी दशा में सरकार में नहीं रहने दिया जा सकता। फलस्वरुप वेलेजली को वापस बुला लिया गया। और

नोट

उसके स्थान पर 67 वर्षीय लॉर्ड कॉर्नवालिस गवर्नर जनरल बनाया गया। कॉर्नवालिस जुलाई, 1805 में भारत आया और अगस्त में वेलेजली इंग्लैण्ड लौट गया। कॉर्नवालिस ने देखा कि कम्पनी की दशा शोचनीय है, लॉर्ड लेक की सेना को पांच महीने से वेतन नहीं मिला है और सिन्धिया तथा होल्कर संयुक्त होकर अंग्रेजों के विनाश की लीला रच रहे हैं। अतः उसने युद्ध बन्द कर सन्धि करने की नीति अपनाई। वह इस बात को भांप गया कि यदि मराठा संघ पुनः जीवित हो गया तो अंग्रेजी के लिए भारी खतरा उत्पन्न हो जाएगा। पर कोई सन्धि सम्पन्न करने से पूर्व ही 5 अक्टूबर, 1805 को गाजीपुर में कॉर्नवालिस का देहान्त हो गया।

कॉर्नवालिस के बाद शासन का मार कौंसिल के श्रेष्ठ सदस्य जार्ज बार्लो को सम्भालना पड़ा। उसने निष्ठा तथा कठोरतापूर्वक उन समस्त उपायों को कार्यायित किया, जिनकी रुपरेखा भूतपूर्व गवर्नर जनरल ने तैयार की थी। जार्ज बार्लो ने नवम्बर 1805 में सिन्धिया से और दिसम्बर 1805 में होल्कर से सन्धि की। 12 नवम्बर को सिन्धिया से जो सन्धि की गई उसे 'मुस्तफापुर की सन्धि' कहा जाता है। इस सन्धि के फलस्वरुप सिन्धिया ने अपने को अन्तिम रुप से होल्कर से अलग कर लिया। सरदेसाई के अनुसार, इस सन्धि पत्र से रक्षा तथा आक्रमण के शब्द जानबूझ कर निकाल दिए गए, जिससे सिन्धिया युद्ध के पहले के समान अपने स्वतंत्र शासन होने का विश्वास कर सके। इस नवीन सचि से सुजी अर्जुनगांव की सन्धि की मुख्य धाराएं पुष्ट कर दी गयी, चम्बल को दोनों राज्यों की सीमा माना गया। स्वयं सिन्धिया से लिए 4 लाख रुपये नकद का वार्षिक भत्ता स्वीकार किया गया तथा उसकी पत्नी वेजाबाई और पुत्री को पृथक-पृथक 2 लाख रुपये वार्षिक के हिसाब से भत्ता दिया गया। ब्रिटिश सरकार ने उदयपुर, जोधपुर, कोटा, मालवा और मेवात में अन्य राजपूत राजाओं के साथ अपनी नवीन मंत्री त्याग दी। उसने सिन्धिया के सहायक शासकों के साथ कोई सन्धि न की। इसके साथ ही उसने ताप्ती तथा चम्बल के बीच सिन्धिया द्वारा होल्कर से छीने गए प्रदेशों में कोई हस्तक्षेप न करने की प्रतिज्ञा की। इतिहासकार सुन्दरलाल ने लिखा है - ''नवम्बर, 1805 की यह सन्धि महाराजा दौलतराव सिन्धिया के दिए 1805 की सन्धि से निश्चित रुप से कहीं अधिक सम्मान की चीज थी।''

यशवंतराव होल्कर अंग्रेजों के साथ लड़ मरने को कटिबद्ध था। किन्तु अन्त में अपने समर्थकों के भारी दबाव के कारण उसने संघर्ष त्याग दिया और युद्ध समाप्त करने के लिए ब्रिटिश प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। 24 दिसम्बर, 1805 को होल्कर और अंग्रेजों के बीच सन्धि हो गई, जिसे श्राजघाट की सन्धिश कहते हैं। इस सन्धि के अनुसार - होल्कर ने चम्बल नदी के उत्तर पश्चिम के समस्त प्रदेशों पर से अपना अधिकार त्याग दिया तथा अंग्रेजों ने नदी के दक्षिण पूर्व में अधिकृत प्रवेशों पर उसका अधिकार बने रहने का आश्वासन दिया। नर्मदा के दक्षिण में भी होल्कर के प्रदेश वापस दे दिए गए। इस प्रकार तृतीय मराठा युद्ध समाप्त हुआ।

4.11 तृतीय मराठा युद्ध - परिणाम

तृतीय मराठा-युद्ध के अनेक महत्वपूर्ण परिणाम सामने आए। इतिहासकार सुन्दरलाल तथा अन्य इतिहासकारों ने होल्कर तथा अंग्रेजों के मध्य होने वाले इस युद्ध को द्वितीय मराठा युद्ध में ही सम्मिलित किया है। इस युद्ध के परिणामों का आकलन करते हुए सुन्दरलाल ने लिखा है-

1. इस युद्ध से मालिस वेलेजली (गवर्नर जनरल वेलेजली) का वास्तविक उद्देश्य पूरा न हो सका यानी मराठों की सत्ता का अन्त न हो सका। सिवाय पेशवा के और कोई मराठा नरेश

नोट

सब्सीडियरी सन्धि के जाल में भी न फंस सका। किन्तु मराठों की ताकत को सदा के लिए एक बहुत बड़ा धक्का पहुँच गया। इस युद्ध के फलस्वरुप बरार के राजा, पेशवा और सिन्धिया इन तीनों नरेशों के कुछ अत्यन्त उपजाउ इलाके उनसे सदा के लिए छिन गए। कूटनीति और भेदनीति में अंग्रेजों का पलड़ा भारी रहा, किन्तु वीरता या युद्ध कौशल में भारतीयों और दूसरे मराठों के मुकाबले में वे तुच्छ साबित हुए। यही दूसरे मराठा युद्ध का सार है।

2. दूसरे मराठा-युद्ध में भाग लेने वाले भारतीय राजनीतिज्ञ भारतीय स्वाधीनता के निरन्तर बढते हुए क्षय और इस देश में अंग्रेजी राज्य की नींव के दिन प्रतिदिन अधिकाधिक मजबूत होने को न रोक सके। इसका एकमात्र कारण भारतीय नरेशों को एक दूसरे के प्रति अविश्वास की भावना और भारतवासियों में राष्ट्रीयता की भावना का अभाव था। फिर भी इस युद्ध के अन्तिम दिनों में यशवंतराव होल्कर और भरतपुर के राजा का व्यवहार अत्यन्त सराहनीय और भरतपुर के भविष्य की दृष्टि से बेहद गौरवशाली और हितकर रहा। युद्ध के प्रारम्भ से यशवंतराव होल्कर की भूलें अत्यन्त खेदजनक थीं। यदि यशवंतराव अंग्रेजों के हाथों में खेल कर उनकी सहायता न करता तो अंग्रेज सहायक सन्धि का जुआ पेशवा के कंधों पर नहीं लाद सकते थे। उसके बाद भी यदि यशवंतराव मराठा मण्डल के एक सदस्य की हैसियत से अपने कर्तव्य का पालन करता और अंग्रेजों के बहकावे में आकर सिन्धिया और भोंसले की विपत्तियों की ओर से तटस्थ होकर न बैठता तो अंग्रेज असाई, अरगांव और लसवाड़ी के मैदानों में सिन्धिया और बरार के राजा को कभी परास्त न कर पाते और न ही उनके इलाके छिन पाते। फिर भी, इसके बाद से ज्योंही यशवंतराव ने अनुभव किया कि अंग्रेज मुझसे केवल अपना काम निकाल रहे हैं और अन्दर ही अन्दर मेरी जडे खोदने की तैयारियां कर रहे हैं, तो उसे अपनी भूलों पर सच्चा पश्चाताप हुआ। उस समय से ही उसने अंग्रेजों के साथ जम कर युद्ध करना प्रारम्भ किया। यशवंतराव अदि अंग्रेजों के मार्ग में न आया होता और लगातार एक वर्ष से ऊपर उन पर हार पर हार न लादता तो गवर्नर जनरल माविस वेलेजली और उसके साथियों के हौसले दुगुने हो गए होते। राजपूताना और मध्य भारत की रियासतों को हड़पने के समय इतने अधिक महत्व की थी ही नहीं। सेनापति आर्थर वेलेजली, अपने पत्र में गवर्नर जनरल मालिस वेलेजली को लिख चुका था कि पंजाब को सरलता से विजय करके ब्रिटिश राज में मिलाया जा सकता है। सारांश यह है कि फिर दो चार वर्ष के अन्दर हिन्दुस्तान का सारा नक्शा अंग्रेजी रंग में रंग लिया गया होता अर्थात यह यशवंतराव होल्कर और भरतपुर का राजा, दोनों वीरता के साथ अंग्रेजों के मुकाबला न करते तो बाद के भारत की लगभग 700 छोटी-बड़ी देशी रियासतों से शायद एक भी उस समय तक बाकी न बची होती।

इसके अतिरिक्त भारतीय प्रजा के साथ भी अंग्रेजों का व्यवहार फिर दूसरे ही ढंग का होता। सम्भव है कि जिस तरह अंग्रेजों और अन्य यूरोपवासियों ने दूसरे उपनिवेशों में देशी कोमों को मिटा देने के सफल प्रयत्न किए, उसी तरह भारत में भी किए जाते, किन्तु ये सब केवल अनुमान है। इसमें सन्देह नहीं कि यशवंतराव होल्कर और भरतपुर के राजा के साहस ने उस समय भारतवासियों के दिलों से अंग्रेजों के जादू का असर काफी हद तक कम कर दिया और अंग्रेजों के दिलों में भारतवासियों के लिए एक खास इज्जत पैदा कर दी थी। निसंदेह यशवंतराव होल्कर और भरतपुर के राजा के नाम भारतीय वीरों की सर्वोच्च श्रेणी में सदा अंकित रहेंगे।

तृतीय मराठा युद्ध ने मराठों की शक्ति को काफी कम कर दिया और साथ ही मराठों और अंग्रेजों के बीच हुई सचिवों से राजपूत, जो अंग्रेजों के मित्र थे मराठों की दया पर छोड़ दिए गए।

4.12 चतुर्थ मराठा युद्ध (1817-18) कारण

नोट

जब लॉर्ड हेस्टिंग्ज गवर्नर-जनरल बन कर भारत आया तो कम्पनी की स्थिति सुदृढ़ थी, लेकिन पूर्ववर्ती गवर्नर-जनरल द्वारा अहस्तक्षेत की नीति का अनुसरण करने के कारण देशी राज्यों को षडयन्त्र और कुचक्र फैलाने के अवसर मिल गए थे। मराठे अपने पड़ोसी राज्यों में पुनः लुटमार करने लगे थे। वे अपने खोए हुए प्रदेशों को फिर से प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहे थे। मराठों की शक्ति में हुई यह वृद्धि अंग्रेजों के लिए गम्भीर चुनौती बन सकती थी। भारत में लॉर्ड हेस्टिंग्ज ने नेपाल के गोरखों और मध्य प्रदेश, राजपूताना आदि के पिण्डारियों का दमन करने के बाद मराठों वे विनाश की ओर ध्यान दिया। जो घटनाएँ चतुर्थ आंग्ल-मराठा युद्ध के लिए उत्तरदायी बनी, उन्हें हम इस प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं-

1. लॉर्ड हेस्टिंग्ज साम्राज्यवादी था। अतः नेपाल युद्ध के समाप्त होते ही उसकी साम्राज्य विस्तार की पिपासा और अधिक बढ़ गई। हेस्टिंग्ज ने 6 फरवरी, 1814 को निजी रोजनामचे में अपनी उस समय की नीति का संकेत करते हुए लिखा था-

''हमारा उद्देश्य यह होना चाहिए कि यदि खुले तौर पर नहीं तो कम से कम अगली तौर पर, अंग्रेज सरकार को इस देश का अधिराज बना दिया जाए। देश की बाकी सब रियासतें, यदि कहने के लिए न भी सही, तो भी वास्तव में हमारी सत्ता के अधीन, हमारे सामन्तों की तरह रहनी चाहिए। उन सबका एक तो यह कर्तव्य होना चाहिए कि जब भी उन्हें बुलाया जाए, दे अपनी सब सेनाओं सहित अंग्रेज सरकार की मदद करें। दूसरे, जब भी उन रियासतों में कोई आपसी झगड़े हो तो वे बिना एक दूसरे के इलाके पर हमला किए, उन झगड़ों को हमारे सामने पेश करें।''

अतः अब लॉर्ड हेस्टिंग्ज का मुख्य उद्देश्य था- तत्कालीन भारत की सबसे बड़ी ताकत- मराठों की ताकत को समाप्त कर उनके उर्वरक प्राप्तों को कम्पनी के साम्राज्य में मिलाना। हेस्टिंग्ज इस बात को भली प्रकार जानता था कि जब तक पेशवा पद कायम है। तब तक मराठा एकता की चिनगारी बुझती हुई भी मराठा शक्ति में पुनः आग फूंक सकती है। वह इस बात से भी परिचित था कि भारत में मुगलों का स्थान लेने वाली केवल दो ही शक्तियां हो सकती है या तो मराठे या अंग्रेज नेपाल-युद्ध से छुटकारा पाते ही उसने (हेस्टिंग्ज ने) पेशवा भोंसले, सिन्धिया और होल्कर की सरहदों के बाहर विशाल सेनाएं जमा करनी शुरु कर दी।

2. यह स्पष्ट था कि मराठों से अंग्रेजों के अब मित्रतापूर्ण सम्बंध नहीं रह सकेंगे और यही ठीक समझा गया कि बिना मराठों को पूर्ण रुप से अधीन किए अंग्रेज भारत के शासक नहीं बन सकेंगे। ऐसी दशा में हेस्टिंग्ज के सामने दो ही मार्ग थे कि मराठों का सामना करने को पूर्ण रुप से तैयार रहे या फिर अक्सर से पहले ही मराठों पर स्वयं आक्रमण कर दे। हेस्टिंग्ज ने अंग्रेजी हितों को देखते हुए मराठा शक्ति से निपट लेना ही उचित समझा। अतः चतुर्थ मराठा युद्ध आवश्यक हो गया।

3. मराठे दूसरे और तीसरे युद्ध की पराजय का प्रतिकार करना चाहते थे। मराठा सरदार अपने। इस अपमान का कारण पारस्परिक फूट समझते थे। अतः वे परस्पर सुसंगठित होने के प्रयत्नों में संलग्न थे। अंग्रेज मराठा संघ के पुनर्जीवित होने से पहले मराठों को कुचल देना चाहते थे।

नोट

4. पेशवा बाजीराव द्वितीय अंग्रेजों के नियंत्रण से मुक्त होने के लिए मराठों को संगठित करने में व्यस्त था और पूना स्थित अंग्रेज रेजीडेण्ट उसकी गतिविधियों को बड़े सन्देह की दृष्टि से देख रहा था। पेशवा ने सहायक सन्धि प्रथा को स्वीकार कर मराठों के माथे पर कलंक का जो टीका पोत दिया था, वह मराठा सरदारों के लिए असह्य था। मराठा- सरदार अपने नेता के गौरव को इस प्रकार गिरता हुआ नहीं देख सकते थे। सम्पूर्ण मराठा मण्डल इस सन्धि के विरुद्ध था और अपने इतिहास से इस लांछन को मिटा देना चाहता था कि मराठे कभी अंग्रेजों के अधीन हुए थे। अंग्रेजों के नियंत्रण से मुक्ति पाने के लिए पेशवा बाजीराव ने, बेसीन की उच्चि के तुरन्त बाद ही, अपनी सैनिक शक्ति को सुदृढ़ करना प्रारम्भ कर दिया था।

4.13 युद्ध का प्रारम्भ

इन सभी कारणों से मराठा और अंग्रेजों के मध्य चौथी बार युद्ध अनिवार्य हो गया। इन दिनों मराठा संघ में पांच प्रमुख सदस्य थे- पेशवा, सिन्धिया, भोंसले, होल्कर और गायकवाड़। चूंकि गायकवाड़ अंग्रेजों से पहले ही जा मिला था, अतः हेस्टिंग्ज को केवल चार मराठा शासकों पेशवा, भोंसले, होल्कर और सिन्धिया को समाप्त करना था। हेस्टिग्ज ने सभी मराठा सरदारों को अलग-अलग युद्ध में पराजित किया तथा उन्हें संगठित होने से रोका। चौथे मराठा युद्ध में अंग्रेजों ने पेशवा का नामोनिशान ही मिटा दिया। भोंसले का अधिकांश राज्य हड़प लिया गया। होल्कर की सेना को परास्त कर राजा-विहीन, स्वतंत्रता प्रेमी सैनिकों को तितर बितर कर दिया गया। उसका लगभग आधा राज्य हड़प लिया गया। और तो और, सिन्धिया जो विवश होकर दूर से ही मराठों के पतन का अवलोकन कर रहा था, उसके भी दांत तोड़ दिए गए और अजमेर आदि राज्य उससे छीन लिए गए। सिन्धिया को भी अपनी अकर्मण्यता की पूरी कीमत देनी पड़ी। गायकवाड़ जो चुपचाप सारा तमाशा देख रहा था उसे भी अपनी भीरुता का दण्ड भोगना पड़ा। अभिप्राय यह है, कि पांच में से तीन मराठा सरदारों को युद्ध के मैदान में हराकर अंग्रेजों ने घुटने टेकने को विवश कर दिया। शेष दो का रस तो प्रेम से ही निचोड़ लिया गया। इस प्रकार सन् 1817 से 1818 के बीच हेस्टिंग्ज ने मराठा संघ के महलों को खण्डहर बना दिया।

निश्चित योजनानुसार 30 अक्टूबर, 1817 की शाम को जनरल स्मिथ और कर्नल पर के अधीन पूरी अंग्रेज पलटन ने पूना की छावनी में प्रदेश किया। पेशवा समझ गया कि अंग्रेज युद्ध करने पर उतारू हैं। लॉर्ड हेस्टिंग्ज अपने सेनापति नेपियर को 7 अप्रैल, 1817 को ही आदेश दे चुका था कि वह युद्ध के लिए तैयार रहे। इस आदेश में कहा गया था- ''पेशवा और अंग्रेजों के बीच युद्ध होने वाला है और आप पेशवा के गुजरात के हिस्से तथा कोंकण के उत्तरी भाग पर अधिकार करने के लिए तैयार रहे।'' इन दो आक्रमणात्मक कार्यवाहियों द्व ारा अंग्रेज पेशवा का नाम मिटा देने पर तुल गए।

पेशवा दुर्बल था। अंग्रेजों ने उसे चारों तरफ से घेर लिया। उत्तर से नेपियर, पश्चिम से स्मिथ और दक्षिण से मैल्कम ने पेशवा के राज्य पर आक्रमण किया। पेशवा की सेना ने तीन युद्ध लड़े परन्तु तीनों में उसे कोई लाभ नहीं हुआ। कोरीगांव और आष्टी नामक स्थानों पर युद्ध में भी पेशवा को सफलता नहीं मिली। 5 नवम्बर, 1871 को पूना के निकट किरकी नामक स्थान पर अंग्रेजों और पेशवा की सेनाओं के बीच घमासान युद्ध हुआ। इस युद्ध में पेशवा की सेना का प्रधान सेनापति बापू गोखले था। ''गोखले की देशभक्ति, उसके युद्ध कौशल या उसकी वीरता, किसी से भी काम न चल सका। बालाजी पन्तू नाते और यशवन्तराव घोरपड़ जैसे अनेक

नोट

विश्वासघातियों से पेशवा की सेना छलनी-छलनी हो चुकी थी। ये लोग न केवल पग-पग पर अपने यहां की खबरें अंग्रेजों को पहुंचाते रहते थे वरन् गोखले के प्रयत्नों को असफल करने की भी अपनी शक्ति भर कोशिश कर रहे थे। जनरल स्मिथ की सेना पहले मैदान में पहुंची। कर्नल दर की सेना इसके कुछ बाद आकर मिली। गोखले की इच्छा थी कि कर्नल बर की सेना के आने से पहले ही जनरल स्मिथ की सेना पर हमला कर दिया जाए। किन्तु उसके कुछ नमकहराम साथियों ने उसकी इस इच्छा को पूरा न होने दिया। इसके अतिरिक्त, ऐन मौके पर गोखले की फौजों ने भी उसका साथ छोड़ दिया।'' पेशवा बाजीराव अनिश्चय तथा भय के कारण पूरी योग्यता के साथ युद्ध संचालन न कर सका।

परिणाम यह हुआ कि किरकी के संग्राम में अंग्रेजों की विजय हुई। पेशवा बाजीराव को बापू गोखले और कुछ सैनिकों के साथ मैदान से हट जाना पड़ा। इसके बाद पेशवा और कम्पनी की सेनाओं में कई और छोटे-छोटे संग्राम हुए जिनमें विजय कभी इस ओर और कभी उस ओर रही। इन्हीं में से एक संग्राम में अष्टी के निकट 19 फरवरी, 1818 को बापू गोखले वीरगति को प्राप्त हुआ। पेशवा और अंग्रेजों के बीच यह अन्तिम घमासान युद्ध था। अपने सेनापति गोखले की मृत्यु से पेशवा बाजीराव का साहस और छ गया। उधर, इस युद्ध के कुछ दिन पूर्व ही, गवर्नर जनरल की आज्ञा से ब्रिटिश रेजीडेंट एलीफन्सटन ने एक घोषण ाा प्रसारित कर दी जिसमें कहा गया था कि जो लोग बाजीराव की सेवा में हैं उनको चाहिए कि वे यह सेवा छोड़कर दो महीने के अन्दर अपने निवास स्थानों को वापस चले जाएं। यदि वे ऐसा नहीं कर सके तो वे नष्ट कर दिए जाएंगे। बाजीराव की सेश में जो सार्वजनिक अधि कारी हैं, उनको चाहिए कि वे अपनी सूचना भेज दें तथा अपने घरों को वापस चले जाएं। उन्हें चाहिए कि वे बाजीराव को कोई सहायता अथवा राजस्व कर के रुप में थोड़ा भी धन न दें। सार्वजनिक अधिकारी यदि बाजीराव को सहायता देंगे तो उनके वेतनों और सार्वजनिक भूमियों का अपहरण कर लिया जाएगा। अंग्रेजों की इस घोषणा और बापू गोखले की मृत्यु से बाजीराव की समस्त आशाओं पर तुषारापात हो गया। मुख्य ब्रिटिश सेना उसके पीछे लग गई ओर बाजीराव के अनेक अनुचरों ने उसका पक्ष त्याग दिया। अब कोई स्थान ऐसा नहीं रह गया था जहाँ बाजीराव शरण ले सके।

पेशवा बाजीराव इस आशा से उत्तर की ओर भागा कि दौलतराव सिन्धिया क्या नागपुर के अप्प साहेब उसको शरण देंगे लेकिन मार्ग में ही उसे पता चला कि अपा साहेब को पहले ही बन्दी बना लिया गया है और सिन्धिया के सैनिक अधिकारी भी उसे किसी भी प्रकार की सहायता देने में असमर्थ हैं। विवश होकर बाजीराव ने जून, 1818 में सर जॉन मैल्कम से सुलह की बातचीत की।

1. पेशवा का राज्य अंग्रेजी राज्य में मिला लिया गया। पेशवा-पद सदा के लिए समाप्त हो गया।
2. पेशवा को 80 हजार पौण्ड की वार्षिक पेन्शन दे दी गई। उसे उत्तर प्रदेश में कानपुर से 12 मील उत्तर पश्चिम में बिठूर की जागीर दी गई जहाँ उसने जीवन के शेष वर्ष ग्लानि और प्रायश्चित में काटे।
3. पेशवा के स्वामिभक्त मंत्री त्र्यम्बक को पेशवा से 200 मील दूर बनारस के पास चुनार के किले में बन्दी बनाकर रखा गया जहाँ इस देशभक्त ने कैद की कोठरी में सिसक-सिसक कर प्राण त्याग दिए।

इस प्रकार पेशवा राज्य का अन्त हुआ और अन्तिम पेशवा बाजीराव का, 32 वर्ष पदच्युत रहने के बाद, 1850 ई. में 75 वर्ष की आयु में देहान्त हुआ। सरदेसाई के अनुसार पेशवा का देहान्त 28 जनवरी, 1851 ई को हुआ।

नोट

4.14 भौंसला परास्त

सिन्धिया से राजपूताना पहले ही छीना जा चुका था, पेशवा की गद्दी समाप्त हो चुकी थी, गायकबाड़ अंग्रेजों की अधीनता स्वीकार कर ही चुका था, अब केवल दो और मराठा राज्य बाकी थे – नागपुर का भोंसले राज्य और इन्दौर का होल्कर राज्य। दूसरे मराठा युद्ध के समय से अब तक राघोजी भोंसले नागपुर का राजा बना हुआ था। अंग्रेज भोंसले की गतिविधियों पर पूरी नजर रखते थे। जनरल वेलेजली ने नागपुर के अंग्रेज रेजीडेण्ट को लिखा था कि रामचन्द्र राव को अपनी तरफ मिला लो। अंग्रेजों ने भोंसले के गुप्त भेद जानने के लिये रामचन्द्र राव को 6,000 रुपया सालाना गुप्त पेंशन देना शुरु कर दिया। रामचन्द्र राव भोंसले दरबार की समस्त गुप्त खबरें रेजीडेण्ट तक पहुँचा देता था। यही से इन्हें पेशवा के भेजे गए दूत और मराठा–संघ में पुनः एकता स्थापित करने के प्रयासों का पता चला था। तभी से अंग्रेजों ने भोंसले घराने में फूट डालकर उसका अन्त करने का निश्चय कर लिया था।

1816 ई. में राघोजी सिन्धिया की मृत्यु हो जाने पर उसका पुत्र परसोजी नागपुर की गद्दी पर बैठा। शारीरिक और मानसिक अस्वस्थता के कारण उसे एक संरक्षक की आवश्यकता थी। संरक्षक के इस पद के लिये राघोजी की विधवा पत्नी और उसके भतीजे अप्पा साहेब में गृह–कलह शुरु हो गई। लॉर्ड हेस्टिंग्ज ने इस आन्तरिक फूट का लाभ उठाकर अप्पा साहेब के साथ एक सहायक सन्धि सम्पन्न की जिससे भोंसले की स्वतंत्रता लगभग समाप्त हो गई। राज्य की शक्ति अपने हाथ में आते ही अपा साहेब ने पेशवा परसोजी का वध करवा दिया और स्वयं नागपुर की गद्दी पर बैठ गया। अप्पाजी भौंसले ने अंग्रेजों की सहायक सेना स्वीकार कर ली। जो ब्रिटिश सहायक सेना रखी गई उसका खर्च लगभग 30 लाख रुपये सालाना था।

जब पेशवा बाजीराव से अंग्रेजों का संघर्ष छिड़ा तब अप्पा साहेब ने भी स्वयं को अंग्रेजी प्रभाव से मुक्त करने का उपयुक्त अवसर खोज लिया। जिस समय पूना के निकट पेशवा ने ब्रिटिश रेजीडेन्सी को जला दिया उसी समय अप्पा साहेब ने अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध प्रारम्भ कर दिया। वैसे इसके पूर्व ही नवम्बर, 1817 ई. में जेनकिन्स के नेतृत्व में अंग्रेजी फौजें भोंसले से युद्ध की पूरी तैयारी कर चुकी थी। 26 नवम्बर, 1817 ई. को प्रातःकाल ही रेजीडेन्सी के निकट सीताबल्डी की पहाड़ियों पर अंग्रेजी फौजें खड़ी कर दी गई। इस विशाल सैनिक दल को ठीक राजधानी के सामने देखकर नागपुर के मराठा सरदार घबरा गए। अप्पाजी भोंसले और उसके कुछ साथी युद्ध को टालना चाहते थे, लेकिन दूसरे सरदार फौरन अंग्रेजी सेना पर हमला कर देने के पक्ष में थे। आखिर अप्पाजी की इच्छा के विरुद उसकी कुछ सेना ने 26 नवम्बर की शाम को सीताबल्डी की फौज पर हमला कर ही दिया। अंग्रेजी सेना अव्यस्थित और तैयार थी। दूसरी ओर की सेना व्यस्थित और अनिश्चित थी। परिणाम यह हुआ कि मराठा सेना को हार कर पीछे हट जाना पड़ा।

अप्पाजी भोंसले अपनी इस आकस्मिक पराजय से घबरा गए। उन्होने रेजीडेण्ट जेनकिन्स के पास समाचार भेजा कि मेरी सेना ने मेरी आज्ञा के बिना ही आक्रमण कर दिया है। अतः इसके बदले में मैं क्षतिपूर्ति करने को तैयार हूँ। जेनकिन्स चालाक आदमी था उसने गवर्नर

नोट

जनरल का आदेश पाने तथा और अधिक सेना आ जाने तक शान्ति रखना ही उचित समझा। इसलिए उसने अप्पाजी भोंसले को समझा दिया कि अब बात गवर्नर-जनरल के हाथ में है और जैसा उसका आदेश आएगा वैसा ही उसे करना होगा। फिर भी यदि मराठा सेना को फौरन अमुक अमुक स्थान से पीछे हटा दिया जाएगा तो गवर्नर-जनरल की आज्ञा आने तक वह युद्ध बन्द करने के लिए तैयार है। अप्पाजी ने रेजीडेन्ट की शर्त स्वीकार कर ली और 27 नवम्बर की रात को मराठा सेना, जिस-जिस स्थान से जेनीकन्स ने कहा था, हटा ली गई।

29 नवम्बर, 1817 ई. को कम्पनी की कुछ और पलटने नागपुर पहुँच गई। अंग्रेजी सेनाएँ इसके बाद भी बराबर नागपुर पहुँचती रही और अन्त में 14 दिसम्बर, 1817 ई. को जेनकिन्स ने निम्नलिखित अपमानजनक शर्त अप्पा साहेब के पास भेज दी और साथ ही यह भी कहला भेजा कि यदि 16 तारीख की सुबह तक इन शर्तो को स्वीकार न किया गया तो मराठा सेना के ऊपर चारों ओर से हमला कर दिया जाएगा। शर्तो का सार निम्न था-

1. राजा अप्पा साहेब इस बात को स्वीकार करें कि उनकी सेना ने अंग्रेजी सेना पर हमला करके अपराध किया है। इसके दण्डस्वरुप सारी रियासत अंग्रेजों की हो चुकी है अत: अप्पा साहेब केवल अंग्रेज कम्पनी की दया से अपने लिए कुछ आशा कर सकते हैं।
2. राजा की सारी युद्ध-सामग्री तोप खाने इत्यादि कम्पनी के हवाले कर दिए जाएँ। बाद में जब रियासत के सैनिकों की संख्या निश्चित हो जाएगी तब इस सामान का एक भाग उन्हें वापस कर दिया जाएगा।
3. रेजीडेन्ट के साथ मिलकर राजा अपनी सारी अरबी सेना को जितनी जल्दी हो सके, बरखास्त कर देगा।
4. राजा की सेना फौरन, जिस स्थान पर अंग्रेज कहें, चली जाएगी।
5. फिलहाल नागपुर, का नगर खाली कर दिया जाए और कम्पनी की सेना उस पर कब्जा कर ले। बाद में सन्धि हो जाने पर नगर वापस दे दिया जाएगा।
6. राजा स्वयं अंग्रेजों की छावनी में चला जाए और जब तक सब मामला तय न हो जाए, वही रहे, इत्यादि।

इसके बदले में जेनकिन्स ने यह वायदा किया कि यदि अपा साहेब इन सब शर्तो को स्वीकार कर लेगा तो नागपुर का पूरा राज्य ज्यों का त्यों अप्पा साहेब को दे दिया जाएगा और अंग्रेज अप्पा साहेब के शत्रुओं से उसकी रक्षा करेंगे।

यद्यपि अंग्रेजों की ये शर्ते बहुत अपमानजनक थीं, किन्तु अपा जी परवश और कायर थे। अत: उन्होंने ये शर्त मंजूर कर लीं, किन्तु नागपुर की सेना में कुछ ऐसे लोग भी थे जो इस 'आत्म-हत्या' के लिए तैयार नहीं थे। मराठा सैनिक अपनी आजादी के लिए मर मिटना चाहते थे और भोंसले के अरबी सैनिक भी उनके साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर लड़ने को तैयार थे। अप्पा जी का विचार था कि झुक जाने से अंग्रेजों को दया आ जाएगी और वे भोंसले राज्य का अंत नहीं करेंगे। अत: अप्पा जी ने ब्रिटिश रेजीडेन्ट को पत्र लिख कर भेजा कि मैं तो अंग्रेजी छावनी में आना चाहता हूँ किन्तु मेरे साथी मुझे नहीं आने देते। उधर, नागपुर की सेना ने अप्पा जी की आज्ञा मानने से अर्थात् अंग्रेजों को समर्पण करने से इनकार कर दिया। काफी दवाब पड़ने पर अप्पाजी ने साहस बटोरा और उसकी लगभग बीस हजार सेना ने जेनकिन्स

नोट

की छोटी सेना पर आक्रमण कर दिया, किन्तु युद्ध में मराठा सेना की पूर्ण पराजय हुई। इसके कुछ समय बाद नागपुर में फिर दोनों सेनाओं में लड़ाई हुई। इस बार भी विजय अंग्रेजों को ही मिली। अप्पाजी भोंसले मैदान छोड़कर भाग खड़े हुए। असीरगढ़ के सेनापति ने अपाजी की सहायता की किन्तु दिसम्बर, 1817 ई. में अप्पाजी असीरगढ़ का अन्तिम युद्ध भी हार गए। विवश होकर अप्पाजी ने अंग्रेजों से संधि कर ली। 30 दिसम्बर, 1817 ई. को अप्पा जी पर जो सन्धि थोपी गई उसमें निम्न व्यवस्थाएँ की गई थी-

1. नर्बदा नदी के उत्तर का सारा प्रदेश व नदी के दक्षिण में बरार, गाविलगढ, सरगूजा और जशपुर कम्पनी को दे दिए जाएँ।
2. अप्पाजी अपने मंत्रियों की नियुक्ति कम्पनी की स्वीकृति से करेंगे और रेजीडेण्ट की राय से प्रशासन चलाएँगे।
3. नागपुर में अप्पाजी के महल की देखरेख अंग्रेजी सेना करेगी।
4. सहायक सन्धि द्वारा स्वीकृत तीस लाख रुपये सालाना की दो साल की बकाया रकम कम्पनी को शीघ्र दी जाए।
5. भोंसले राज्य के सभी महत्वपूर्ण किले, जो-जो अंग्रेज चाहे, वे उनको दे दिए जाएँ।
6. राज्य के अंग्रेज विरोधी जिन-जिन लोगों को अंग्रेज चाहें, उन्हें पकड़ कर अंग्रेजों के हवाले कर दिया जाएं।
7. सीताबल्डी की पहाड़ियाँ और वहाँ की भूमि अंग्रेजों को दे दी जाए ताकि दे इच्छानुसार वहाँ पर किले बन्दी कर लें।

स्पष्ट है कि यह सन्धि भोंसले के लिए बेहद अपमानजनक थी। इन शर्तों से तो अच्छा था कि अंग्रेज अप्पाजी भोंसले का सारा राज्य ले लेते। अप्पा जी उस समय सिर्फ बाईस वर्ष के थे और हेस्टिंग्ज को अपना चाप तथा जेनकिन्स को अपना 'बड़ा भाई' मानते थे। उन्होने रेजीडेन्ट से अनुरोध किया कि इस प्रकार राज्य देने से तो अच्छा है कि वे सारा राज्य स्वंय ही ले लें। किन्तु उनकी फरियाद नहीं सुनी गई, उल्टे अप्पाजी पर गद्दार होने का आरोप लगाकर बन्दी बना लिया गया। अप्पाजी भाग निकले। उन्होने पंजाब में राजा रणजीत सिंह के यहाँ शरण ली। जब पंजाब अंग्रेजों का प्रभाव बढ़ने लगा तो अप्पाजी जोधपुर चले गए जहाँ 1840 ई. में उनका देहान्त हो गया।

4.15 होल्कर की पराजय और संधि

हेस्टिंग्ज बार-बार के इस आंग्ल-मराठा-संघर्ष से तंग आ चुका था अत: इस युद्ध में वह मराठा-संघ का सम्पूर्ण विनाश करना चाहता था। इसलिए उसने होल्कर के राज्य को भी नहीं बख्शा। इस राज्य की दशा दिन- प्रतिदिन बिगड़ती जा रही थी। यशवन्तराव होल्कर की पत्नी तुलसीबाई की हत्या हो जाने के बाद तो राज्य की स्थिति और भी खराब हो गई थी। पेशवा बाजीराव द्वारा संघर्ष छेड़ देने पर होल्कर ने भी अंग्रेजों से अपनी रक्षा का उपयुक्त अवसर पाकर, पेशवा के पक्ष में युद्ध की घोषणा कर दी। 20 दिसम्बर, 1817 ई. को अंग्रेजों और होल्कर की सेनाओं में शिप्रा नदी के किनारे महीदपुर नामक स्थान पर घमासान युद्ध हुआ। युद्ध में होल्कर की सेना पराजित हुई। फलत: 6 जनवरी, 1818 ई. को मन्दसौर नामक स्थान पर होल्कर को अंग्रेजों के साथ एक सहायक सन्धि करनी पड़ी जिसके अंतर्गत निम्नलिखित व्यवस्थाएँ की गई थीं-

1. होल्कर ने राजपूत-राज्यों पर से अपना हक वापस ले लिया। उन्हें अंग्रेजों का संरक्षित माना गया।
2. नर्मदा के दक्षिण के सभी प्रदेश कम्पनी को दे दिए गए।
3. अमीर खाँ को टाँक का नवाब और गफूर खाँ को जावरा का नवाब स्वीकार किया गया।
4. होल्कर ने अपने दरबार में एक अंग्रेज रेजीडेन्ट रखना स्वीकार किया।
5. सहायक सेना इन्दौर में रहने लगी जिसका खर्च होल्कर ने देना स्वीकार किया।
6. उसने अंग्रेजों के साथ सहयोग व संदभावना बनाए रखने का वायदा किया।
7. होल्कर ने अंग्रेजों की इच्छा के बिना किसी राज्य से संधि या युद्ध न करने का आश्वासन दिया।

नोट

इस प्रकार, हेस्टिंग्ज होल्कर को कम्पनी के अधीन करने में सफल हुआ। होल्कर की दो-तिहाई आमदनी का प्रदेश अंग्रेजों के अधिकार में आ गया और उसकी वार्षिक आमदनी जो सात लाख पौण्ड सालाना थी, वह अब घट कर सिर्फ बीस लाख पौण्ड रह गई।

पेशवा, भौंसले और होल्कर की शक्ति का अन्त करने के बाद मराठा-संघ में केवल सिन्धिया और गायकवाड़ ही शेष रहे। यद्यपि इन दोनों ही ने, न तो अंग्रेजों के विरुद्ध कोई विद्रोह किया और न ही काई षड्यन्त्र रचा, तथापि लॉर्ड हेस्टिंग्ज ने इनको भी अपना शिकार बनाया क्योंकि उसका। उद्देश्य तो मराठा शक्ति को पूर्णत: कुचलना था।

सिन्धिया को सफलतापूर्वक मराठा-युद्ध से अलग रखा गया था। पिण्डारियों के दमन के बहाने से अंग्रेजी सेना ने सिन्धिया की राजधानी को चारों तरफ से घेर लिया। पिण्डारी तो चम्बल -घाटी में दक्षिण की तरफ भाग गए, लेकिन अंग्रेजी सेना वहाँ बनी रही और चारों तरफ से घिरा सिन्धिया विवश। होकर पेशवा, भोंसले और होल्कर का पतन देखता रहा। सिन्दिया पर यह आरोह लगाया गया कि वह पिण्डारियों से सहानुभूति रखता है और अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध प्रारम्भ करना चाहता है। इसके साथ ही हेस्टिंग्ज राजस्थान के राजपूत राजाओं को अपनी तरफ मिलाने तथा उन्हें अपने अधीन करने का प्रयत्न भी करता रहा। हेस्टिंग्ज का यह कार्य द्वितीय मराठा युद्ध के बाद अंग्रेजों और सिन्धिया के बीच हुई सन्धि का स्पष्ट उल्लंघन था, जिसमें यह साफ लिखा था कि अंग्रेज राजपूत राज्यों को अपना प्रभाव क्षेत्र नहीं बनाएँगें। हेस्टिंग्ज के अनुसार राजपूत राजाओं से मित्रता न बढ़ाने की शर्त अंग्रेजों के लिए अपमानजनक थी, अत: इस शर्त को तोड़ना आवश्यक था। वह इस बात को भी भली प्रकार से समझता था कि मराठों की तरह राजपूत कभी एक होकर लड़ नहीं सकेंगे और इसीलिए उन्हें अंग्रेजों की ओर झुकाना सम्भव होगा।

जब सिन्धिया पर अंग्रेजों का दवाब निरन्तर बढ़ता गया और उसे चारों तरफ अंग्रेजी सेना ही नजर आने लगी तो उसने विवश होकर अंग्रेजों के साथ एक बार फिर सहायक सन्धि दोहरा ली। सिन्धिया (दौलतराव) ने 5 नवम्बर, 1817 ई. को एक नई सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिए जिसके अनुसार-(1) उसने पिण्डारियों के विरुद्ध अंग्रेजों को सहायता देने का वचन दिया। (2) राजपूत राज्यों के अपने सभी अधिकार अंग्रेजों को सौंप दिए। कोटा, बूंदी और करौली क्षेत्र अंग्रेजों को दे दिए। (3) अजमेर भी अंग्रेजों को दे दिया गया, जहाँ रेजीडेन्ट रखकर वे राजस्थान की अन्य रियासतों से सम्पर्क स्थापित कर सकते थे।

नोट

इस प्रकार, नई सहायक सन्धि के फलस्वरुप दौलतराव सिन्धिया की स्वाधीनता समाप्त कर दी गई। सिन्धिया की सीमा में परिवर्तन किए गए और उसकी शक्ति का अन्त कर दिया गया। वह पूरी तरह से अंग्रेजों की अधीनता में आ गया। अंग्रेज सिन्धिया की शक्ति से भयभीत थे। हेस्टिंग्ज ने लिखा हैं-

''यदि सिन्धिया, जो दूसरे राजाओं से कहीं अधिक शक्तिशाली था उस समय अपनी अभ्यस्त सेनाओं और सुन्दर व सुव्यवस्थित तोपखाने सहित मैदान में उतर आता तो मराठा-मण डल के बाकी नरेशों को भी इतने अधिक स्थानों पर शस्त्र उठाने का समय मिल जाता। उससे हमें अपनी कार्यवाहियों में बहुत सावधान रहना पड़ता और हमें बहुत देर लग जाती तथा हमारा खर्च बहुत बढ़ जाता।'' सिन्धिया को अधीन बनाकर अंग्रेजों ने राहत की साँस ली।

गायकवाड़ ने भी मराठा युद्ध में कोई भाग नहीं लिया था। वह निरन्तर अंग्रेजी कम्पनी का मित्र बना रहा, लेकिन लॉर्ड हेस्टिंग्ज ने उससे भी नई सहायक सन्धि की। फतेह सिंह जो गायकबाड़ आनन्दबाड़ का संरक्षक बनकर राज्य कर रहा था, सहायक सन्धि प्रथा को दोहराने के लिए तैयार हो गया। नवम्बर, 1817 ई. में की गई इस नई सन्धि के अनुसार गायकवाड़ ने अपने राज्य में सहायक सेना की संख्या में वृद्धि कर ली और इस सेना के खर्च के लिए अहमदाबाद तथा उसके आसपास का प्रदेश कम्पनी को सौंप दिया। इस प्रकार मराठा मण्डल का पाँचवाँ और अन्तिम सरदार भी अंग्रेजों की जंजीरों में जकड़ गया। जो काम वेलेजली अधूरा छोड़ गया था उसे लॉर्ड हेस्टिंग्ज ने पूरा कर दिया। जिन मराठों के डर कर डाइरेक्टरों ने वेलेजली को वापस बुला लिया था, उन्हीं मराठों को हेस्टिंग्ज ने अपनी कूटनीतिक दूरदर्शिता से एक-एक कर अपने अनुयायियों में परिणित कर लिया।

4.16 चौथा मराठा युद्ध : परिणाम

मराठों के पतन में जितना महत्व पानीपत के तीसरे युद्ध का है उतना हो मराठों के चौथे युद्ध का भी है। इस युद्ध के अनेक तात्कालिक और दूरगामी परिणाम हुए, जिन्होंने भारतीय राजनीति को प्रभावित किया-

1. मराठों के चौथे युद्ध ने देश के भाग्य की बागडोर अंग्रेजों के हाथ में सौंप दी। इस युद्ध से मराठा शक्ति का अंत हो गया। यह मराठों का अन्तिम राष्ट्रीय युद्ध था। जिसमें भी वे अंग्रेजों के विरुद्ध पूरी तरह एक न हो सकें। ग्वालियर का सिन्धिया तथा बड़ौदा का गायकवाड़ इस युद्ध से अलग हो गये। अंग्रेजों से अधिक साधन-सम्पन्न और विशाल प्रदेश को सामिल तथा शूरवीर होने पर भी मराठा संघ पारस्परिक द्वेष के कारण सैनिक दृष्टि से खण्ड-खण्ड हो गये, वे अंग्रेजों की बुद्धि और कूटनीति के शिकार बन गए। उन्होने न केवल अपना साम्राज्य खोया। बल्कि उनकी आपसी फूट ने भारत को भी पराधीनता की बेड़ियों में जकड़ दिया। मराठों की इस अन्तिम और निर्णायक पराजय के फलस्वरुप पेशवा, होल्कर, भौंसले सभी अपने राज्य खो बैठे अथवा अपने अधिकांश प्रदेशों से हाथ धो बैठे। अब मराठे पूरी तरह अंग्रेजों के संरक्षण में आ गए। इस प्रकार अंग्रेज अपने एक महान् प्रतिद्वंदी को समाप्त करने में सफल हुए। इस युद्ध का दूसरा परिणाम था कम्पनी का राज्य विस्तार।

2. इस युद्ध के बाद अंग्रेजों के राज्य की सीमा बम्बई से आगरा तक बढ़ गई, सूरत, अहमदाबाद और अजमेर उनके मुख्य केन्द्र बन गए। गोवा से कोल्हापुर तक का समुद्री किनारा उनके अधीन हो गया। सम्पूर्ण मध्य भारत उनके संरक्षण में आ गया। नेपाल से कन्याकुमारी

तक और बंगाल से सतलज तक सिर्फ अंग्रेजों का ही बोलबाला हो गया। राजस्थान के राजपूत भी अंग्रेजों के प्रभाव में आगए। वेलेजली ने जो स्वप्न देखा था उसे लॉर्ड हेस्टिंग्ज ने पूरा कर दिया। अब कम्पनी का कोई प्रतिद्वंदी नहीं रहा। वह भारत की एक छत्र शासक बनगई। सुन्दरलाल के अनुसार

नोट

''इस युद्ध द्वारा कम्पनी के भारतीय राज्य में 50,000 वर्ग मील से अधिक की वृद्धि हुई जिसमें सतारा के राजा के थोड़े से इलाके को छोड़ कर पेशवा का बाकी सारा राज्य और सिन्धिया, होल्कर और भोंसले, तीनों के अनेक उर्वरक प्राप्त शामिल थे। इन पिछले तीन नरेशों के ये प्रदेश ही बाद में मध्य प्रान्त और मध्य भारत के नाम से विख्यात हुए। राजपूत राजाओं से भी, उस रक्षा के बदले में जो श अंग्रेजों ने इस युद्ध के समय की, बहुत सा धन और बहुत सी भूमि ले ली गई। इस तरह अजमेर के नए ब्रिटिश प्राप्त की रचना हुई।''

3. युद्ध का तीसरा महत्वपूर्ण परिणाम था पठानों व पिण्डारियों का दमन। जिन लोगों ने देश में अराजकता और आतंक फैला रखा था और जो शक्तिशाली लुटेरों के गिरोहों में परिणत हो गए थे तथा जिन्हें मराठे भी नहीं दबा पाए थे, उन पठानों व पिण्डारियों को सफलतापूर्वक अपने अधीन कर हेस्टिंग्ज ने यह भी प्रमाणित कर दिया कि ब्रिटिश सरकार अराजकता का अंत कर सकती है। पिण्डारियों के दमन से कम्पनी के सम्मान में आवश्यकता से अधिक वृद्धि हुई

4. सतारा राज्य को, जो बहुत समय तक मराठों का मुख्यावास रहा, शिवाजी के एक वंशज प्रतापसिंह को दे दिया गया। बाद में जब लॉर्ड डलहौजी भारत का गर्वनर जनरल बना तो उसने इस राज्य को ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया।

इस अन्तिम मराठा युद्ध के परिणामस्वरुप अंग्रेज निश्चित रुप से भारत की प्रधान और सर्वोपरि शक्ति बन गए। मुगलों के बाद कौन? प्रश्न का उत्तर मिल गया। चिरकाल से चली आ रही आंग्ल-मराठा शत्रुता समाप्त हो गई तथा भारत के राजनीतिक मंच से मराठों का प्रभुत्व समाप्त हो गया।

4.17 सारांश

मराठा तथा अंग्रेजों के मध्य 4 संघर्ष हुये और अन्तिम युद्ध के प्रश्चात मराठासंघ पूर्णरुप से समाज हो गया। प्रथम, मराठा-अंग्रेज-संघर्ष का अन्त 82 में साल्वाई की संधि द्व ारा हुआ, जिसमें करीब 20 वर्ष तक अंग्रेज और मराठों के सम्बन्धों में अधिक कटुता नहीं आई और इससे इन बीस वर्षा में अंग्रेजों को अपनी शक्ति बढ़ाने का अवसर प्रदान किया। वारन हेस्टिग्स के उत्तराधिकारियों ने भारतीय नरेशों के मामलों में हस्तक्षेप न करने का फैसला किया था, परन्तु जब वेलेजली भारत में आया तो उसने पुनः हस्तक्षेप की नीति अपनाई, और उसने सहायक संधियों का सूत्रपात किया इसी के चलते उसे मराठों से द्वितीय युद्ध करना पड़ा। इस समय मराठा शक्ति हास पर थी, और मराठों ने अंग्रेजों के साथ युद्ध में परास्त होने पर संधियाँ कर ली। पेशवा पहला व्यक्ति था जो अंग्रेजों की शरण में गया। कम्पनी का भी बहुत धन का अपव्यय मराठों के साथ संघर्ष में हुआ। अतः उसे वापस बुला लिया और आने वाले गवर्नर जनरलों को हस्तक्षेप न करने के आदेश दिये। फलस्वरुप 1813 तक कम्पनी शासन द्वारा निरहस्तक्षेप की नीति अपनाई गई। परन्तु जैसे ही लॉर्ड हेस्टिंग्ज भारत का गवर्नर जनरल होकर आया उसने भारतीय नरेशों के अस्तित्व को समाप्त करने का निर्णय लिया, फलस्वरुप उसके समय में मराठों के साथ 1817-18 में अन्तिम युद्ध लड़ने के बाद, उन्हें हराकर सहायक संधियां

नोट

हुई और सिजिया सिन्धिया तथा गायकवाड़ ने बिना किसी विरोध के अंग्रेजों को अपना स्वामी मान लिया इस प्रकार सन् 1818 में मराठा संघ, जिसका नेतृत्व पेशवा करता था तथा सिन्धिया, होल्कर, गायकवाड़, और भौंसले उसके सक्रिय सदस्य थे, पूर्ण रुप से समाप्त हो गया। इन सभी मराठा राज्यों ने अंग्रेजों के साथ सहायक संधियां कर लीं और अपनी सेनायें समाप्त कर दी। अपनी आन्तरिक और विदेश नीति पूर्ण रुप से अंग्रेजों को सौंप दी और अब समस्त भारत में कोई ऐसी शक्ति न थी जो अंग्रेजों की सर्वोच्च सत्ता को चुनौती दे सके। पंजाब, सिंध और काश्मीर उनके आधीन न थे परन्तु उनमें भी अंग्रेजों को चुनौती देने की शक्ति न थी।

4.18 अभ्यास प्रश्न

1. प्रथम मराठा युद्ध के कारण और परिणामों का विशेष विवेचन कीजिये
2. द्वितीय मराठा युद्ध के कारण और परिणामों का उल्लेख कीजिये।
3. चतुर्थ मराठा युद्ध का उल्लेख कीजिये तथा बताइये इसका भारतीय पर क्या प्रभात पड़े?
4. मराठा संघ के विघटन के कारणों की समीक्षा कीजिये।

इकाई-5 बर्मा के प्रति ब्रिटिश नीति

नोट

पाठ-संरचना

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 ईस्ट इंडिया कंपनी का बर्मा के साथ संबंधों की शुरुआत

5.3 प्रथम आंग्ल-बर्मा युद्ध (1824)

5.4 युद्ध का प्रारंभ और प्रमुख घटनाएँ

5.5 यान्डूब की संधि

5.6 आंग्ल-बर्मा द्वितीय युद्ध (1852)

5.7 तृतीय आंग्ल-बर्मा युद्ध (1885)

5.8 सारांश

5.9 अभ्यास प्रश्न

5.0 उद्देश्य

बर्मा पर अधिकार स्थापित करने के लिए अंग्रेजों ने तीन युद्ध किए जिन्हें श्बर्मी युद्ध के नाम से जाना जाता है। बर्मा में तीन क्रमिक बर्मी युद्ध हुए और 1886 ई. में पूरा देश ब्रिटिश भारतीय साम्राज्य के अंतर्गत आ गया। किन्तु 1935 ई. के भारतीय शासन विधान के अंतर्गत बर्मा को भारत से अलग कर दिया गया। 1947 ई. से भारत और बर्मा दो स्वाधीन पड़ोसी मित्र हैं।

5.1 प्रस्तावना

19वी. शताब्दी के आरंभ में कंपनी रांज्य की पूर्वी सीमा चटगाँव से लेकर उत्तर में पहाडियों तक तथा बंगाल की खाडी के पूर्व में सौ मील तक चली गई थी। इस सीमा रेखा के पूर्व में स्थित असम प्रदेश में कुछ रियासतें स्वाधीन थी तो कुछ अर्द्ध स्वाधीन। बंगाल और असम के बीच कोई प्राकृतिक सीमा रेखा नहीं थी। अत: कंपनी की पूर्वी सीमा अत्यंत अनिर्धारित एवं अस्थिर थी।

असम के पूर्व में बर्मा का राज्य ता जिसके बारे में अंग्रेजों को अधिक ज्ञान नहीं था तथा कुछ अंग्रेज अधिकारी तो इस रहस्यमय प्रदेश को असीम शक्तिशाली माने हुए थे।

1795 ई. से 1823 ई. के बीच कंपनी ने बर्मा के साथ कूटनीतिक संबंध स्थापित करने का कई बार प्रयास किया। 1795 ई. में सर जॉन शोर ने केप्टिन साइम्स को बर्मा भेजा जिसने बर्मा के राजा के समक्ष कूटनीतिक संबंध स्थापित करने तथा बर्मा से मैत्री-संधि करने का प्रस्ताव रखा।

किन्तु बर्मा के राजा ने इसका कोई स्पष्ट उत्तर नहीं दिया। अत: एक वर्ष बाद ही सर जॉन शोर ने एक दूसरा प्रतिनिधि हीरमन कॉक्स को बर्मा भेजा। लेकिन उसे भी अपने उद्देश्यों में

सफलता नहीं मिली। तत्पश्चात् कंपनी ने तीन बार-1803ई.,1809ई.,1811ई. में केप्टिन केनिंग को बर्मा भेजा, किन्तु कंपनी के ये मिशन भी असफल रहे, क्योंकि बर्मी सरकार कंपनी से किसी प्रकार के कूटनीतिक संबंध स्थापित करने को तैयार नहीं थी।

नोट

ऐसा भी कहा जा सकता है कि बर्मी सरकार ने इन राजदूतों के साथ कङा दुर्व्यवहार किया। इसी बीच अराकान की सीमा के प्रश्न को लेकर विवाद उत्पन्न हो गये। बर्मा के राजा ने माँग की कि जो अराकान के उपद्रवकारी भारतीय क्षेत्र में जाकर शरण लें, उन्हें बंदी बनाकर बर्मी अधिकारियों को सौंप दिया जाय, किन्तु कंपनी ने इसे स्वीकार नहीं किया।

1811 ई. के बाद कंपनी ने अपना कोई प्रतिनिधि भी बर्मा नहीं भेजा। दूसरी ओर बर्मा की सरकार का रवैया भी दिन-प्रतिदिन कठोर होता जा रहा था। 1814 ई. में बर्मा सरकार ने गवर्नर जनरल लार्ड हेस्टिंग्ज को एक पत्र लिखा जिसमें ढाका, चटगांव, मुर्शिदाबाद और कासिम बाजार के क्षेत्रों की माँग की गई और कहा गया कि ये चारों प्रदेश कंपनी के अधीन होने के पूर्व अराकान को वार्षिक कर देते थे और चूँकि अराकान पर अब बर्मी सत्ता स्थापित हो गई है इसलिए ये चारों प्रदेश बर्मा के अधीन कर दिये जाएँ। लेकिन लार्ड हेस्टिंग्ज ने बर्मा सरकार के इस पत्र को कोई महत्त्व नहीं दिया।

कंपनी द्वारा अपने प्रतिनिधि को बर्मा भेजने का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह निकला कि कंपनी को इस बात की पूरी जानकारी मिल गई कि बर्मी सरकार सैनिक दृष्टि से कमजोर हैं। लार्ड मिण्टो बर्मा के विरुद्ध युद्ध छेङने की स्थिति में नहीं था, क्योंकि वह पंजाब में उलझा हुआ था। तत्पश्चात् लार्ड हेस्टिंग्ज मराठा, पिण्डारियों व नेपाल युद्धों में उलझ गया। किन्तु जब लार्ड एमहर्स्ट आया तब बर्मा के विरुद्ध युद्ध छेङने में जरा भी नहीं हिचकिचाया।

5.2 ईस्ट इंडिया कंपनी का बर्मा के साथ संबंधों की शुरुआत

भारत में अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कंपनी की सत्ता का प्रारंभ जिस समय हुआ लगभग उसी समय बर्मा में अलोम्प्रा की शक्ति का उदय भी हुआ। बर्मा का राज्य भारत के उत्तर पूर्व में स्थि था। भारत की पूर्वी सीमा पर चीनी तिब्बती मिश्रित एक जाति अलोम्प्रा के नेतृत्व में एक शक्शिाली राज्य की स्थापना कर रही थी। अलोम्प्रा ने इरावदी नदी का मुहाना, पेगू, तनासरम और अराकान का प्रदेश जीतकर विशाल राज्य की स्थापना की। इसके बाद उसने अपने राज्य का विस्तार करते हुए असम और मणिपुर के राज्यों को भी जीत लिया जिससे बर्मा राज्य की सीमाएँ भारत के कंपनी शासित राज्य की सीमाओं से टकराने लगी। अंग्रेजों के लिए बंगाल की सीमा पर एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना खतरे की घंटी थी। यहीं से इनके संबंधों का प्रारम्भ हुआ। यूँ तो अंग्रेजी के बर्मा से व्यापारिक संबंध बहुत पहले से थे परंतु वे बहुत उथले थे। जबकि बर्मा ने अराकान पर अधिकार कर लिया और दोनों के राज्यों की सीमायें आपस में मिलने लगीं तो उनके संबंधों में तनाव बढ़ने लगा। इस स्थिति में अंग्रेजों ने बर्मा से राजनैतिक संबंध स्थापित करने का प्रयत्न किया, परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। अंग्रेजों ने 1797 से 1811 के बीच कई बार दूर भेजे, परन्तु इसका कोई लाभ नहीं हुआ और दोनों के बीच तनाव बढ़ता गया।

5.3 प्रथम आंग्ल-बर्मा युद्ध (1824)

आंग्ल-बर्मा युद्ध की परिस्थितियाँ 1784 के बाद उस समय से बनने लगी थी जबकि बर्मा ने अराकान के प्रदेश पर अधिकार कर लिया। लार्ड हेस्टिंग्स के समय में भारत के

सीमावर्ती राजा सहायक संधि से बँधे थे अत: वे कुछ कर न सके। उसके समय में जब अराकान के प्रदेश के लोग भागकर भारत में कंपनी की सीमा में आये तो बर्मा के सैनिकों ने उन्हें वापस माँगा परन्तु हेस्टिंग्स से उन्हें देने से इंकार कर दिया। इस घटना से अंग्रेजों और बर्मा के संबंधों में तनाव और अधिक बढ़ गया। इसके बाद बर्मा ने असम पर भी अधिकार कर लिया तो कंपनी के साथ उसके सीमा संबंधी झगड़े और बढ़ने लगे।

नोट

प्रथम युद्ध का तात्कालिक कारण था शाहपुरी के छोटे और निर्जन द्वीप पर अधिकार का प्रश्न। लार्ड एम्हर्स्ट के समय में युद्ध की स्थितियाँ निर्मित होने लगी थी। इसके पीछे बर्मा के राजदरबार में सत्ता परिवर्तन भी माना जाता है। 1819 में बर्मा में बागीदाऊ गद्दी पर बैठा। उसके सत्तासीन होने पर बर्मा में विस्तारवादी प्रवृत्तियाँ और अधिक बढ़ने लगी। उसका भाई एवं दरबार के अन्य लोग पूर्वोत्तर भारत की ओर साम्राज्य का विस्तार चाहते थे। उनका सैनिक कमांडर महाबुन्देला तो असम की आसान जीत से भारत की जीत को भी आसान समझने लगा था। संपूर्ण बर्मा में युद्ध की माँग की जा रही थी। क्रेफर्ड ने लिखा है कि "बर्मा में राज्य से लेकर भिखारी तक अंग्रेजों से युद्ध की माँग कर रहा था।" दूसरी ओर अंग्रेज भी अपनी साम्रायवादी नीति के कारण बर्मा के उपजाऊ क्षेत्र को आने साम्राज्य में मिलाने के लिए उत्सुक थे। दोनों ओर से युद्ध की माँग थी। इसलिए युद्ध हो इसके लिए छोटी से छोटी बातों को तूल दिया और युद्ध के लिए परिस्थितियाँ निर्मि की गई।

इसी समय शाहपुरी के द्वीप पर पुन: झगड़ा हो गया। बर्मियों ने इस द्वीप पर आक्रमण करके उस पर कब कर लिया। इस बीच एम्हर्स्ट ने युद्ध की पूरी तैयारियाँ कर ली थीं और उसने 24 फरवरी, 1824 को युद्ध की घोषणा कर दी।

5.4 युद्ध का प्रारंभ और प्रमुख घटनाएँ

युद्ध की प्रमुख घटनाएँ असम, अराकान और रंगून के मोर्चे पर हुई। बर्मा की भौगोलिक परिस्थितियाँ भी अंग्रेजों को कठिनाइयाँ पैदा करने वाली थी जबकि वे बर्मियों को सहायक थी। अंग्रेजों ने दो ओर से अपनी सेनाएँ युद्ध के लिए भेजी। एक सेना स्थल मार्ग से भेजी गई जो उत्तर पूर्व से बर्मा की ओर आगे बढ़ी। दूसरी सेना समूद्री मार्ग से रंगून की ओर बढ़ी। इसका नेतृत्व मेजर जनरल आर्चीबाल्ड कैम्पबेल कर रहा था। अराकान में रामू नामक स्थान पर अंग्रेज से सेना और महाबुन्देला के बीच भीषण युद्ध हुआ यहाँ बर्मा सेनापति ने अंग्रेजी सेना को हरा दिया। दूसरी ओर अंग्रेजी सेना ने मई में रंगून को जीत लिया। इसके बाद वर्षा प्रारंभ हो गई और अंग्रेजों का आगे का अभियान रूक गया और उनके सैनिकों में बीमारियाँ फैलने लगी। वर्षा के बाद दिसम्बर में बर्मा के राजा ने महाबुन्देला को दक्षिण में अपनी सहायता के लिए बुलाया परन्ततु उसकी पराजय हुई और उसे पीछे हटना पड़ा। 1825 में अंग्रेजों ने असम पर अधिकार कर लिया और दूसरी ओर कैम्पबेल ने रंगून से आगे बढ़ना प्रारम्भ किया। बर्मा के सेनापति महाबुन्देला ने बहुत समय ततक उन्हें रोके रखा, परन्तु वह अप्रैल के प्रारंभ में युद्ध में मारा गया और बर्मा की सेना भाग खड़ी हुई। अंग्रेज सेनापति ने दक्षिणी बर्मा की राजधानी प्राम पर कब्जा कर लिया इसके बाद कुछ समय तक युद्ध चलता रहा परन्तु संधि वार्ता भी चलती रही और 24 फरवरी, 1826 को यान्डूब की संधि हो गई।

5.5 यान्डूब की संधि

नोट

इस संधि में निम्न निर्णय लिए गए-

- इस संधि के द्वारा बर्मा ने तनासरम, अराकान, तवाय, और येह तथा मर्गी अंग्रेजों को दे दिए।
- इस संधि के द्वारा मणिपुर के राज्य को स्वतंत्र मान लिया गया।
- बर्मा ने कछार, असम और जैन्तिया के राज्यों में कोई भी हस्तक्षेप न करने का वादा किया।
- दोनों राज्यों ने एक दूसरे के राज्य में राजदूत रखने की स्वीकृति दी।
- बर्मा ने युद्ध की क्षतिपूर्ति के रूप में एक करोड़ रूपया देने का वचन भी दिया।
- इसके अलावा बर्मा और अंग्रेजों के बीच एक व्यापारिक संधि होने पर भी सहमति हुई।

इस युद्ध का वास्तविक लाभ अंग्रेजों को हुआ। बर्मा पर पूर्ण अधिकार करने का प्रारम्भ था यह युद्ध, क्योंकि इसके बाद बर्मा में अंग्रेजों को पैर जमाने का अवसर मिल गया और उत्तर पूर्वी क्षेत्र में उन्हें बहुत सी भूमि प्राप्त हो गई सिसे उन्हें बाद में आगे बढ़ने में लाभ हुआ।

5.6 आंग्ल-बर्मा द्वितीय युद्ध (1852)

प्रथम युद्ध के बाद हुई यान्डूब की संधि दोनों ही पक्षों को संतुष्सट नहीं कर सकी थी। इस संधि के बाद कुछ अंग्रे व्यापारी बर्मा के दक्षिणी तट पर रहने लगे और व्यापारिक संधि के अनुसार व्यापार करने लगे। यहाँ से व्यापार के माध्यम से इन्होंने बहुत पैसा कमाया। ये व्यापारी यहाँ से व्यापार करते थे और आराम से रहते थे, परन्तु ये अपनी सरकार से समय-समय पर यह शिकायत करते थे कि यहाँ उनके साथ बर्मा के लोग अच्छा व्यवहार नहीं करते हैं। इधर बर्मा सरकार भी इनके व्यवहार से तथा इनके द्वारा की जाने वाली चुंगी की चोरी की शिकायतों से परेशान रहती थी। इसका कारण यह था कि 1826 में हुई व्यापारिक संधि की जो शर्तो थी वे विवादास्पद थी और दोनों पक्षों के लोग इनकी व्याख्या अपने हितों के अनुकूल करते थे। इस स्थिति में अंग्रेज और बर्मा सरकार के संबंध बिगड़ने लगे। इसके अलावा यान्डूब की संधि के बाद बर्मा का राजा बदल गया। नया राजा थारावादी बना उसने यान्डूब की संधि को मानने से इंकार कर दिया और कहा कि "अंग्रेजों ने मेरे बड़े भाई को हराया था मुझे नहीं।

इन व्यापारिक झगड़ों के अलावा एक और समस्या थी कि 1826 की संधि के अनुसार एक ब्रिटिश रेजीडेन्ट बर्मा में रहने लगा था। बर्मा के दरबार में ब्रिटिश रेजीडेन्ट के साथ अच्छा व्यवहार नहीं होता था। बर्मा की सरकार उसके साथ अपमानजनक व्यवहार करती थी। इसके कारण 1840 में उसे वापस बुला लिया गया था। अंग्रेजों के प्रति घृणा का माहौल संपूर्ण बर्मा में व्याप्त था और वे उनकी कोई परवाह नहीं करते थे। इसी बीच बर्मा सरकार ने दो अंग्रेज अधिकारियों पर कुछ आरोप लगाए और उन पर बहुत अधिक आर्थिक दण्ड लगाए। इन लोगों ने लार्ड डलहौजी से इसकी शिकाय की। डलहौजी के लिए तो यह शिकायत युद्ध के लिए बहाना थी। वास्तव में युद्ध का कारण यह घटनाएँ नहीं थी। ये तो बहाना मात्र थी। युद्ध का

वास्तविक कारण तो अंग्रेजों की साम्राज्यवादी नीति जिसके तहत बर्मा को अपने अधीन करना उनका लक्ष्य था। इसके लिए उन्हें कोई भी बहाना कार्यकारी हो सकता था।

नोट

लार्ड डलहौजी ने लैम्बर्ट को रंगून सरकार के साथ बात करने, व्यापारियों की शिकायतों को दूर करने तथा क्षतिपूर्ति की माँग करने उद्देश्य से भेजा। वह नवम्बर, 1851 में रंगून पहुँच गया। वहाँ उसने रंगून के गवर्नर पर अत्याचार करने का आरोप लगाया। इसकी शिकायत करने के लिए उसने एक पत्र बर्मा की सरकार को लिखा और साथ में एक पत्र रंगून के गवर्नर को भी लिखा। उसने दोनों पत्रों का उत्तर तीन से पाँच सप्ताह के बीच में माँगा। बर्मा के राजा ने अंगेजों की इन गतिविधियों से आशंकित होकर रंगून का गवर्नर बदल दिया। जब नए गवर्नर से मिलने के लिए अंग्रेज अधिकारी गए तो उनकी मुलाकात गवर्नर से नहीं हो सकी। अंग्रे अधिकारी ने इसे अपना अपमान समझा और बर्मा की सरकार और गवर्नर से माफी माँगने की माँग की। क्षमा माँगने के अलावा उसने क्षतिपूर्ति की राशि की तुरन्त अदायगी की भी माँग की। कुछ समय बाद उसने क्षतिपूर्ति की राशि बढ़ा दी और बर्मा के एक शाही जहा पर अंग्रेजों ने अधिकार कर लिया। इससे दोनों के बीच युद्ध की परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई। अब अंग्रों ने बर्मा सरकार से रंगून के गवर्नर को हटाने, क्षतिपूर्ति की राशि के रूप में 1,00,000 पौण्ड देने और बर्मा के राजा द्वारा क्षमा माँगने की शर्त रखी और इनके लिए अप्रैल 1852 तक समय दिया।

लार्ड डलहौजी ने इस बीच में युद्ध की पूरी तैयारी कर ली। बर्मा सरकार ने तय समय सीमा में जब जवाब नहीं भेजा तो डलहौजी ने सेनापति गोडबिन के नेतृत्व में एक विशाल सेना रंगून के लिए भेजी। इस तरह द्वितीय बर्मा युद्ध प्रारम्भ हुआ।

अंग्रेज सेनापति ने रंगून, प्रोम और पेगू पर अधिकार कर लिया। इसके बाद सम्पूर्ण दक्षिणी बर्मा पर भी अंग्रेजों का अधिकार हो गया। इसके बाद डलहौजी ने 20 दिसम्बर, 1852 को एक घोषणा द्वारा पेगू को ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया। पेगू को अंग्रेजों साम्राज्य में मिलाने का अर्थ था कि सम्पूर्ण निचला बर्मा ब्रिटिश साम्राज्य में शामिल हो गया। यह विलय बहुत महत्वपूर्ण माना जाता है। पेगू के विलय का सबसे बड़ा लाभ यह हुआ की अब बंगाल की खाड़ी का संपूर्ण तट अंग्रेजी साम्राज्य के अधीन हो गया। अब अंग्रेज मलय प्राय: द्वीप से कन्याकुमारी तक के उपजाऊ क्षेत्र के स्वामी हो गये थे। इससे एक फायदा यह भी हुआ कि समुद्री रास्ते से अमेरिका और फ्रांस के बर्मा तक आने का भय समाप्त हो गया। इसके अलावा बर्मा के चावल और चाय के क्षेत्रों पर भी अंग्रेजों का एकक्षत्र राज्य हो गया।

इस तरह डलहौजी की साम्राज्यवादी नीति के तहत बर्मा पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया। यह युद्ध एकदम अनुचित था, परन्तु डलहौजी के लिए विस्तार ही महत्वपूर्ण था। इसके लिए उचित अनुचित कोई प्रश्न नहीं था।

5.7 तृतीय आंग्ल-बर्मा युद्ध (1885)

द्वितीय युद्ध के बाद बर्मा का शासक मिण्डन बना। इसके समय में यद्यपि युद्ध नहीं हुआ परन्तु युद्ध के लिए परिस्थितियाँ निर्मित होने लगी थी। मिण्डन ने अपने समय में अंग्रेजों के साथ मित्रतापूर्वक संबंध बनाए रखने की भरसक कोशिश की थी। उसने बर्मा शासकों द्वारा अपनायी गई पृथकतावादी नीति को छोड़ दिया और यूरोपीय लोगों को अपने दरबार में रखना प्रारम्भ किया। उसने यूरोप के देशों में शिष्टमण्डल भेजे। उसने अपने दरबार में अंग्रेजी रेजीडेन्सी को पुन: प्रारम्भ किया और 1857 में इसका दर्जा दूसरे स्तर का कर दिया गया। इस प्रकारहम

देखते हैं कि मिण्डन ने अंग्रेजों से भरसक अच्छे संबंध बनाए रखने की कोशिश की, परन्तु कुछ बातों को लेकर उनके संबंधों में तनाव आने लगा था।

नोट

इसके बाद भारत के वायसराय ने बर्मा की सरकार के सामने निम्नलिखित माँगें प्रस्तुत की–

- बर्मा दरबार एक अंग्रेज प्रतिनिधि को अपने दरबार में बुलाए जो कि परंपरागत रस्में नही निभाएगा। उसके द्वारा निगम को विवाद सुलझाया जाए।
- जब तक अंग्रेज प्रतिनिधि वहाँ न पहुँचे तब तक निगम के खिलाफ कोई कार्यवाही न की जाए।
- बर्मा विदेशों से अपने संबंध भारत के वायसराय की सलाह से स्थापित करें।
- अंग्रेजों को चीन से व्यापार करने की पूर्ण छूट दी जाए।

लार्ड डफरिन ने माँगे भेजने के साथ ही युद्ध की तैयारियाँ कर ली थीं। जैसे ही वहाँ से जवाब आया उसने अपनी सेना को बर्मा की राजधानी मॉडले की ओर रवाना कर दिया। उधर थीबा ने भी युद्ध की घोषणा कर दी।

तृतीय युद्ध अधिक समय तक नहीं चला। लगभग 15 दिन में ही युद्ध का निर्णय हो गया। अंग्रेजी सेना अचानक ही मॉडले के पास पहुँच गई। बर्मा का राजा ब्रिटिश सेना को देखकर आश्चर्य चकित हो गया। अंग्रेजों ने आसानी से राजधानी मॉडले पर अधिकार कर लिया और 28 नवम्बर को राजा थीबा को कैद कर लिया गया। उसने बिना शर्त के आत्मसमर्पण कर दिया। इसके बाद जनवरी 1886 में उत्तरी बर्मा को अंग्रेजी राज्य में मिला लिया गया। बर्मा पर अधिकार की घोषणा जितनी सरलता से की गई थी उतनी ही कठिनाई से उस पर अधि कार किया जा सका।

तृतीय युद्ध के परिणाम :

- बर्मा के अधिग्रहण के बाद ब्रिटिश साम्राज्य के क्षेत्रफल में वृद्धि हुई।
- अंग्रेजों कोक व्यापारिक विकास के लिए एशिया में एक नए क्षेत्र की प्राप्ति हुई।
- अब बर्मा में फ्रांसीसियों के प्रभाव के बढ़ने की संभावना समाप्त हो गई।

5.8 सारांश

बर्मा का इतिहास बहुत पुराना एवं जटिल है। इस क्षेत्र में बहुत से जातीय समूह निवास करते आये हैं जिनमें से मान (डवद) और प्यू संभवत: सबसे प्राचीन हैं। उन्नीसविं शताब्दी में बर्मन (बामार) लोग चीन-तीब्बत सीमा से विस्थापित होकर यहाँ इरावती नदी की घाटी में आ बसे। यही लोग आज के म्यांमार पर शासन करने वाले बहुसंख्यक लोग हैं। म्यांमार का क्रमबद्ध इतिहास सन् 1044 ई. में मध्य बर्मा के 'मियन वंश' के अनावराहता के शासनकाल से प्रारंभ होता है जो मार्कोपोलो के यात्रा संस्मरण में भी उल्लिखित है। सन् 1287 में कुबला खाँ के आक्रमण के फलस्वरूप वंश का विनाश हो गया। 500 वर्षो तक राज्य छोटे छोटे टुकड़ों में बँटा रहा। सन् 1754 ई. में अलोंगपाया (अलोंपरा) ने शान एवं मॉन साम्राज्यों को जीतकर 'बर्मी वंश' की स्थापना की जो 19वीं शताब्दी तक रहा।

बर्मा में ब्रिटिश शासन स्थापना की तीन अवस्थाएँ हैं। सन् 1826 ई. में प्रथम बर्मायुद्ध में अँग्रेजों ने आराकान तथा टेनैसरिम पर अधिकार प्राप्त किया। सन् 1852 ई. में दूसरे युद्ध के फलस्वरूप वर्मा का दक्षिणी भाग इनके अधीन हो गया तथा 1886 ई. में संपूर्ण बर्मा पर इनका अधिकार हो गया और इसे ब्रिटिश भारतीय शासनांतर्गत रखा गया। 1937 से पहले ब्रिटिशों ने बर्मा को भारत का राज्य घोषित किया था लेकिन फिर अंगरेज सरकार ने बर्मा को भारत से अलग करके उसे ब्रिटिश क्राउन कालोनी (उपनिवेश) बना दिया।

नोट

5.9 अभ्यास प्रश्न

1. बर्मा के प्रति ब्रिटिश नीति का उल्लेख करें।
2. प्रथम बर्मा युद्ध के क्या परिणाम हुए?
3. यादंबु की संधि की मुख्य धाराओं का उल्लेख करें।

इकाई-6 अफगानों के प्रति ब्रिटिश नीति एवं अफगान युद्ध

पाठ-संरचना

नोट

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 संबंधों की शुरुआत

6.3 यूरोपीय घटनायें व फ्रांस का उत्थान

6.4 रूसी प्रभाव

6.5 अग्रगामी नीति

6.6 अंग्रेज-गवर्नर जनरल आकलैण्ड की नीति

6.7 प्रथम आंग्ल अफगान युद्ध (1839-42)

6.8 द्वितीय आंग्ल अफगान युद्ध

6.9 सारांश

6.10 अभ्यास प्रश्न

6.0 उद्देश्य

आंग्ल-अफगान युद्ध को 'अफगान युद्ध' भी कहा जाता है। इतिहास में तीन अफगान युद्ध (1838-1842 ई., 1878-1880 ई., 1919 ई.) लड़े गये थे। भारत के पड़ोसी देश अफगानिस्तान पर रूस का प्रभाव धीरे-धीरे बढ़ रहा था, और यह प्रभाव काफी हद तक भारत के लिए खतरनाक सिद्ध हो सकता था। रूस के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने के लिए और अफगानिस्तान को ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाने के उद्देश्य से अंग्रेजों ने अफगानों के विरुद्ध अपनी भारतीय चौकी से तीन बार हमले किए। पहले युद्ध में विजय उन्हें आसानी से मिल तो गई, लेकिन उस पर नियंत्रण बनाये रखना कठिन हो गया। दूसरे युद्ध में विजय के लिए अंग्रेजों को भारी कीमत चुकानी पड़ी। अंग्रेज अफगानिस्तान पर स्थायी कब्जा तो नहीं कर सके, लेकिन उन्होंने उसकी नीति पर नियंत्रण बनाये रखा। तृतीय और अंतिम युद्ध अफगानिस्तान की करारी हार और 'रावलपिण्डी की सन्धि' (अगस्त, 1919 ई.) के साथ समाप्त हुआ। इसके पश्चात् ही अफगानिस्तान पूर्ण रूप से स्वतंत्र हो गया।

6.1 प्रस्तावना

लॉर्ड ऑकलैंड (1836 ई.-1842 ई.) के भारत का गवर्नर जनरल आने के समय ब्रिटेन और रूस के सम्बन्ध अच्छे नहीं थे। अंग्रेजों को डर था कि कहीं रूस भारत पर आक्रमण न कर दे। अंग्रेजों ने तुर्की की और रूस की प्रगति में रुकावट डाली थी, अतः रूस ने भी फारस और अफगानिस्तान की ओर अपना दबाव बढ़ा दिया। ऐसी स्थिति में अंग्रेजों का रूस से डरना प्रासंगिक था। उन्होंने भी अफगानिस्तान में अपना प्रभाव बढ़ाने की नीति अपना ली। अंग्रेजों ने यहाँ के शासक दोस्त मोहम्मद के सामने रुसी आक्रमण का भय दिखाकर संधि करने का

प्रस्ताव रखा। दोस्त मोहम्मद भी अंग्रेजों से दोस्ती करना चाहता था। अतः उसने इस शर्त पर संधि करने की इच्छा व्यक्त की कि उसे पेशावर दे दिया जाए। मगर अंग्रेज इसके लिए तैयार नहीं हुए, जिसके चलते दोस्त मोहम्मद का झुकाव रूस की ओर हो गया और शीघ्र ही रूस और अफगानिस्तान ने आपस में संधि कर ली।

नोट

लॉर्ड ऑकलैंड द्वारा भेजे गए प्रतिनिधिमंडल के असफल होकर वापस लौट आने पर उसने दोस्त मोहम्मद के प्रतिनिधि शाहशुजा को अफगानिस्तान का शासक बनाने का फैसला कर लिया। इसके लिए रणजीत सिंह, शाहजुआ और अंग्रेजों के बीच जून 1838 ई. में एक त्रिदलीय संधि (Tri & Party Agreement) हुई इसके कुछ समय बाद ही लॉर्ड ऑकलैंड ने अफगानिस्तान के खिलाफ युद्ध का ऐलान कर दिया।

6.2 संबंधों की शुरुआत

अफगानिस्तान के सम्बन्ध में अपनाई गई रीति ने अंग्रेजों की कूटनीति एवं प्रक्रियात्मक व्यवस्था की विफलता को उजागर किया। विशेषकर प्रथम आंग्ल अफगान युद्ध से न केवल ब्रिटिश अजेयता का भ्रम दूर हुआ, प्रत्युत स्वतंत्रता प्रेमी अफगान जाति ने उस समय से उत्कृष्ट सैन्य संचालन पर भी प्रश्न चिह्न लगा दिया। अठाहरवीं शताब्दी के मध्य में अहमदशाह दुर्रानी ने अफगानिस्तान में एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना की थी लेकि उसके उत्तराधिकारी तैमूरशाह (1773-93), जमानशाह (1793-1800) और महमूदशाह (1800-03) आदि कुशल शासक एवं कूटनीतिज्ञ साबित नहीं हुए। 1803 में शाहशुजा को अफगानिस्तान की सत्ता मिली, लेकिन वह भी अपने को योग्य शासक प्रमाणित न कर सका।

उसके सत्ता में आते ही वहाँ आन्तरिक विद्रोह उठ खड़ा हुआ अतः शाहशुजा को 1809 में सत्ता त्यागकर अपनी सुरक्षा के लिए पहले लाहौर और बाद में लुधियाना में शरण लेनी पड़ी। अंग्रेजों ने 1818 में उसकी पेंशन चालू कर दी। यहां सवाल उठता है कि अंग्रेजों ने अफगानिस्तान को अपने प्रभाव में लेने की आवश्यकता क्यों अनुभव की और शाहशुजा को शरण क्यों दी गई। इस सवाल का जवाब पाने के लिए हमें यूरोप एवं मध्य एशिया की गतिविधियों की जानकारी प्राप्त करना होगा।

6.3 यूरोपीय घटनायें व फ्रांस का उत्थान

यूरोप की घटनाओं पर दृष्टि डालने से स्पष्टरू होता है कि इन दिनों फ्रांस एक महत्वपूर्ण शक्ति बनता जा रहा था। 18वीं सदी के अंतिम दशक और 19वीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों में फ्रांस के उत्थान से अंग्रेज चिन्तित थे। शाहशुजा के सत्ता त्यागने से पूर्व अर्थात् फरवरी 1809 में एलफिंस्टन ने एक सन्धि द्वारा ईरान व फ्रांस की सेनाओं को अफगानिस्तान के मार्ग से भारत पर आक्रमण करने की अनुमति न देने का आश्वासन प्राप्त किया था। 1815 में वाटरलू के मैदान में नेपोलियन अन्तिम रूप से हरा दिया गया था। नेपोलियन के पतन के साथ ही फ्रान्सीसियों की भारत विजय की अभिलाषा का भी अन्त हो गया। इस प्रकार फ्रांस-ईरानी गुट की कोई संभावना न रही। फ्रान्सीसी खतरे का अन्त होने पर भी अंग्रेजों के सामने एक ओर खतरा था और वह था रूस का।

6.4 रूसी प्रभाव

नोट

रूस एवं ब्रिटेन की मध्य एशिया में प्रतिद्वंद्विता ने भी अंग्रेजों को अफगानिस्तान में अपने प्रभाव क्षेत्र के विस्तार की प्रेरणा दी। 1807 में टिलसिट' की संधि के पश्चात् पश्चिमी एशिया की राजनीति में रूस का महत्व बढ़ गया था। टिलसिट की सन्धि के जवाब में कम्पनी संचालकों की सीक्रेट कमेटी ने 1808 में मिंटो को आदेश दिये कि उत्तर पश्चिमी स्थल मार्ग से ब्रिटिश भारत पर आक्रमण रोकने के लिए उसके पश्चिम स्थित राज्यों से मैत्री सन्धियाँ की जाये। मिंटो ने मेटकॉफ को पंजाब, डेविड सेटन (बाद में स्मिथ) को सिंध, एलफिंस्टन को अफगानिस्तान और जान मालकम को ईरान भेजा। रणजीतसिंह के साथ सम्पादित संधि की चर्चा पूर्व में की गई है एवं सिंध के अमीरों के साथ हुए समझौते का जिक्र सिन्ध का विलय अध्याय में किया गया है। जहाँ तक ईरान (फारस या परशिया) का सवाल है जान मालकम को अपने लक्ष्य में सफलता नहीं मिली, लेकिन मार्च 1809 में इंग्लैण्ड से भेजे गये हारफर्ड जोंस ने ईरान के शाह से एक सन्धि की। सन्धि द्वारा ईरान के शाह ने आवश्वासन दिया कि वह अपने राज्य से यूरोप के किसी भी देश की सेनाओं को भारत अथवा भारतीय बन्दरगाहों की ओर जाने नहीं देगा। इंग्लैण्ड ने विश्वास दिलाया कि ईरान पर यूरोपीय शक्ति का आक्रमण होने पर इंग्लैण्ड सैनिक सामग्री अथवा धन से उसकी सहायता करेगा।" अफगानिस्तान के साथ एलफिंस्टन द्वारा की गई संधि, व्यर्थ सिद्ध हुई क्योंकि शाहशुजा को अफगान सत्ता त्याग देनी पड़ी।

बढ़ते हुए रूसी प्रभाव के विरूद्ध इंग्लैण्ड द्वारा की गई मैत्री सन्धियां अधिक कारगर साबित नहीं हुई। 1828-29 में रूस-तुर्की युद्ध में रूस की विजय हुई और तुर्की को एड्रियानोपल की सन्धि (सितम्बर 1829) करनी पड़ी। इस प्रकार रूस की प्रतिष्ठा एवं शक्ति में भारी वृद्धि हुई। रूस के एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में विकसित होने से ब्रिटिश कूटनीतिज्ञों का चिन्तित होना स्वाभाविक था। यह संभावना व्यक्त की गई कि रूस भविष्य में ब्रिटिश भारत के लिए खतरा बन सकता है। पहला मार्ग आक्सस नदी घाटी से होकर था जहाँ पर खीवा और बोखारा के राज्य थे। दूसरा मार्ग ईरान तथा हेरात से होकर था।

ब्रिटिश कूटनीतिज्ञों की यह धारणा दृढ़ हुई कि रूस के प्रभाव को रोकने के लिए ब्रिटिश सरकार को ईरान पर निर्भर नहीं रहना चाहिए, इसीलिए ईरान के साथ सम्पादित सन्धियों से ब्रिटेन ने छुटकारा पा लिया था। अब यह मान जाने लगा कि रूस के विरूद्ध अफगानिस्तान अधिक विश्वसनीय हो सकता है। अत: भारत एवं ब्रिटेन में अफगानिस्तान के साथ सम्बन्ध बढ़ाने के लिए गंभीरता से सोचा गया। वस्तुत: ब्रिटेन में अफगान नीति के निर्धारण में दो विचारधाराएँ सक्रिय थी। पहली थी अग्रगामी नीति एवं दूसरी कुशल अकर्मण्यता की नीति।

6.5 अग्रगामी नीति

अफगानिस्तान के प्रति अग्रगामी नीति के जो लोग समर्थक थे उनका तर्क था कि रूस निश्चित रूप से भारत पर आक्रमण की योजना बना रहा है। इसलिए उनकी दृष्टि में अफगानिस्तान का ब्रिटिश भारत की सुरक्षा के लिए बड़ा महत्व था। ड्यूक ऑफ वेलिंगटन एवं एलेनबरो जैसे रानीतिज्ञों ने ब्रिटिश भारत के लिए रूस के बढ़ते प्रभाव का खतरा बताना शुरू किया। अंग्रेजी भारत पर आक्रमण की व्यावहारिकता नामक पुस्तक ने इस स्थिति पर विशेष रूप से प्रकाश डाला। मध्य एशिया में व्यापारिक एवं राजनीतिक प्रभुत्व में वृद्धि

नोट

की योजना बनाई गई और इसीलिए अंग्रेजों ने सिन्धु नदी में नौ संचालन की संभावना के सर्वेक्षण हेतु बर्न्स (Alexander Burnes) को भेजा गया था। जिसकी चर्चा अन्यत्र की गई है। उन्नीसवीं शताब्दी के दो प्रमुख ब्रिटिश राजनेता : विदेशमंत्री पामर्स्टन (Palmerston) व डिजरेली घोर साम्राज्यवादी नीति के पोषक थे एवं मध्य एशिया में अग्रगामी नीति के पक्षपाती। उनका दृष्टिकोण रूस विरोधी था चालीस वर्षों के अन्तराल से हुए दो अफगान युद्ध इन्हें दो राजनीतिज्ञों की देन थे और दोनों ही मामलों में गृह सरकार ने भारत नीति का संचालन किया।

अकर्मण्यता की नीति (School of Masterly Inactivity) : दूसरी अकर्मण्यता की नीति का विकास प्रथम अफगान युद्ध की विफलता और विनाश की प्रतिक्रिया थी। एलेनबरो से नार्थबुक (1872-76) तक और विशेषकर लारेन्स (1864-68) के समय तक इस नीति का पालन किया गया।

कुशल अकर्मण्यता शब्द का प्रयोग जे.डब्ल्यू.एस.वायली ने एडिनबर्ग रिव्यू में किया था। इस नीति के प्रतिपादकों का विचार था कि रूस भारत से बहुत दूर है और भारत पर उसके आक्रमण की कोई संभावना नहीं है। यदि रूस का इरादा भारत पर आक्रमण करना है तो इसका कारण यूरोप में रूस और ब्रिटेन का तनावपूर्ण सम्बन्ध है। अत: पूर्व की ओर रूस की प्रगति को रोकने के लिए यह आवश्यक है कि ब्रिटेन यूरोप में रूस के साथ समझौता करे। अफगानिस्तान के मामले में हस्तक्षेप करने से कोई लाभ नहीं होगा। पहले हम अग्रगामी नीति एवं प्रथम आंग्ल अफगान युद्ध की चर्चा करेंगे।

वैज्ञानिक सीमा (Scientific frontier) : अग्रगामी नीति के समर्थक राजनीतिज्ञ कई कारणों से अफगानिस्तान में ब्रिटिश वर्चस्व स्थापित करने को उत्सुक थे। अफगानिस्तान और सिंध नदी के बीच का पर्वतीय प्रदेश भारत की उत्तर पश्चिमी सीमा बनता है। ब्रिटिश भारत की सीमायें जब सतलज तक पहुँच गई तो यह अनिवार्य हो गया कि भारत और अफगानिस्तान के मध्य परस्पर मैत्री सम्बन्ध बनाये जाये, जिससे रूसी साम्राज्यवादी विस्तार को भारत की ओर बढ़ने से रोका जा सके। रूस मध्य एशिया की ओर बढ़ चुका था और उसके राज्य की सीमायें अफगानिस्तान के निकट पहुँच गई थी। अफगानिस्तान के रूसी प्रभाव में आने की स्थिति में रूस का भारत में प्रवेश सुगम हो जाता। इसी खतरे की संभावना ने अंग्रेजों की अफगान नीति को जन्म दिया। अंग्रेजों की यह नीति निश्चित ही अफगानिस्तान को मध्यवर्ती राज्य बनाये जाने की थी, जिससे पश्चिमोत्तर सीमा से कोई भी स्थलीय शक्ति सीधे भारत पर आक्रमण करने में सफल न हो सके।

यह भी कहा जाता है कि महाराजा रणजीतसिंह की राज्य विस्तार की नीति ने भी अंग्रेजों को अफगानिस्तान में हस्तक्षेप करने के लिए प्रेरित किया। 1809 की अमृतसर की सन्धि के अनुसार पंजाब नरेश सतलज के पार दक्षिण में अपने राज्य विस्तार के लिए स्वतंत्र न थे, लेकिन सतलज के उत्तर में उसके राज्य विस्तार पर यह प्रतिबंध लागू नहीं था। इसीलिए 1823-24 में पेशावर के अफगान गवर्नर को अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिए विवश किया और 1834 में पेशावर पंजाब में मिला लिया गया। इस प्रकार पेशावर, लाहौर और काबुल शासकों के बीच विवाद का मुद्दा बन गया।

विविध पक्षों के राजनीतिक स्वार्थ : रूसी आक्रमण की संभावनाओं को देखते हुए अंग्रेजों ने एलफिंस्टन को अफगान शासक शाहशुजा से 1809 में सन्धि करने हेतु भेजा। एलफिंस्टन सन्धि वार्ता के बाद अफगानिस्तान से भारत लौटा भी न था कि शाहशुजा के भाई

नोट

महमूदशाह ने कन्धार को अपने नियंत्रण में ले लिया और नीमला में शाहशुजा को परास्त कर दिया। विवश होकर शाहशुजा को पहले रणजीतसिंह और बाद में अंग्रेजों की शरण लेनी पड़ी। इस समय अफगानिस्तान दो जातियों : बरकजई और सदोजई में विभक्त था। शाहशुजा का उत्तराधिकारी उसका भाई महमूदशाह (1809-18) बरकजई सरदार फतेहखाँ के प्रभाव में था। 1829 में महमूदशाह की मृत्यु के बाद हिरात पर कामरान का अधिकार हो गया। इस दौरान बरकजई परिवार के सबसे योग्य व्यक्ति दोस्त मुहम्मद ने गजनी और काबुल पर अधिकार कर लिया एएवं कोहिनदिल खाँ का कन्धार और सुल्तान मुहम्मद का पेशावर पर कब्जा हो गया।

दोस्त मुहम्मद (1826-39) : बरजकई दल से सम्बद्ध दोस्त मुहम्मद 1826 में काबुल का नवाब बना। लेकिन शीघ्र ही उसने अपने को अनेक समस्याओं से जकड़ा हुआ पाया। उत्तर में बल्ख में विद्रोह हो रहे थे, दक्षिण स्थित कन्धार में उसका भाई भी विरोधी हो गया, पूर्व में रणजीतसिंह ने पेशावर पर अधिकार कर लिया था और पश्चिम में महमूदशाह और हिरात में कामरान का कब्जा था। दोस्त मुहम्मद का यह प्रमुख लक्ष्य बन गया कि वह किसी भी मूल्य पर पेशावर पुनः हस्तगत करेगा। उसके समक्ष शाहशजा, रणजीतसिंह एवं अंग्रेजों का भी भय नहीं था अपितु रूस व ईरान भी उसे आतंकित किए हुए थे। 1833 में मुहम्मद मिर्जा ईरान का शाह बना जिसने रूस से मैत्री सन्धि कर ली। रूस ईरान को अपने विश्वास में लेकर अफगानिस्तान पर अपना प्रभाव स्थापित करना चाहता था। रूस से उत्प्रेरित ईरान शासक मुहम्मद मिर्जा ने हेरात पर घेरा डाल दिया जो अफगानिस्तान के नियंत्रण में था। दोस्त मुहम्मद ने अंग्रेजों के सहयोग से इस आक्रमण को विफल कर दिया। लेकिन इस घटना ने रूस की ओर से अफगानिस्तान के लिए गंभीर खतरे को इंगित किया। रूसी भय एवं रणजीतसिंह से पेशावर प्राप्त करने की आकांक्षा के कारण दोस्त मुहम्मद अंग्रेजी से मैत्री का इच्छु था। रणजीतसिंह के विरूद्ध अंग्रेजों से सहायता न मिलने पर वह पेशावर पर अधिकार करने हेतु रूस एवं ईरान से मैत्री सम्बन्ध स्थापित करने का इरादा रखता था।

रणजीतसिंह : शाहशुजा को अफगानिस्तान से भागकर रणजीतसिंह के यहाँ शरण लेनी पड़ी जहाँ उसे अपना प्रसिद्ध कोहिनूर हीरा त्याग देना पड़ा। लेकिन बाद में वह अंग्रेजों की शरण लेने को बाध्य हुआ और अंग्रेजों ने उसकी 50 हजार पेंशन निश्चित कर दी। रणजीतसिंह की शाहशुजा को अफगानिस्तान की गद्दी पर बैठाने की रूचि थी और इसके लिए उसने प्रयास भी किए थे। अफगानिस्तान की अव्यवस्था भी महाराजा के लिए चिंता का कारण थी और वह चाहते थे कि उसका समर्थित व्यक्ति ही अफगानिस्तान की सत्ता का स्वामी बने। लेकिन 1826 में अंग्रेजों ने उसकी योजना को स्वीकार नहीं किया और बाद में महाराजा एवं शाहशुजा के प्रयास सफल नहीं हुए।

6.6 अंग्रेज-गवर्नर जनरल आकलैण्ड की नीति

अफगानिस्तान प्रकरण के त्रिकोण में तीसरा एवं सबसे महत्वपूर्ण पक्ष था ब्रिटिश सत्ता। अफगानिस्तान में जब यह घटना चक्र चल रहा था आकलैण्ड (1836-42) गवर्नर जनरल बनकर भारत आया। दोस्त मुहम्मद ने मई में उसे बधाई पत्र भेजा एवं सिक्खों एवं ईरान के विरूद्ध सहायता चाही गई। जवाब में आकलैण्ड ने लिखा कि 'मित्र तुम्हें ज्ञात है कि ब्रिटिश सरकार की यह नीति स्वतंत्र राज्यों की गतिविधियों में हस्तक्षेप की नहीं है। दोस्त मुहम्मद के समाधान करने के लिए एक ओर तो ईरान के शाह से मैत्री स्थापित करने की योजना बनाई।

जिसे एक कूटनीतिक चाल की संज्ञा दी जा सकती है। दूसरी ओर अपने पुत्र अकबर खान के नेतृत्व में एक सेना सिक्खों के विरूद्ध भेजी जिससे पेशावर पुनः प्राप्त किया जा सके। लेकिन सिक्खों के विरूद्ध उसका अभियान सफल नहीं हुआ।

नोट

बर्न्स मिशन (Burnes Mission) : इन दिनों आंग्ल-रूसी सम्बन्धों में कटुता पैदा हो गई थी। मध्यपूर्व में बढ़ती हुई रूसी महत्वाकांक्षा तथा पामर्स्टन की रूस विरोधी नीति इसके मूल कारण थे। गृह सरकार ने इस ओर ध्यान दिये जाने के लिए निर्देश दिये, जिससे रूसी विस्तारवाद पर रोक लगाइ जा सके। विदेशमंत्री पामर्स्टन की स्पष्ट धारणा थी कि रूसी प्रभाव को सीमित करने के लिए अफगानिस्तान में ब्रिटिश वर्चस्व स्थापित किया जाना चाहिए। नवम्बर 1836 में आकलैण्ड ने अलेक्जेण्डर बर्न्स को मुम्बई से काबुल भेजा। वह एक व्यापारिक शिष्टमण्डल के रूप में गया। लेकिन उसका उद्देश्य अलग ही था जैसा स्वयं ने कहा था : वह मामलों को गहराई तक देखने तथा इसके बाद क्या किया जाना है इसका निर्णय करने के लिए भेजा गया था। युद्ध का औचित्य सिद्ध करते हुए स्वयं आकलैण्ड ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है। दोस्त मुहम्मद से बर्न्स से उनके साथ मैत्री सम्बन्ध स्थापित करने की इच्छा व्यक्त की, लेकिन उसने यह शर्त रखी कि अंग्रेज रणजीतसिंह को सहयोग न दें तथा पेशावर प्राप्त करने में उसकी मदद करें। ईरान द्वारा काबुल या कन्धार पर आक्रमण की स्थिति में भी उनकी सहायता की अपेक्षा की गई। यह भी कहा गया कि वे शाहशुजा को सहयोग नहीं करें। अंग्रेज दूसरी शर्त मानने को सहमत हो सकते थे लेकिन पहली शर्त को कैसे मानते। रणजीतसिंह की शत्रुता के मूल्य पर दोस्त मुहम्मद की मैत्री आकलैण्ड को स्वीकार न थी। वह यह भी जानता था कि रणजीतसिंह सतलज के उस पार तथा सिंध में अंग्रेजी हस्तक्षेप से अप्रसन्न था। यदि अब अंग्रेज उसे पेशावर अफगानिस्तान को लौटाने की सलाह देते है तो उसका आक्रोश फूट पड़ना स्वाभाविक था। इसके अतिरिक्त उसे दोस्त मुहम्मद की मित्रता पर अधिक विश्वास नहीं था। दूसरे शब्दों में अफगानों की अविश्वस्त मैत्री के लिए सिक्खों की मित्रता का बलिदान अंग्रेज करने के लिए तत्पर न थे। इन दिनों रूस का एजेन्ट विक्टेविच काबुल में उपस्थित था जिससे उसकी धारणा की पुष्टि होती थी। इस प्रकार बर्न्स मिशन असफल रहा और वह 1838 में भारत लौट आया।

त्रिपक्षीय सन्धि (Tripartite Treaty, June-1838) : काबुल में रूसी दूत के स्वागत को देखकर साम्राज्यवादी शासक दोस्त मुहम्मद के स्थान पर शाहशुजा को काबुल की सत्ता सौंपने पर विचार करने लगे। बर्न्स मिशन की विफलता के पश्चात् आकलैण्ड के समक्ष तीन विकल्प थे। अफगानिस्तान और ईरान को उनके भाग्य पर छोड़ दिया जाना चाहिए और अंग्रेजों को अपनी शक्ति सिन्ध पर केन्द्रीत करना चाहिए। दूसरा काबुल व कन्धार को आर्थिक सहायता देकर अफगानिस्तान को रूस के नियंत्रण में जाने से बचाया जाये। तीसरे रणजीसिंह को शाहशुजा के नेतृत्व में सेना के साथ अफगानिस्तान पर आक्रमण हेतु भेजा जाये। लेकिन दूसरों के कार्य हेतु रणजीतसिंह अफगानिस्तान के अभियान पर जाने को क्यों तत्पर होगा? अतः अन्तिम रूप से आकलैण्ड ने स्वयं इस कार्य को सम्पादित करने का निर्णय किया और 13 अगस्त 1838 को गृह सरकार को इस आशय की स्वीकृति भेजने हेतु लिखा।

योजना की क्रियान्विति के लिए अंग्रेजों ने रणजीतसिंह एवं शाहशुजा के मध्य एक त्रिपक्षीय संधि का प्रावधान किया। प्रारंभ में महाराजा तैयान न थे, लेकिन अंग्रेजों ने जब उन्हें सूचित किया कि वे भागले अथवा न लें, यह अभ्यिान तो होगा ही, तो वे शाहशुजा के साथ

हुई अपनी सन्धि में कुछ संशोधन करने को तैयार हो गए, तथा बरकजइयों को निर्मूल करने के लिए त्रिदलीय सन्धि निर्णीत हो गई। यहाँ सन्धि के कुछ महत्वपूर्ण प्रावधानों का उल्लेख करना उचित होगा :

नोट

1. शाहशुजा और उसका उत्तराधिकारी भविष्य में सिंध नदी के तटों के दोनों क्षेत्रों पर अधिकार की मांग नहीं करेंगे तथा पेशावर रणजीतसिंह के अधिकार में रहेगा।
2. महाराजा का क्षेत्र जहां सिंध नदी से लगा हुआ है वहां सिंध नदी पर उनका अधि कार होगा।
3. अंग्रेज एवं सिक्खों के बीच का समझौता शाहशुजजा को मान्य होगा।
4. काबुल की गद्दी शाहशुजा को दिलाने के लिए रणजीतसिंह 500 सैनिकों की व्यवस्था करेगा और इसके बदले 2 लाख रु. प्राप्त करेगा।
5. अंगरेजों व सिक्खों की अनुमति के बिना शाहशुजा किसी विदेशी शक्ति से सम्बन्ध नहीं रखेगा।
6. वह अपने क्षेत्र से (अफगानिस्तान होकर) किसी विदेशी सेना को नहीं जाने देगा।
7. हेरात स्वतंत्र रहेगा।
8. काबुल में शाहशुजा के पास एक राजदूत भेजा जायेगा। इस प्रकार त्रिदलीय सन्धि ने अफगान युद्ध का सूत्रपात कर दिया।

शिमला घोषणा : 1 अक्टूबर 1838 को गवर्नर जनरल ने शिमला से युद्ध का औचित्य सिद्ध करने हेतु एक घोषणा पत्र जारी किया। यह अभिप्रेत युद्ध के सरकारी समर्थन के तौर पर निकाला गया था। इसमें दोस्त मुहम्मद के विचारों और व्यवहार का गलत रूप से वर्णन किया गया। शिमला घोषणा पत्र में "झूठी बातों के ढेर लगा दिये गये।" गवर्नर जनरल ने दोस्त मुहम्मद के "हमारे पुराने मित्र पर अकारण आक्रमण" के सम्बन्ध में जो मन्तव्य प्रकट किया था, उसकी उचित तुलना ट्रोटर ने उस "सचाई" के साथ की है, जो "कहानी में भेड़ के बच्चे के विरूद्ध भेड़िये द्वारा की गयी शिकायत" में थी। घोषणा में रूस का कहीं जिक्र नहीं था एवं ईरान को अतिक्रमण के लिए दोषी ठहराया गया जबकि हेरात पर ईरान का घेरा पहले ही समाप्त हो चुका था। आकलैण्ड की नीति का किसी भी तरह से समर्थन नहीं किया जा सकता। अफगानिस्तान के स्वतंत्र शासक की हैसियत से दोस्त मुहम्मद को इसका अधिकार था कि वह अनी ओर ईरानी-रूसी सन्धि की सहायता प्राप्त करे, भले ही वह ब्रिटिश हितों के लिए हानिकारक हो।... ईरानियों के सितम्बर 1838 में हिरात से हट जाने के बाद ब्रिटिश हितों के लिए खतरे के रूप में ईरानी रूसी आक्रमण का लचर बहाना बिल्कुल कमजोर पड़ गया। इससे आकलैण्ड द्वारा पेश किये गये समर्थन के सभी कारण हवा हो गये तथा सिंधु के पार का आक्रमण तुरंत मूर्खता और अपराध में परिणत हो गया।

जहाँ तक रूसी एजेन्ट का सवाल है विक्टेविच वापस बुला लिया गया था और रूसी सरकार ने उसकी अफगानिस्तान में उपस्थिति को गैर-सरकारी घोषित कर दिया था। अफगानिस्तान के प्रति उग्र नीति निर्धारण के उत्तरदायित्व से आकलैण्ड मुक्त करने के लिए बहुधा यह तर्क दिया जाता है कि इंग्लैण्ड के विदेशमंत्री पामर्स्टन तथा बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल के अध्यक्ष, हाबहाउस तथा एलेनबरो ने रूस के बढ़ते प्रभाव को रोकने के लिए नीति अपनाने के लिए कहा था, किन्तु यह ध्यान रखने योग्य बात है कि इंग्लैण्ड सरकार का लक्ष्य रूस

का ईरान पर प्रभुत्व स्थापना को रोकना था। उस समय रूस अफगानिस्तान पर प्रभुत्व स्थापित करने की नहीं सोच रहा था। इंग्लैण्ड के विरोध करने पर रूस ने अपने दूत को ईरान तथा अफगानिस्तान से वापस बुला लिया।

नोट

6.7 प्रथम आंग्ल अफगान युद्ध (1839-42)

आकलैण्ड परिस्थितियों का सही आकलन नहीं कर पाया और उसने 1 अक्टूबर 1838 को अफगानिस्तान के विरूद्ध युद्ध की घोषण कर दी। घोषण में कहा गया कि "अफगानिस्तान के पूर्वी प्रान्तों में एक शत्रु शक्ति के स्थान पर मित्रशक्ति की स्थापना की जाए और हमारी उत्तर-पश्चिमी सीमा पर आक्रमण की योजनाओं के विरूद्ध एक स्थाई दीवार कायम हो। इस अभियान के लिए एक विशाल सिन्ध सेना की रचना की गई। जिसमें एक ब्रिगेड, तोपखाना, घुड़सवार, पांच ब्रिगेड पैदल सम्मिलित थे, को फिरोजपुर में एकत्र किया। स्मिथ ने कुल सैनिकों की संख्या 21000 तक शाहशुजा द्वारा रखे गये 6000 अस्थायी सैनिकों का, इस संघर्ष में उयोग किये जाने का जिक्र किया है। जॉन कीन को सेनापति बनाया गया एवं मेकनाटन शाहशुजा के दरबार में ब्रिटिश दूत नियुक्त हुआ। अलेक्जेण्डर बर्न्स को कूटनीतिक कार्यों का नेतृत्व सौंपा गया। चूंकि रणजीतसिंह ने ब्रिटिश सेनाओं को पंजाब से गुजरने की अनुमति नहीं दी थी अत: सेना ने सिन्ध के मार्ग से खैबर दर्रे में प्रवेश किया। शाहशुजा सेना सहित अगस्त में काबुल पहुँचा। चार दिन पूर्व दोस्त मुहम्मद काबुल छोड़कर भाग चुका था, आक्रमणकारी सेनाओं ने कंधार, गजनी और काबुल पर अधिकार कर लिया। दोस्त मुहम्मद पकड़ा गया। उसने आत्म-समर्पण कर दिया था अत: उसे नवम्बर 1839 में गिरफ्तार कर कलकत्ता भेज दिया। शाहशुजा को काबुल की सत्ता मिली और एलफिंस्टन के नेतृत्व में ब्रिटिश सेना उसकी सुरक्षार्थ तैनात हो गई। लेकिन शाहशुजा अफगानों में लोकप्रिय न था, न ही उसका व्यक्तित्व प्रभावी था। वह लोगों में इस कारण अत्यधिक अलोकप्रिय न था, न ही उसका व्यक्तित्व प्रभावी था। वह लोगों में इस कारण अत्यधिक अलोकप्रिय था क्योंकि वह अपने साथ इस देश के इस्लाम के शत्रुओं को ले आया था। केयी ने शाहशुजा के काबुल में प्रवेश को मृत्यु के जूलुस की संज्ञा दी है।" मेकनाटन ने शाहशुजा की सत्ता को सुदृढ़ करने के लिए विभिन्न कबीलों के नेताओं से वार्ता द्वारा नये नवाब के लिए सहयोग जुटाने के काफी प्रयास किये, लेकिन उसे अधिक सफलता नहीं मिली।

अफगानिस्तान में सैनिक अधिकारियों को काफी परेशानियों का सामना करना पड़ रहा था। आकलैण्ड ने 10,000 सैनिकों को छोड़कर शेष को अफगानिस्तान से लौट आने के आदेश दिये। इस परिस्थिति में अफगानों की उग्र भीड़ ने नवम्बर 1841 में काबुल स्थित बर्न्स के निवास पर आक्रमण कर उसकी हत्या कर दी। संचार साधनों के अभाव में कंधार से जनरल काबुल नहीं जा सका। गण्डमक (गंडमर्क) से जनरल रॉबर्ट सेल जलालाबाद की ओर अग्रसर हुआ। 23 नवम्बर को बेमरू (बामारू) में अंग्रेज पराजित हो गये और मेकनाटन को बाध्य होकर 11 दिसम्बर 1841 को अकबर खाँ के साथ अपमानजनक सन्धि करनी पड़ी। यह तय हुआ कि 22 दिसम्बर तक अंग्रेज अफगानिस्तान छोड़कर चले जायेंगे और दोस्त मुहम्मद एवं अन्य गिरफ्तार लोगों को छोड़ दिया जायेगा। शाहशुजा को अफगानिस्तान में रहने या अंग्रेजों के साथ जाने की छूट थी। चार ब्रिटिश अधिकारी अफगानों के पास बन्धक रखे गये। लेकिन सन्धि के बाद भी अफगानों ने मेकनाटन की 23 दिसम्बर, 1841 को हत्या कर दी। अत: अपने हथियार सौंपकर एलफिंस्टन ने 16300 सैनिकों सहित जनवरी 1842 में भारत की ओर प्रस्थान

नोट

किया। अकबर खाँ पर लौटती हुई सेना की सुरक्षा का दायित्व सन्धि की शर्तों के अनुसार था पर उसने इसकी चिंता नहीं की। मार्ग में गिलजई (गिरजाई) व अन्य जातियों ने लौटती सेना पर प्रहार कर दिया और धीरे-धीरे सभी अंग्रेज सेनापति एक के बाद एक षडयंत्र का शिकार होते गये। जनवरी 1842 एलफिंस्टन अपने 4500सैनिकों 12000 सेना अनुचरों के साथ मारा जा चुका था। अंत में 16000 लोगों में से डॉ. ब्राइडन मुश्किल से 13 जनवरी 1842 को जलालाबाद पहुँच सका। शाहशुजा भी मारा गया। रणजीतसिंह की 1839 में मृत्यु हो गई। इस प्रकार त्रिपक्षीय सन्धि धूल धूसरित हो गई।

परिणाम : अंग्रेजों को पहली बार भारी सैनिक असफलता का सामना करना पड़ा। जितनी जन-धन की क्षति इस अभियान में हुई पहले कभी नहीं हुई थी। शाहशुजा जो एक अयोग्य एवं अलोकप्रिय व्यक्ति था, का अफगान सत्ता के लिए चयन कर, आकलैण्ड ने गंभीर भूल की। स्मिथका मन्तव्य है कि उसने बिना युद्ध की आवश्यकता सिद्ध किये यह निर्णय लिया था उसने यह नहीं देखा कि अफगानों की स्वतंत्रता में कितनी आस्था है। आकलैण्ड का अफगान आक्रमण एवं भयंकर गलती ही नहीं, अपितु अफगानिस्तान की जनता तथा वहाँ के अमीरों के प्रति घोर अन्याय भी था।

उस देश में अंग्रेजों के नीति से ईरानी आक्रामक रूख को बढ़ावा मिला था उसको मास्को की ओर झुकाव बढ़ा। यह भी कहा जाता है कि इस विनाशकारी युद्ध में भारत को 15 लाख रूपये व्यय करने पड़े अर्थात् युद्ध की भारी कीमत भारतीय जनता से वसूल की गई। लेकिन जन क्षति इससे कहीं अधिक थी। युद्ध में 20 हजार जवानों ने अपना बलिदान किया। ट्राटर लिखते है कि 'चाहे जिस दृष्टि से देखा जाए वह नीति भूल और अपराध दोनों थी। विद्वानों ने इसे गंभीरता से लिया है कि आकलैण्ड ने कौंसिल को भी विश्वास में लेने की आवश्यकता नहीं समझी। इतना ही नहीं उसने अपने सेनापति काअनार किया और बोर्ड ऑव कन्ट्रोल की इच्छाओं के विपरीत कार्रवाई की तथा मध्य एशिया में रूसी खतरे को बढ़ा-चढ़ा कर ब्रिटिश सरकार के समक्ष रखा। ब्रिटिश मंत्री मैकलीन जो ईरानी मामले का प्रभारी था ने 1836 में कहा था कि रूसी रेजीमेंट जहां पर केन्द्रित था वह कैस्पियन के पश्चिमी किनारे के छोर पर था। यह मास्को वापस आने के लिए उतना ही दूर था जितना सिन्ध से अटक। यह पीट्सबर्ग से लाहौर से भी दूर पड़ता है जो सिक्खों की राजधानी थी। यह सर्व विदित था कि उन दिनों इतने दूर युद्ध करना सरल कार्य न था।

हेरात पर ईरान का घेरा भी अनुचित नहीं था हेरात के शासक कामरान ने बार-बार ईरान से हुई सन्धि को तोड़ा था और उसके क्षेत्र में आक्रमण किया था। इस कारण ईरान के शाह द्वारा हेरात पर आक्रमण को अनुचित नहीं कहा जा सकता। इस सम्बन्ध में रॉबर्ट्स ने ठीक लिखा है: इस नीति को बनाने वाले ने आक्रमण के जो बेतुके बहाने बनाये वे सब घटनाओं की धारा में पता नहीं कहीं लापता हो गये जिससे उनका उद्देश्य भी पूरा न हो पाया।

एलेनबरो की अफगान नीति : जहाँ एलफिंस्टन दुर्भाग्यपूर्ण घटना का शिकार हुआ दूसरी ओर वहीं जनरल नॉट कंधार पर अधिकार बनाये रखने में सफल रहा। उसे मुक्त कराने के लिए भेजे गये जनरल इंग्लैण्ड एवं जनरल नॉट की सेनाओं ने संयुक्त रूप से स्थिति को सुधारा। दूसरी ओर कर्नल सेल जो जलालाबाद में अफगानों से घिरा हुआ था, ने तब तक स्थिति को यथावत बनाये रखा जब तक कि पोलक के नेतृत्व में नई सेना नहीं आ गई। पोलक की सफलता से अंग्रेजों की स्थिति में काफी सुधार हुआ। इस प्रकार पोलक की सफलता ने एलेनबरो की प्रतिष्ठा बढ़ाई जो आकलैण्ड के लौटने पर भारत का गवर्नर जनरल बनकर आया

नोट

था। लेकिन उसने हकलजाई में जनरल इंग्लैण्ड की पराजय तथा गजनी में पामर के आत्म समर्पण की सूचना मिलने पर ब्रिटिश सेना की वापसी के आदेश दिये। सेनापतियों ने संचार साधनों के अभाव का बहाना बनाकर अपनी वापसी को कुछ समय के लिए निर्देशित किया। नॉट एवं पोलक दोनों की सेनाओं ने काबुल में संयुक्त रूप से कार्रवाई की। नॉट ने गजनी के किले को भी नष्ट किया था। विजयी ब्रिटिश सेनाओं ने यूरोपीय कैदियों को मुक्त करवाया। लेकिन 12 अक्टूबर को बर्बरता पूर्ण तरीके से काबुल के बड़ी बाजार को उड़ा दिया जो एक अक्षम्य अपराध था। इसी दौरान एलेनबरो ने अंग्रेजों की प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिए कुछ घोषणायें की। उसने घोषित किया कि अंग्रेजों की अफगानिस्तान में कोई क्षेत्रीय महत्वाकांक्षा नहीं है और वे अपनी प्राकृतिक सीमा से ही सन्तुष्ट है। 10 अक्टूबर को अफगानों को सूचित किया है कि "वह अफगानों के ऊपर ही यह छोड़ते है कि वे अपनी अव्यवस्थित स्थिति में जैसी चाहे वैसी सरकार बनाये। यह घोषणा अंगरेजों की प्रतिष्ठा को बचाने का एक प्रयास था, इसके द्वारा उन्होंने यह दर्शाने का प्रयास किया कि अफगानिस्तान क्षेत्र रहने की दृष्टि से अंग्रेजों के लिए पूरी तरह अयोग्य है।

दोस्त मुहम्मद (1842-63) दुबारा सत्ता में आने के बाद से उसकी मृत्यु तक (1863 ई.) दोस्त मुहम्मद अंग्रेजों का मित्र बना रहा। भारत सरकार एवं उसके बीच एक संधि पर हस्ताक्षर होते ही 1855 में आंग्ल अफगान मैत्री का नया दौर शुरू हुआ। दोस्त मुहम्मद इस बात के लिए सहमत हो गया कि वह ईस्ट इण्डिया कम्पनी के मित्रों का मित्र तथा शत्रुओं का शत्रु रहेगा। दूसरी और अंगरेजों ने अफगानिस्तान को उसके आन्तरिक मामले में हस्तक्षेप न करने के लिए आश्वस्त किया। अफगान अमीर 1857 के विद्रोह के दौरान भी सन्धि के प्रति निष्ठावान बना रहा और उसने विद्रोहियों को सहायता देने से इन्कार कर दिया। उसकी मृत्यु के बाद उसके 16 पुत्रों में उत्तराधिकार युद्ध शुरू हुआ और कुछ समय के लिए वहाँ अराजकता बनी रही। दोस्त मोहम्मद ने शेरअली को अपना उत्तराधिकारी बनाया था। जान लारेन्स ने 1864 में शेरअली को अफगानिस्तान के शासक के रूप में मान्यता प्रदान की, लेकिन उसने अफगानों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप से इन्कार कर दिया। अन्त में, शेरअली काबुल और कन्धार को जी कर 1868 में अफगानिस्तान का शासक बना।

ब्रिटिश अकर्मण्यता नीति : प्रथम अफगान युद्ध में अंगरेजों की भीषण पराजय हुई और उन्हें घोर अपमान सहन करना पड़ा था। अफगानों को अपनी स्वतंत्रता को बरकरार रखने के लिए व्यापक संघर्ष करना पड़ा। अंग्रेज नीति निर्धारकों पर इसका तत्काल प्रभाव हुआ और उन्होंने अग्रगामी नीति का परित्यागा कर अकर्मण्यता की नीति को अपनाया। हर्बर्ट एडवर्ड्स और हैरी लम्सडेन जैसे विचारकों की मान्यता थी कि यदि ब्रिटिश अफगानिस्तान को रूसी हाथों में जाने देने से बचाना चाहते है तो इसके लिए सबसे अच्छी नीति यह है कि "उन्हें ऐसा प्रतीत हो कि हम स्वयं अफगानिस्तान में कुछ नहीं चाहते। इस विचारधारा के लोगों को पंजाब स्कूल कहा गया, जिसकी स्थापना विद्रोह (1857 ई.) के पूर्व लारेन्स ने ही की थी। लारेन्स का विचार था कि अफगानिस्तान एक गरीब देश है इसलिए विदेशियों की एक बड़ी सेना यहां नहीं रह सकती और एक छोटी सेना अपनी सुरक्षा नहीं कर सकती। उसके अनुसार काबुल, बोखारा एवं यारकंद आदि स्थानों पर राजनैतिक एवं व्यापारिक मिशन रखना ही लाभदायक होगा। लारेन्स के भारत में वाइसराय काल में (1864-69) और उसके दो उत्तराधिकारियों (मेयो 1869-72 एवं नार्थब्रुक 1872-76) के अहस्तक्षेप या अकर्मण्यता की नीति को अपनाया। लारेन्स चाहता था कि अफगानिस्तान के आन्तरिक मामले में हस्तक्षेप किये बिना उसके शासक

नोट

को शक्तिशाली बनाया जाए और भारत और रूप के बीच अफगानिस्तान को एक मित्र देश स्वीकार किया जाए और भारत और रूस के प्रभाव की मध्य एशिया में एक स्पष्ट सीमा रेखा अंकित कर दी जाये। रूस को यह बताया जाना आवश्यक है कि उसके प्रभाव क्षेत्र में उसे कुछ भी करने का अधिकार है वहाँ उसे अफगानिस्तान के मामले में हस्तक्षेप किये बिना उसके शासक को शक्तिशाली बनाया जाए और भारत और रूस के बीच अफगानिस्तान को एक मित्र देश स्वीकार किया जाए और भारत और रूस के प्रभाव की मध्य एशिया में एक स्पष्ट सीमा रेखा अंकित कर दी जाये। रूस को यह बताना जाना आवश्यक है कि उसके प्रभाव क्षेत्र में उसे कुछ भी करने का यह अधिकार है वहाँ उसे अफगानिस्तान के मामले में हस्तक्षेप करने का अधिकार न होगा क्योंकि वह अंग्रेजी प्रभाव क्षेत्र में है। उसका मन्तव्य था कि वह अफगानिस्तान के साथ आक्रामक अथवा सुरक्षात्मकता मित्रता के पक्ष में नहीं है पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि वह अफगानिस्तान की सुरक्षा में रूचि नहीं रखता।

लारेन्स ने अनी नीति को दृढ़तापूर्वक अपनाया और उत्तराधिकार युद्ध में किसी का पक्ष न लेकर तटस्थ रहा। लेकिन जैसे ही शेरअली अपने सभी प्रतिद्वंद्वियों को दबाकर अफगानिस्तान का शासक बना लारेन्स ने उसे मान्यता प्रदान की।

6.8 द्वितीय आंग्ल अफगान युद्ध

जॉन लारेन्स, लार्ड मेयो एवं नार्थब्रुक की नीति के विरूद्ध इंग्लैण्ड में एक अति उत्साही दल अफगानिस्तान के साथ एक प्रतिबद्ध सन्धि पर जोर देता रहा और अग्रगामी नीति का पक्षपाती था। बार्टल फ्रेरेव व हेनरी रॉलिन्सन जैसे विचारक इस नीति के समर्थक थे। बेंजामिन डिजरेली के प्रधानमंत्री बनने पर अग्रगामी नीति अपनाये जाने की प्रबल संभावनाये बनी। डिजरेली ने अपनी साम्राज्यवादी नीति के अनुरूप लार्ड लिटन को भारत का गवर्नर जनरल बनाकर भेजा। 1870 के बाद हम संपूर्ण विश्व में साम्राज्यवाद का पुनरूत्थान होता हुआ देखते है। आंग्ल रूस प्रतिद्वन्द्विता भी तीव्र हो गई और ब्रिटिश सरकार पुनः मध्य एशिया में व्यापारिक तथा वित्तीय घुसपैठ के लिए तत्पर हो गई। पूर्वी समस्या पर रूस और ब्रिटेन में गंभीर मतभेद थे। रूस, टर्की के अशक्त राज्य को छिन्न भिन्न करके अपने राज्य का विस्तार उस दिशा में चाहता था दूसरी ओर ब्रिटेन प्रत्येक स्थिति में टर्की की सुरक्षा के लिए तत्पर था। इस मतभेद को लेकर रूसस एवं ब्रिटेन के मध्य क्रीमिया में युद्ध हुआ।

क्रीमिया युद्ध (1854–56) में रूस की हार के बाद ही अंग्रेजों ने अपना ध्यान विशेष रूप से मध्य एशिया पर केन्द्रित किया और अफगानिस्तान को एक शक्तिशाली प्रतिरोधक के रूप में मजबूत बनाने की नीति अपनाई। डिजरेली और भारत सचिव सेलिसबरी का लक्ष्य था अफगानिस्तान को अधीनस्थ स्थिति में रखना ताकि वह मध्य एशिया में ब्रिटिश विस्तार के लिए आधार बन सके। इसके अतिरिक्त साम्राज्यवादियों तथा इंग्लैण्ड की जनता पर रूसी हमले का भूत सवार था और इसीलिए भारत सरकार को लंदन से निर्देश मिले कि वह अफगानिस्तान को एक अधीन राज्य बनाए जिसकी विदेशी तथा प्रतिरक्षा सम्बन्धी नीतियाँ निश्चित रूप से ब्रिटिश नियंत्रण में हो।

लार्ड लिटन (Lord Lytton 1876-80) का लक्ष्य : भारत में नियुक्ति के समय लिटन को काफी प्रशासकीय अनुभव था वह लेखक और प्रखर वक्ता भी था। अफगान अमीर शेरअली अपनी स्वतंत्रता के प्रति रूसी खतरे से अनभिज्ञ न था और इसीलिएस उत्तर से आने वाले किसी भी संकट के निराकरण के लए अंग्रेजों के साथ सहयोग करने को तत्पर था।

नोट

उसने रूस के विरूद्ध एक रक्षात्मक एवं आक्रमणात्मक सन्धि का प्रस्ताव भारत सरकार के समक्ष रखा, साथ ही यह भी आग्रह किया कि वह आवश्यकता पड़ने पर आन्तरिक या बाह्य शत्रुओं के विरूद्ध सैनिक सहायता का वचन दे। भारत सरकार ने इस प्रकार पारस्परिक और बिना शर्त वादा करने से इन्कार कर दिया। दूसरी ओर लिटन ने माँग की कि उसे काबुल में ब्रिटिश मिशन रखने और अफगानिस्तान के विदेश सम्बन्धों पर नियंत्रण रखने का एक तरफा अधिकार दिया जाए। लिटन ने सेलिसबरी (सैपेइनतल) को लिखा कि 'शेरअली के मना करने पर एक और प्रयत्न किया जाएगा और यदि वह भी असफल रहा तब बलपूर्वक दबाव की नीति अपनाई जायेगी।' बड़े आत्म-विश्वास के साथ लिटन ने उल्लेख किया : 'मैं समझता हूँ कि शेरअली पर दबाव डालना कठिन नहीं होगा।' शेरअली ने रेजीडेंट का स्वागत करने से इन्कार कर दिया तब उसे ब्रिटिश विरोधी तथा रूसियों प्रति हमदर्दी रखने वाला कहा गया। क्रुद्ध वायसराय ने घोषित किया कि 'अमीर की नीति मध्य एशिया और पूर्व भारत में हमें मूर्ख बनाने की है..... ।' उसने गृह सरकार को झूठी सूचना भिजवाई कि ब्रिटिश शिष्टमण्डल को 'शक्तिपूर्वक ढकेल दिया है और इस तरह उनसे युद्ध घोषणा की अनुमति चाही गई। विश्वास के साथ उसने कहा, 'मुझे आशा है कि वर्ष के अन्त तक निश्चित सीमा नीति के रूप में हमें कुछ दिखाना पड़ेगा। अफगानिस्तान पर आक्रमण का औचित्य दर्शाते हुए घोषित किया कि 'मैं उसे रूस के हाथों औजार कभी नहीं बनाने दूंगा। मेरा यह कर्त्तव्य होगा कि ऐसे औजार को उसके इस्तेमाल से पहले ही नष्ट कर दूँ।' आकलैण्ड की नीति पर चलते हुए वह 'अफगान सत्ता को धीरे-धीरे विघटित और कमजोर करने के पक्ष में था।

अमीर से ब्रिटिश शर्तों को मनवाने के लिए 1878 में अफगानिस्तान पर एक नया हमला किया गया। 26 मई, 1879 को शान्ति स्थापित हुई जब शेरअली के पुत्र याकूब खाँ ने गण्डमक की सन्धि पर हस्ताक्षर किये जिसके तहत अंग्रेजों को जो कुछ उन्होंने चाहा था वह सब मिल गया। उन्हें कुछ सीमावर्ती जिले, काबुल में रेजीडेंट रखने का अधिकार और अफगानिस्तान की विदेश नीति पर नियंत्रण प्राप्त हुए। लेकिन ब्रिटिश सफलता अस्थायी साबित हुई। अफगानों के राष्ट्रीय स्वाभिमान को ठेस पहुँची और एक बार फिर अपनी स्वाधीनता के लिए अफगानों के राष्ट्रीय स्वाभिमान को ठेस पहुँची और एक बार फिर अपनी स्वाधीनता के लिए अफगानों ने विद्रोह कर दिया। 3 सितम्बर, 1879 को ब्रिटिश रेजीडेंट मेजर लुई केवेग्नरी तथा उसके सैनिक रक्षक दल पर अफगान सैनिकों ने हमला किया तथा उन्हें मार डाला।

अफगानिस्तान पर जनरल रॉबर्ट्स एवं डोनल्ड स्टीवर्ट के नेतृत्व में पुनः आक्रमण कर काबुल पर अधिकार कर लिया। इस दौरान अफगानिस्तान में अराजकता बनी रही, ऐसा कोई नहीं था जिससे सन्धि वार्ता की जाये। अफगानों ने अपना पक्ष स्पष्ट कर दिया।

लार्ड रिपन (Lord Ripon 1880-84) की नीति : 1880 ब्रिटेन में सरकार बदली और लिटन के स्थान पर रिपन को वायसराय बनाकर भेजा। रिपन ने लिटन की आक्रामक नीति को तेजी से बदल दिया और अफगानिस्तान के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करने की नीति फिर से अपनाई। उसने दोस्त मुहम्मद के पोते अब्दुर रहमान को अफगानिस्तान का नया शासक मान लिया। अफगानिस्तान में ब्रिटिश रेजीडेंट रखने की मांग को वापस ले लिया गया। बदले में अब्दुर रहमान इस बात के लिए तैयार हो गया कि वह अंग्रेजों को छोड़कर किसी अन्य शक्ति के साथ राजनैतिक सम्बन्ध नहीं रखेगा। भारत सरकार भी उसे आर्थिक सहायता देने तथा विदेशी आक्रमण की स्थिति में उसकी मदद करने के लिए तैयार हो गई। अफगान अमीर भी अंग्रेजी सहयोग के महत्व को समझता था, इसीलिए उसने इसे सहर्ष स्वीकार किया।

इस प्रकार अफगानिस्तान के अमीर का अपनी विदेश नीति पर नियंत्रण नहीं रहा और इस सीमा तक वह एक आश्रित शासक बन गया। मगर साथ ही उसका अपने देश के अन्दरूनी मामलों पूर्ण नियंत्रण बना रहा।

नोट

परिणाम : दूसरे अफगान युद्ध का परिणाम उतना निराशाजनक नहीं था जितना पहले अफगान युद्ध का था। लेकिन अफगान संघर्ष से यह निश्चित हो गया कि वे लोग अपनी स्वतंत्रता के लिए कटिबद्ध थे और उन्हें अंग्रेजी नियंत्रण अथवा आधीनता में रखना नामुमकिन था। यह तथ्य उस समय अफगानों के लिए जितना महत्वपूर्ण था आज भी वह उतना ही महत्व रखता है। लिटन की अपेक्षा रिपन की नीति अंगरेजों के लिए लाभदायक सिद्ध हुई। अब उसने अफगानों पर निरर्थक नियंत्रण बनाये रखने का विचार छोड़ा। वस्तुत: रिपन ने लिटन की नीति के दोषों को छोड़ दिया, लेकिन उपलब्ध लाभों को बहुत सीमा तक बनाये रखा। लिटन की नीति का सारा दोष यह था कि वह काबुल में अंग्रेज दूत रखने पर अड़ा हुआ था अथवा अफगान राज्य के टुकड़े करना चाहता था। डिजरेली और सेलिसबरी चाहते थे कि कूटनीतिक प्रभुत्व अफगानिस्तान पर स्थापित हो जाए। लिटन ने कूटनीतिक प्रभुत्व को एक अंग्रेज रेजीडेंट की नियुक्ति का साथ जुड़ा हुआ मान लिया एवं बलपूर्वक यहां रेजीडेंट को नियुक्त करना चाहा, यह उसकी नीति का दोष था। कहा गया है कि लिटन को एक साम्राज्यवादी नीति के संचालन का उत्तरदायित्व तो अवश्य सौंपा गया था, लेकिन उसके वास्तविक संचालन में डिजरेली और सेलिसबरी के आदेशों पर कम ध्यान दिया। वह उनसे भी अधिक उग्र साम्राज्यवादी सिद्ध हुआ, कालान्तर में अंग्रेजों ने एक मित्र अफगानिस्तान को अधिक आवश्यक समझा और लिटन की नीति को पुन: नहीं दोहराया। आंग्ल अफगान सम्बन्धों का महत्व आज भी भारत सरकार की विदेश नीति निर्धारण में बुनियादी भूमिका का निर्माण करता है।

6.9 सारांश

तृतीय आंग्ल–अफगान युद्ध की परिणति अफगनिस्तान की स्वतंत्रता मे हुई। 1917 की रूस की क्रांति के बाद रूस और ब्रिटेन साथी नही रहे। अफगानो ने ब्रिटिश सेना पर अचानक हमला बोल दिया। हलांकि ब्रिटिशों ने हवाई आक्रमण का सहारा लिया और राजा तक के महल पर बमबारी की। इससे अफगानिस्तान की जनता में भारी रोज़ उत्पन्न हुआ। अंतत: 1921 में अफगानिस्तान स्वाधीन हो गया। यह युद्ध केवल दो महिने तक चला। भारत की ब्रिटिश सेना ने बमों, विमानों, बेतार के तार की संचार व्यवस्था और आधुनिक शस्त्रास्त्रों का प्रयोग करके अफगानों को हरा दिया। अफगानों के पास आधुनिक शस्त्रास्त्र नहीं थे। उन्हें मजबूर होकर शांति संधि के लिए झुकना पड़ा। इसके परिणामस्वरूप 'रावलपिंडी की संधि' (अगस्त, 1919 ई.) हुई। रावलपिण्डी की संधि के बाद से ही आंग्ल–अफगान संबंध प्राय: मैत्रीपूर्ण रहा, और एशिया में शांति स्थापित हो गई।

6.10 अभ्यास प्रश्न

1. अफगानों के साथ अंग्रेजों के संबंधों की चर्चा कीजिए।
2. अंग्रेजों द्वारा अफगानिस्तान को अपने अधीन करने के क्या कारण थे?
3. प्रथम अफगान युद्ध के कारणों का उल्लेख करें।
4. द्वितीय अफगान युद्ध के क्या परिणाम हुए?

इकाई-7 सिंध एवं नेपाल के प्रति ब्रिटिश नीति

पाठ-संरचना

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 सिंध का विलय

7.3 त्रिपक्षीय सन्धि एवं सिंध

7.4 आंग्ल-नेपाल सम्बन्ध

7.5 सुगौली की संधि

7.6 सारांश

7.7 अभ्यास प्रश्न

नोट

7.0 उद्देश्य

सन् 1800 में मीर फतह अली खां की मृत्यु के बाद उसके भाइयों (इन्हें प्राय: 'चार यार' या 'चार मित्र' का संबोधन दिया जाता था) ने सिंध को आपस में बांट लिया। अब ये सिंध के अमीर कहलाने लगे। अंग्रेजों ने 1809 में सिंध के अमीरों के साथ एक शाश्वत मित्रता की संधि की। इस संधि के द्वारा यह निश्चित किया गया कि फ्रांसीसियों को सिंध में बसने की अनुमति नहीं दी जाएगी। 1832 में विलियम बैंटिंक ने कर्नल पोटिंगर के माध्यम से सिंध के अमीरों को अंग्रेजों के साथ एक नई व्यापार संधि पर हस्ताक्षर करने के लिए बाध्य किया। इस संधि के द्वारा अंग्रेजों ने सिंध में अनेक महत्वपूर्ण व्यापारिक सुविधाओं को प्राप्त किया। इस संधि के प्रावधानों के तहत कर्नल पोटिंगर को संधि में अंग्रेजों के राजनीतिक एजेण्ट के रूप में नियुक्त कर दिया गया। इसी समय महाराजा रणजीत सिंह सिंध पर आक्रमण करने की योजना बना रहा था।

सन् 1814 से 1816 चला एंगलो नेपाल युद्ध (गोरखा युद्ध) तत्कालीन नेपाल अधि राज्य (वर्तमान संघीय लोकतांत्रिक गण राज्य) और ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी के बीच में हुआ था। जिसका परिणाम सुगौली संधि में हुई और नेपाल ने अपना एक-तिहाई भूभाग ब्रिटिश हुकुमत को देना पड़ा। गोरखा युद्ध 1816 ई. में ब्रिटिश भारतीय सरकार और नेपाल के बीच हुआ। उस समय भारत का गवर्नर-जनरल लॉर्ड हेस्टिंग्स था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के राज्य का प्रसार नेपाल की तरफ भी होने लगा था, जबकि नेपाल अपने राज्य का विस्तार उत्तर की ओर चीन के होने के कारण नहीं कर सकता था। गोरखों ने पुलिस थानों पर हमला कर दिया और कई अंग्रेजों को अपना निशाना बनाया। इन सब परिस्थितियों में कम्पनी ने गोरखा लोगों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। 1801 ई. में ईस्ट इंडिया कम्पनी का कब्जा गोरखपुर जिले पर हो जाने से कम्पनी का राज्य नेपाल की सीमा तक पहुँच गया।

7.1 प्रस्तावना

अंग्रेज नेपाल के सम्पर्क में बंगाल के नवाब कासिम के समय ही आ गये थे। इसी दौरान एक व्यापारिक अंग्रेजी रेजीडेंट द्वारा नेपाल के विरुद्ध की गई कार्रवाई असफल रही।

नोट

दोनों के बीच एक व्यापारिक संधि हुई पर इसका कोई विशेष लाभ प्राप्त नहीं हुआ। इसके उपरान्त नेपाल की शक्ति में लगातार वृद्धि होती रही। लॉर्ड हेस्टिंग्स के आगमन तक नेपाल एक विस्तृत और शक्तिशाली साम्राज्य बन चुका था। इसके उत्तर में चीन का विशाल साम्राज्य स्थापित था, जिस ओर अंग्रेज विस्तार नहीं कर सकते थे। इसलिए उन्होंने अपने साम्राज्य का विस्तार दक्षिण में बंगाल और अवध की ओर करना शुरू कर दिया। दूसरी तरफ, बंगाल और अवध में अंग्रेज खुद अपनी शक्ति और साम्राज्य का विस्तार करने में लगे थे। जब अंग्रेजों ने 1801 ई. में गोरखपुर जिले पर अपना अधिकार कर लिया तो अंग्रेजी राज्य की सीमाएँ नेपाल से मिलने लगीं। इसलिए हिमालय की तराई के विभिन्न जिलों को लेकर दोनों ही पक्ष अपना-अपना दावा पेश करने लगे। इनके बीच 1814 ई. में उस समय झगड़ा शुरू हो गया जब नेपालियों ने बस्ती जिले के उत्तर में शिवराज और बुटवाल पर कब्जा कर लिया। जल्द ही अंग्रेजों ने दोनों जिलों पर पुनः अधिकार कर लिया। इससे दोनों के बीच लड़ाई छिड़ गई।

7.2 सिंध का विलय

राजपूताना तथा कच्छ के पश्चिम में सिंधु नदी की निचली घाटी क्षेत्र में स्थित सिंध प्रदेश को दो ओर से अरबसागर ने घेर रखा है। अठारहवीं शताब्दी के अंतिम दशकों में बलूची जाति की तालपुरा शाखा के सरदार फतेहली खाँ ने सिंध पर अपनी सत्ता स्थापित की। 1800 में उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके परिवार के सदस्यों का सिंध के अलग-अलग भागों कब्जा हो गया एवं सिंध के अमीरों की तीन शाखायें तीन भिन्न-भिन्न केन्द्रों से शासन करने लगी। पहली सिंध के उत्तरी भाग में जिसकी राजधानी खैरपुर थी, दूसरी सिंध के दक्षिणी क्षेत्र में जिसका केन्द्र हैदराबाद था और तीसरा उत्तरी पूर्वी हिस्से में जिसका मुख्यालय मीरपुर था। इन तीन सामन्ती राज्यों में समानता एवं स्वतंत्रता का सम्बन्ध होते हुए भी हैदराबाद के अमीरों का अधिक महत्व था। उत्तराधिकार परम्परा (पगड़ी बदलना) के अन्तर्गत एक अमीर की मृत्यु के पश्चात राज्य पर पहले उसके भाईयों को और बाद में पुत्रों को सत्ता मिलती थी।

अंग्रेजों की सिंध में रूचि 1758 में जाहिर हुई जब थट्टा में एक व्यापारिक गोदाम स्थापना की अनुमति चाही गइ और 1761 में अन्य कुछ सुविधाओं की मांग की गई। संभवतः 1792 में गोदाम बंद कर दिया गया था। लेकिन 1800 के बाद अंगरेज सिंध की गतिविधियों के प्रति कुछ सतर्क हो गये तथा अधिक रूचि लेने लगे, इसके कई कारण थे।

यूरोपीय घटनाक्रम : यूरोप की घटनाओं ने सिंध की राजनीति को प्रभावित किया। 1807 में यूरोप में नेपोलियन और रूस के जार के बीच टिलसिट की सन्धि हो जाने से राजनैतिक स्थिति बदल गई और ऐसा प्रतीत होने लगा कि पूर्वी अंगरेज साम्राज्य पर फ्रान्सीसी सेनाओं का आक्रमण हो सकता है। सिंध को फ्रांसीसी प्रभाव से मुक्त रखने के उद्देश्य से पंजाब की तरह एक शिष्टमण्डल भेजा गया और ब्रिटिश सरकार ने 1809 में सिंध के अमीरों से एक सन्धि की। 1820 में इस सन्धि का नवीनीकरण हुआ।

मध्य एशिया में रूस के बढ़ते प्रभाव को रोकने के लिए इंग्लैण्ड में कम्पनी के अधिकारियों ने एक लम्बी अवधि की कार्य योजना बनाई। कहा गया है कि दृष्टि अफगानिस्तान के अतिरिक्त खुरासान और हैरात पर भी थी और वह भारत पर भी निगाहें लगाये हुए था। अपनी पुत्री के विवाह के सन्दर्भ में फारस का शासक फतेहअली हैदराबाद (सिन्ध) आया था। अंग्रेजों को सन्देह हुआ कि रूस फारस के माध्यम से सिंध पर अपना प्रभाव पढ़ा सकता

है। इसी उद्देश्य से इंग्लैण्ड के कम्पनी अधिकारियों ने गवर्नर जनरल को निर्देशित किया कि बोखारा (बुखारा) से कैस्पियन सागर के बीच स्थित मध्य एशिया के राज्यों से सम्पर्क बनाये जायें। यूरोपीय तथा भारतीयों को उत्पादित माल के लिए इन नये बाजारों के विकास हेतु सिंध में नौ संचालन (Navigation) आवश्यक माना गया। इस तरह ब्रिटेन के राजनीतिक प्रभाव में वृद्धि किये जाने हेतु व्यापारिक सम्बन्धों की धारणा का विकास हुआ। सर्वप्रथ मूर फ्राफ्ट ने सिन्ध नदी का प्रयोग ब्रिटिश व्यापार के लिए एक मार्ग के रूप में किये जाने की संभावना व्यक्त की थी। व्यापार में सिन्ध नदी के उपयोग की योजना से रणजीतसिंह और सिंध के अमीरों को आपत्ति होना स्वाभाविक था अत: अंग्रेजों ने इस योजना को गोपनीयता रखा। औपनिवेशिक शासकोंने अपनी इस विचारधारा को 1827 में कूटनीतिज्ञ ढंग से जागार किया।

रणजीत सिंह के प्रति नीति : सिंध के उत्तर में रणजीतसिंह द्वारा एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना ने अंग्रेजों को सिंध में हस्तक्षेप करने के लिए बाध्य किया। रणजीतसिंह ने एक विशाल सेना का गठन कर लिया था और वह ऐसे अवसर की प्रतीक्षा में था जिससे सिंध पर अपने प्रभुत्व का विस्तार किया जाना संभव हो। महाराजा अरबसागर तक पहुँचने के लिए मार्ग की तलाश में थे जिससे समुद्र पार के देशों से सम्पर्क हो सके। 1818 में मुल्तान पर कब्जा कर लेने के बाद उन्होंने सिंध को अपना लक्ष्य बनाया। 1823-24 में अपनी शक्ति की धाक सिन्ध के शरहदी इलाकों में जमाना चाहते थे, जहाँ के अमीरों से कर वसूलने के लिए वे पहले भी कुछ दावे पेश कर चुके थे। रणजीतसिंह ने 1824-25 में पुन: सिन्ध पर आधिपत्य स्थापित करने की योजना बनाई लेकिन उसे सफलता नहीं मिली। दूसरी ओर अंग्रेजों उसके राज्य को चारों ओर से घेर लेना चाहते थे। इसके लिए सिंध पर नियंत्रण स्थापित करना आवश्यक हो गया था। तथापि 1830 से पूर्व अंग्रेजों ने सिंध में प्रत्यक्ष रूप से किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया। अन्य प्रदेशों में उलझे रहने के कारण साम्राज्यवादी शासक और इस ओर अधिक ध्यान नहीं दे पाये थे, लेकिन वे सिंध पर किसी अन्य शक्ति के प्रभाव को भी नहीं बढ़ने देना चाहते थे।

1827 में रणजीतसिंह ने गवर्नर जनरल को कुछ भेंट प्रदान की थी। दसरे वर्ष महाराजा को वापस भेंट दिये जाने का कार्यक्रम को बनाया गया। भेंट में बैलगाड़ियाँ, कुछ घोड़े एवं अन्य वस्तुएं दी जानी थी। उपरोक्त का भेंट को सिंध क्षेत्र से लाहौर भेजे जाने के बारे में सोचा गया। कम्पनी अधिकारियों मान्यता थी कि सिंध प्रदेश पर अंगरेजी प्रभाव बढ़ाने के लिए सिंध नदी नदी का पर्यवेक्षण आवश्यक था। सिंध नौ संचालन की पूरी जानकारी प्राप्त करने के लिए अंगरेज अधिकारी अलेक्जेण्डर बर्न्स को कहा गया। महाराजा के दबाव के कारण सिंध के अमीरों ने बर्न्स की यात्रा की अनुमति प्रदान कर दी। दूसरे शब्दो में, पंजाब नरेश को भेंट देने के बदले अंगरेजों ने सिंध में हस्तक्षेप करने के लिए स्वयं महाराजा का समर्थ प्राप्त कर लिया। 1831 में बर्न्स सिंध नदी मार्ग से लाहौर पहुँचा और उसने गवर्नर जनरल को सूचित किया कि सिंध नदी व्यापार के लिए पूरी तरह उपयुक्त है।

यह कृत्य अंग्रेजों की दूषित राजनीति को इंगित करता है। विद्वानों की धारणा है कि इस शिष्टमण्डल का ऊपरी उद्देश्य और सिंध से होकर जासूसी का मामला अफगान युद्ध के दौरान सामने आया। स्वयं अलेक्जेण्डर बर्न्स ने इस कार्य को अनुचित माना : मेरी दृष्टि में यह मेरी सरकार की प्रतिष्ठा के प्रतिकूल एक प्रयास है। जब इसका आगे पता चलेगा... तो इन राज्यों की ईर्ष्या और अपमान की भावना आग की तरह भड़क उठेगी जिनके विरूद्ध इसका प्रयोग हो रहा है इससे युद्ध तक हो सकता है। लुधियाना के ब्रिटिश एजेण्ट वाडे जो बर्न्स के

नोट

शिष्टमण्डल के साथ पंजाब नरेश से मिला था, ने महाराजा के समक्ष गवर्नर जनरल विलियम बैंटिक के साथ भेंट का प्रस्ताव रखा। रूपड में रणजीतसिंह का स्वागत करने की बात कही गई और 26 अक्टूबर 1831 को गवर्नर जनरल व महाराजा के बीच भेंट हुई। इस अवसर पर पंजाब नरेश ने बौटिक से सिन्ध के मामले में रूचि जाहिर की। महाराजा ने कहा : सिंध के अमीरों के पास सक्षम सेना का अभाव था, के अंग्रेजों के प्रति मित्रतापूर्ण भावना भी नहीं रखते थे और लेफ्टिनेण्ट बर्न्स की यात्रा में भी उन्होंने बाधा पहुँचाने का प्रयत्न किया था। परन्तु गवर्नर जनरल ने अपने इस उत्सुक अतिथि मित्र को उन प्रस्तावों के विषय में कुछ भी नहीं बताया जो सिंध के अमीरों के पास भेजे गये थे, और अभी मार्ग में ही थे, क्योंकि गवर्नर जनरल को यह भय था कि यह सूचना पाकर कहीं महाराजा की शान्तिपूर्ण एवं लाभदाय मनोवृत्ति परिवर्तित न हो जाए। रणीतसिंह जब अपनी बात रख रहा था तब उसे क्या पता था कि वह इस बारे में ब्रिटिश राजनीति का शिकार बन रहा है। इस प्रकरण में महाराजा की भारी वूटनीतिक पराजय हुई। एक ओर अंग्रेजों ने यह निश्चय किया कि रणजीतसिंह के इस तरफ के प्रभाव को रोकने का तरीका सिंध नदी के जलमार्ग के रूप में सारे विश्व के लिए खोल देना था। दूसरी ओर बर्न्स ने सिंध के साथ सतलज नदी में नौ संचालन की चर्चा छोड़ दी । जहाँ तक सिंध के अमीरों का सवाल है उनकी स्थिति और भी खराब थी। किसी ने ठीक ही कहा था: अफसोस, सिंध अब चला गया, क्योंकि अंग्रेजों ने नदी देख ली है।

व्यापारिक संधि : बर्न्स मिशन की सफलता के बाद विलियम बैटिक ने कर्नल पोटिंगर ( ) को संधि के तीनों अमीरों से व्यापारिक सन्धि करने हेतु भेजा। पोटिंगर को निर्देश महारजा से रूप भेंट के चार दिन पूर्व ही दिए थे। प्रारंभ में अमीर सन्धि के लिए तत्पर न थे क्योंकि उन्हें सन्देह था कि व्यापार की सुविधा की मांग के साथ अंगरेज किसी भी समय सिंध जलमार्ग का उपयोग सैनिक कार्यों के लिए कर सकते है। लेकिन बाध्य होकर अमीरों को 4 अप्रैल, 1832 को अंगरेजों से व्यापारिक सन्धि करनी पड़ी:

- सन्धि की पहली शर्त के अनुसार अंगरेजों को सिंध नदी से होकर निर्बाध व्यापार की सुविधा मिल गई। साथ ही अंगरेज व्यापारियों एवं पर्यटकों को भी आने-जाने की अनुमति थी। लेकिन युद्धपोत एवं युद्ध सामग्री नदी मार्ग से भेजे जाने पर प्रतिबंध रहा।
- दूसरे उपबंध में कहा गया है कि अंगरेज व्यापारियों को सिन्ध में बसने की अनुमति न होगी और पर्यटकों को पासपोर्ट रखने होंगे।
- तीसरे आयात-निर्यात करों की दरें प्रकाशित की जाएगी और सैनिक सहायता अथवा कर की मांग सिन्ध से नहीं की जायेगी।
- चौथे अमीरों ने जोधपुर के राजा से मिलकर कच्छ के डाकुओं के दमन का वचन दिया।

22 अप्रैल की पूरक सन्धि द्वारा विदेशी माल पर लगने वाले कर का अधिकार अंगरेजों ने अपने हाथ में ले लिया। जैसा विदित है कि रणजीतसिंह भी सिंध पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने को उत्सुक थे। स्वाभाविक रूप से अंगरेजों की इन गोपनीय योजनाओं ने पंजाब नरेश को काफी प्रभावित किया, सन्धि की सूचना पाकर वह हतप्रभ रह गये।

सिंध के बारे में ब्रिटिश नौकरशाही की आगामी कार्य योजना थी रेजीडेंट की नियुक्ति। सिंध के अमीर महाराज की सैन्य शक्ति से भयभीत थे, लेकिन भय उन्हें अंग्रेजों से भी कम

न था। रणजीतसिंह अंगरेजों का भय दिखाकर अमीरों को अपनी ओर नहीं कर पाया। लेकिन अंग्रेजों ने स्थिति को पूरा लाभ उठाया तथा एक ओर तो उन्होंने पंजाब नरेश को चेतावनी दी कि वह शिकारपुर पर अधिकार करने के लिए अपनी सेनाएं सिंध की ओर न भेजे, दूसरी ओर अमीरों को सुझाव दिया कि वे सिंध की सुरक्षा के लिए ब्रिटिश सरकार का संरक्षण स्वीकार कर ले। मिठनकोट एवं शिकारपुर के बीच का क्षेत्र अमीरों के संरक्षण में था। सतलज व सिंध के पश्चिम में स्थित शिकारपुर न केवल एक व्यापारिक केन्द्र के रूप में प्रसिद्ध था प्रत्युत उसकी सैनिक महत्ता भी कम न थी। यह बोलन दर्रे के रास्ते में पड़ता था और इस दर्रे की रक्षा के लिए यहाँ एक सैनिक केन्द्र की स्थापना संभव थी। अंग्रेजों द्वारा सिंध नदी में नौ संचालन से पंजाब नरेश एवं रूस का सिंध पर अतिक्रमण का खतरा नहीं रहा। शिकारपुर की समस्या ने भी उनका काम सरल कर दिया। चार्ल्स मासन ने ठीक ही लिखा है कि इस नीति का परिणाम यह हुआ कि इस नदी पर और इससे दूर के देशों में सैनिक भर्ती दिखाई पड़ने लगे जिनका उद्देश्य युद्ध सम्बन्धी उद्देश्यों का था, व्यापार का नहीं।

1836 में लाहौर क्षेत्र पर मेजारियों (एक लूट-पाट करने वाली जाति) ने आक्रमण कर दिये थे, रणजीतसिंह ने उनके उन्मूलन से हुई हानि की पूर्ति हेतु अमीरों से शिकारपुर की माँग की। महाराजा द्वारा अमीरों से शिकारपुर की मांग किये जाने पर अंग्रेजों को कोई एतराज नहीं होना चाहिए था। 1809 की सन्धि के अनुसार सतलज के उस पार के क्षेत्रों (शिकारपुर सतलज के उस पार था) में हस्तक्षेप न करने की बात अंग्रेजों ने स्वीकार की थी। अंग्रेजों ने तुरंत अवसर का लाभ उठाते हुए अप्रैल, 1838 में अमीरों को रणजीतसिंह के आक्रमण का भय दिखाकर उन्हें एक सन्धि करने के लिए बाध्य किया, जिसके अनुसार एक अंगरेज रेजीडेंट सिंध में नियुक्त किया गया। हेनरी पोटिंगर पहला रेजीडेंट बना। रेजीडेंट की सुरक्षा के लिए हैदराबाद में कुछ ब्रिटिश सेना भी रखी गई। इस तरह अंगरेजों ने सिंध पर अपना प्रभाव स्थापित कर लिया। कहा गया है कि सिंध में अंगरेज रेजीडेंट की नियुक्ति बारूद भरे एक गोले के समान थी जिसके विस्फोट का समय अंगरेजों को निश्चित करना था। यह सरासर अन्याय था।

7.3 त्रिपक्षीय सन्धि एवं सिंध

रणजीतसिंह, शाहशुजा और अंगरेजों के बीच एक त्रिपक्षीय समझौता हुआ जिसके अनुसार एक निश्चित धनराशि शाहशुजा को देना तथा अंगरेजी सेनाओं का सिंध नदी के माध्यम से भेजना निश्चित किया गया। ये दोनों शर्तें सिंध के अमीरों की बिना सहमति के निर्धारित की गई थी तथा अप्रैल, 1838 की सन्धि (अंग्रेजों एवं अमीरों के मध्य सम्पादित) के विपरीत थी। इस त्रिपक्षीय समझौते में सिंध को सम्मिलित नहीं किया गया था, ऐसी स्थिति में अमीरों पर आर्थिक भार डालना सर्वथा अनुचित था। इस माँग का आधार यह बनाया गया कि कुछ दशकों पूर्व (पिछले तीस साल से) अमीरों ने अफगानिस्तान के शासक को वार्षिक कर देने का आश्वासन दिया था। अंग्रेज रेजीडेंट द्वारा शाहशुजा की ओर से यह मांग प्रस्तुत करते हुए कहा गया कि इस राशि के भुगतान कर देने के बाद अमीर इस कर से सदा के लिए मुक्त हो जायेंगे। अमीर इस माँग से विस्मित रह गये। अमीरों को कहा गया कि वे 25 लाख रूपये शाहशुजा को प्रदान कर दें। दिसम्बर, 1838 में खैरपुर के अमीर को एक सन्धि पर हस्ताक्षर करने के लिए बाध्य किया। सन्धि द्वारा उन्हें विश्वास दिलाया कि भविष्य में किसी प्रकार के कर की मांग उनसे नहीं की जायेगी। अन्ततः खैरपुर के अमीर मीर रूस्तम को धनराशि अदा करनी पड़ी अर्थात् अल्पकाल के लिए बक्कर के दुर्ग पर अंगरेजों का आधिपत्य हो गया।

हैदराबाद के अमीर को भी इसी प्रकार की सन्धि स्वीकार करनी पड़ी थी और उसने कराची पर अंगरेजों को अधिकार कर लेने दिया।

नोट

फरवरी, 1839 में आकलैण्ड ने पुनः एक सन्धि की, जिसके द्वारा सिन्ध पर अंगरेजी नियंत्रण अधिक कड़ा हो गया। इस दौरान जौनकीन ने हैदराबाद (सिंध की राजधानी) के विरूद्ध सैनिक कार्रवाई की धमकी दी थी एवं अमीरों को सन्धि स्वीकार करनी पड़ी। सन्धि की शर्त के अनुसार अमीर ब्रिटिश सहायक सेना रखने को सहमत हुए। सहायक सेना के खर्च के लिए उन्होंने प्रतिवर्ष तीन लाख रूपये कम्पनी को देना स्वीकार किया और यह भी सहमति प्रदान कि, वे अंग्रेजों की अनुमति के बिना किसी अन्य राज्य से सम्बन्ध स्थापित नहीं करेंगे। मार्च 1839 में प्रत्येक अमीर का अधिकार अलग-अलग कर दिया गया और उनके मध्य विवाद की स्थिति में अंगरेजों का सहयोग आवश्यक हो गयां सिंध औपचारिक रूप से अंगरेजों के संरक्षण में आ गया एवं ब्रिटिश सेना सिंध नदी के पश्चिम (शिकारपुर और बक्कर) में डाल दी गई, जिसका व्यय 3 लाख रूपये प्रतिवर्ष अमीरों को देना था। अमीरों के आधिपत्य में भूमि के अनुपात को दृष्टिगत रखते हुए इस धन का निर्धारण किया जाना था। इस तरह अमीरों का संघ लगभग बिखर गया। विवरण मिलता है कि इस सन्धि के मूलरूप को आकलैण्ड व उसके सलाहकारों ने बदल दिया था और वह उसी रूप में अमीरों को स्वीकार करनी पड़ी।

सिंध के प्रति नीति में 1839 से 42 के दौरान कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया क्योंकि अंगरेज अफगान युद्ध में व्यस्त थे। अफगान युद्ध छिड़ने पर अंगेजों ने सिन्ध से अपनी सशस्त्र सेनाओं को प्रवेश करवाया, यह 1832 की सन्धि का उल्लंघन था। 1842 में एलेनबरो (1842-44) गवर्नर जनरल बना। वह अंगरेजी राज्य को भारतीय प्राकृतिक सीमाओं से आगे ले जाने का इच्छुक न था, लेकिन अफगानिस्तान में अंग्रेजों की पराजय को भी सहन नहीं कर पा रहा था और अंग्रेजी प्रतिष्ठा को स्थापित करने के लिए किसी अन्य क्षेत्र में सैनिक सफलता अर्जित करना चाहता था। यद्यपि अमीरों ने सभी संभव तरीकों से अंगरेजों की सहायता की थी, लेकिन गवर्नर जनरल ने इसे स्वीकार नहीं किया। बल्कि उन पर यह दोषारोपण किया कि वे कम्पनी के विरूद्ध अन्य राज्यों से सांठ-गांठ कर रहे हैं। मेजर जेम्स आउट्रम के स्थान पर सेनाध्यक्ष चार्ल्स नेपियर को 10 सितम्बर, 1842 में रेजीडेंट बनाकर हैदराबाद भेजा। उसे समस्त असैनिक व सैनिक अधिकार प्रदान किये। चार्ल्स नेपियर (बेंतसमे छंचपमत) उतावला और आवेगशील अफसर था। उसने इस सिद्धान्त पर काम किया कि सिंध को ले लेना दुष्टता का एक अत्यन्त अच्छा काम होगा जिसके लिए कोई बहाना ढूंढना उसका काम था - यह एक डाका था जिसे युक्तिसंगत ढंग से करना था। उसकी मान्यता थी कि "हमें सिंध पर अधि ग्रहण करने का कोई अधिकार नहीं है फिर भी हम ऐसा करेंगे और यह अत्यन्त लाभदायक, उपयोगी और मानवीय धूर्तता का कार्य होगा।" उससे यह मान लिया कि एलेनबरो द्वारा अमीरों के विरूद्ध लगाये गये आरोप सिद्ध हो चुके थे।

सिंध का विलय : खैरपुर के उत्तराधिकार संघर्ष में नेपियर को सिंध में अधिक हस्तक्षेप करने का अवसर मिला। खैरपुर के अमीर मीर रूस्तम का भाई अलीमुराद अंगरेजों से मिल गया। उसने अमीर पद प्राप्त करने के लिए घूस देकर, झूठे पत्र लिखवाकर अंगरेजों को मीर रूस्तम के विरूद्ध कार्य करने के लिए उत्तेजित किया। दूसरी ओर नेपियर ने अमीर पर अंगरेज विरोधी कार्य करने का आरोप लगाकर नई सन्धि शर्तें रखी। नई सन्धि के अनुसार कराची, थट्टा अंगरों को और रोहडी तथा भावलपुर के बीच का समस्त क्षेत्र भावलपुर नवाब

नोट

को (जो अफगान युद्ध के दौरान अंगरेजों का सहयोगी था) सौंपना था। यह दण्ड तीन लाख रूपये के कर के बदले था जिससे सहायक सेना का व्यय निकल सके। इसके अतिरिक्त वे अंग्रेजी स्टीमरों के लिए जो सिंध में चलते है, तेल की व्यवस्था करेंगे। सन्धि द्वारा सिक्के ढालने का अधिकार भी उन्हें न रहा एवं ढाले जाने वाले सिक्कों पर इंग्लैण्ड के सम्राट की तस्वीर अंकित की जानी थी। दिसम्बर 1842 को नेपियर ने घोषणा की कि यदि 20 जनवरी 1843 तक सन्धि पर हस्ताक्षर नहीं कर दिये जाते है तो अमीरों का शत्रुतापूर्ण रवैया सिद्ध हो जायेगा। इस सन्धि योजना पर अमीर निर्णय भी नहीं ले पाये थे, जिसके द्वारा उन्हें राष्ट्रीय अधिकार का त्याग करना था। दूसरे शब्दों में अलीमुराद के उत्तराधिकार सम्बन्धी मामले में व्यस्त रहने के कारण उत्तर के अमीर प्रस्ताव के बारे में अपनी सहमति के लिए नेपियर के समक्ष समय पर उपस्थित नहीं हो पाये।

घोर साम्राज्यवादी एवं अहंकारी सेनापति नेपियर ने बिना युद्ध की घोषणा किये खैरपुर और हैदराबाद के मध्य स्थित इमामगढ़ के किले पर आक्रमण कर नष्ट कर दिया। यद्यपि इमामगढ़ के मार्ग से उसका किसी ने विरोध नहीं किया था। इस प्रकार अमीरों द्वारा नई सन्धि के बारे में निर्णय लेने से पूर्व ही उसने सिंध के भीतरी इलाकों पर कब्जा करना शुरू कर दिया। कहा गया है कि नेपियर के इन अत्याचारपूर्ण कारनामों ने युद्धप्रिय बलूचियों के धैयर्रू की कष्टकर रूप में परीक्षा कर डाली। उत्तेजना की हालत में उन्होंने 15 फरवरी, 1843 को ब्रिटिश रेजीडेंसी पर हमला कर दिया। इस पर आउट्रम जो ब्रिटिश्चा कमिश्नर बनकर सिंध लौट आया था, एक जहाज पर शरण लेने के लिए भाग गया। युद्ध अब खुल्लम-खुल्ला घोषित हो गया। करीब बाईस हजार आदमियों की एक बलूची सेना 17 फरवरी को हैदराबाद से कुछ मील दूर मियानी में नेपियर द्वारा हरा दी गई जो अठाईस सौ आदमियों और बारह बन्दुकों से लड़ रहा था। इसके बाद तुरंत ही कुछ अमीरों ने अधीनता मान ली। लेकिन 'शेर-मीरपुर' शेर मुहम्मद अभी भी वीरतापूर्वक प्रतिरोध करता रहा। अंत में वह 24 मार्च को हैदराबाद से छः मील दूर दाबों में पूर्णतया पराजित हुआ। नेपियर ने 27 मार्च को मीरपुर पर और 4 अप्रैल को अमरकोट पर अधिकार कर लिया तथा लार्ड एलेनबरो के पास एक श्लेषात्मक संदेश में अपनी विजय का समाचार भेजा। वह सन्देशवाहक शब्द एक लैटिन वाक्य थाः पेकेवि (च्मबबंअप) जिसका अंगरेजी में अभिप्राय होता है : "आई हैव सिंड" (मैने पा किया है, मूल अर्थ है : मैने सिंध जीता है। नेपियर का तात्पर्य था)

बलूचियों की हार का विश्लेषण करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि उन्हें निम्न कोटि के हथियारों से उस समय के विश्व की उच्चकोटि की सेना से मुकाबला करना पड़ा था। अमीर असंगठित एवं परम्परागत जटिलताओं से ग्रसित थे, उनकी विजय की लेशमात्र भी संभावना न थी।

जब तक सिंध पर अंगरेजों के आधिपत्य का सवाल है एलेनबरो की नीति को निदेशकों ने स्वीकार नहीं किया। गवर्नर जनरल ने 22 मार्च 1843 को विलिंगटन को सिंध के ब्रिटिश साम्राज्य में विलय का औचित्य सिद्ध करते हुए लिखा : मैंने सारा मामला चार्ल्स नेपियर पर छोड़ दिया था, अमीरों की धोखेबाजी एवं हिंसात्मक कार्रवाई ने मेरी इस धारणा को दृढ़ किया कि एक बार अमीरों कें विरोधी हो जाने पर, उन पर विश्वास नहीं किया जा सकता और जिस देश को हमने जीत लिया है उस पर नियंत्रण स्थापित करने के अतिरिक्त कोई उपाय न था। यद्यपि एलेनबरो की नीति को बनाये रखा अर्थात् सिंध को पुनः अमीरों को लौटाया नहीं गया, वहाँ उसने चार वर्ष रह कर अंगरेजी साम्राज्य को पुख्ता किया।

नोट

अफगानिस्तान में असफलता एवं सिन्ध विलय में सम्बन्ध : यहां इस तथ्य का उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं है कि अमीर निर्दोष थे। उन्होंने अंगरेजों उत्तेजित होने का अवसर नहीं दिया थां वे सदैव अंगरेजों के प्रति विश्वस्त बने रहे, चाहे अफगान युद्ध हो या किसी भी प्रकार की सन्धि। सिंध की घटना नैतिक दृष्टि से अक्षम्य है। नेपियर स्वयं यह मानता था कि सिंध छीनने का हमें कोई अधिकार नहीं है तथापि हम ऐसा करेंगे। मार्शमैन ने ठीक ही कहा है कि नेपियर की कार्रवाई में लाभ से अधिक पाशविकता को स्थान मिला है। सिंध की घटना का मूल्यांकन एलफिंस्टन ने बहुत ही मार्मि शब्दों में किया है : अफगानिस्तान की घटना के बाद घटित होने से सिंध विजय की कलपना से उस दंभी व्यक्ति का स्मरण ही आता है जिसे बाहर सड़क पर पीट दिया गया हो और जिसने प्रतिशोध में घर जाकर अपनी पत्नी की पिटाई की हो।

नेपियर ने लूट की सम्पत्ति में अने हिस्से के रूप में सत्तर हजार पौण्ड लिया, लेकिन आउट्रम ने अपना हिस्सा नहीं लिया जो तीन हजार पौण्ड होता था, उसने यह रकम कुछ संस्थाओं को प्रदान कर दी। आउट्रम नेपियर की नीति को पसन्द नहीं करता था। उसने लिखा है : क्या ही अच्छा होता यदि आप इसे (तलवार को) श्रेष्ठतर कार्य के लिए चलाते।' लेकिन चार्ल्स नेपियर की नीति का औचित्य सिद्ध करने का प्रयास उसके भाई विलियम नेपियर ने 'द कनक्वेस्ट आफ सिन्ध' प्रकाशित करके किया, जिसके प्रत्युत्तर भी प्रकाश में आये। आउट्रम ने अपने पक्ष में कमेंटरी भी लिखी, लेकिन इनका कोई औचित्य न था। बाद में सरकार ने इस वाद-विवाद पर प्रतिबंध लगा दिया।

अंग्रेजों की सिन्ध में कार्यवाई से 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' कहावत चरितार्थ होती है। एल.जे. ट्रोटर ने सिंध पर अधिकार को ब्रिटिश भारत पर शासन करने वालों का 'सबसे बुरा अपराध' कहा है।

7.4 आंग्ल-नेपाल सम्बन्ध

अपनी साम्राज्यवादी नीति के अंतर्गत अंग्रेजों ने 1818 ई. तक पंजाब और सिंध को छोड़कर लगभग सम्पूर्ण भारत को जीत लिया था, भारत में साम्राज्य स्थापना के बाद अंग्रेजों ने दोहरी नीति अपनाई जिसका उद्देश्य एक ओर उचित प्रशासनिक व्यवस्था स्थापित करना था तो दूसरी ओर जीते गये प्रदेशों की सीमाओं को सुरक्षित रखना, ब्रिटिश शासन के अधीन भारत की विदेश नीति को प्राय: साम्राज्यवादी नीति (Imperialist Policy) भी कहा जाता है, क्योंकि इसको ब्रिटिश साम्राज्य के हितों को ध्यान में रखकर ही निर्धारित किया गया था।

अंग्रेज नेपाल के सम्पर्क में बंगाल के नवाब कासिम के समय ही आ गये थे इसी दौरान एक व्यापारिक अंग्रेजी रेजीडेंट द्वारा नेपाल के विरूद्ध की गई कार्रवाई असफल रही दोनों के बीच एक व्यापारिक संधि हुई इसका कोई विशेष लाभ प्राप्त नहीं हुआ, इसके उपरान्त नेपाल की शक्ति में लगातार वृद्धि होती रही लॉर्ड हेस्टिंग्स के आगमन तक नेपाल एक विस्तृत और शक्तिशाली साम्राज्य बन चुका था इसके उत्तर में चीन का विशाल साम्राज्य स्थापित था, जिस ओर अंग्रेज विस्तार नहीं कर सकते थे, इसलिए उन्होंने अपने साम्राज्य का विस्तार दक्षिण में बंगाल और अवध की ओर करना शुरू कर दिया, दूसरी तरफ बंगाल और अवध में अंग्रेज खुद अपनी शक्ति और साम्राज्य का विस्तार करने में लगे थे, जब अंग्रेजों ने 1801 ई. में गोरखपुर

नोट

जिले पर अपना अधिकार कर लिया तो अंग्रेजी राज्य की सीमाएँ नेपाल से मिलने लगी इसलिए हिमालय की तराई के विभिन्न जिलों को लेकर दोनों ही पक्ष अपना अपना दावा पेश करने लगे इनके बीच 1814 में उस समय झगड़ा शुरू हो गया जब नेपालियों ने बस्ती जिले के उत्तर में शिवराज और बुटवाल पर कब्जा कर लिया जल्द ही अंग्रेजों ने दोनों जिलों पर पुनः अधिकार कर लिया, इससे दोनों के बीच लड़ाई छिड़ गई।

7.5 सुगौली की संधि

एक सैन्य शक्ति के रूप में नेपाली अंग्रेजों के समक्ष टिक नहीं सके और उन्हें 1816 ई में सुगौली की संधि करनी पड़ी इस संधि से अंग्रेजों को कुमायूँ और गढ़वाल का विस्तृत क्षेत्र प्राप्त हो गया नेपोलियों ने सिक्किम पर दावा छोड़ दिया और काठमांडू में एक अंग्रेज रेजीडेंट रखना स्वीकार कर लिया इस संधि से उत्तरी सीमा का विवाद तो हमेशा के लिए खत्म हो ही गया, साथ ही नेपालियों के रूप में अग्रेंजों को एक विश्वस्त सहयोगी प्राप्त हुआ अंग्रेजों को यहाँ से कट्टर लड़ाकू और बहादुर गोरखा सैनिक प्राप्त होते रहे, 1857 ई के विद्रोह के समय भी ये अंग्रेजों के राजभक्त बने रहे इन्होंने अंग्रेजी साम्राज्य के प्रसार में भी अपना योगदान दिया।

7.6 सारांश

एक सैन्य शक्ति के रूप में नेपाली अंग्रेजों के समक्ष टिक नहीं सके और उन्हें 1816 ई. में सुगौली की संधि करनी पड़ी। इस संधि से अंग्रेजों को कुमायूँ और गढ़वाल का विस्तृत क्षेत्र प्राप्त हो गया। नेपालियों ने सिक्किम पर दावा छोड़ दिया और काठमांडू में एक अंग्रेज रेजीडेंट रखना स्वीकार कर लिया। इस संधि से उत्तरी सीमा का विवाद तो हमेशा के लिए खत्म हो ही गया, साथ ही नेपालियों के रूप में अंग्रेजों को एक विश्वस्त सहयोगी प्राप्त हुआ। अंग्रेजों को यहाँ से कट्टर, लड़ाकू और बहादुर गोरखा सैनिक प्राप्त होते रहे। 1857 ई. के विद्रोह के समय भी ये अंग्रेजों के राजभक्त बने रहे। इन्होंने अंग्रेजी साम्राज्य के प्रसार में भी अपना योगदान दिया।

7.7 अभ्यास प्रश्न

1. सिंध का विलय अंग्रेजों के लिए काफी चुनौती पूर्ण था। व्याख्या करें।
2. अंग्रेजों द्वारा सिंध विलय के क्या कारण थे? स्पष्ट करें।
3. नेपाल एवं अंग्रेजों के मध्य हुई सुगौली संधि की धाराओं की चर्चा करें।

इकाई-8 ईस्ट इंडिया कंपनी का आर्थिक प्रभाव

नोट

पाठ-संरचना

8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 धन की निकासी

8.2.1 भारत से भेजे गये धन से इंग्लैण्ड का आर्थिक विकास

8.2.2 माध्यम

8.2.3 प्रभाव

8.3 कृषि नीति व उसके प्रभाव

8.3.1 कृषकों पर लगान का बढ़ता हुआ भार

8.3.2 नवीन भू-राजस्व प्रणालियों के अन्य अहितकारी प्रभाव

8.3.3 ग्रामीण ऋणग्रस्तता में वृद्धि

8.3.4 भूमि को व्यक्तिगत सम्पत्ति मानने के दुष्परिणाम

8.3.5 कृषि का वाणिज्यीकरण

8.3.6 कृषि की उन्नति के कार्यो की उपेक्षा

8.4 औद्योगिक नीति व उसके प्रभाव

8.4.1 अनौद्योगीकरण की नीति से हानि

8.4.2 विदेशी पूंजी का विनियोग

8.4.3 1916 व उसके बाद की नवीन औदयोगिक नीतियाँ व उसके प्रभाव

8.5 व्यापारिक नीति व उसके प्रभाव

8.6 यातायात के साधनों के विकास की नीति तथा उसके प्रभाव

8.6.1 सड़कों का सीमित निर्माण

8.6.2 रेलवे का निर्माण

8.7 बैंकिंग व्यवस्था का सूत्रपात व उसके प्रभाव

8.8 निष्कर्ष

8.9 सारांश

8.10 अभ्यास प्रश्न

8.0 उद्देश्य

नोट

इस इकाई में आप अध्ययन करेंगे :

- ब्रिटिश शासन की स्थापना के समय देश की आर्थिक दशा इतनी शोचनीय नहीं थी जैसा कि कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने चित्रण किया है। भारत की आर्थिक अवनति का वास्तविक आरंभ ब्रिटिश शासन की स्थापना से हुआ तथा इसके लिए उसकी आर्थिक नीतियाँ उत्तरदायी थीं।
- विभिन्न माध्यमों से बड़ी मात्रा में भारत से धन की निकासी की गई। भारत की अर्थ व्यवस्था पर इसके हानिकारक प्रभाव पड़े।
- ब्रिटिश शासन में कृषकों पर लगान का बढ़ता हुआ भार, नवीन भू-राजस्व प्रणालियों के अन्य अहितकारी प्रभाव, कृषि की उन्नति के कार्यों की उपेक्षा, कृषि का वाणिज्यीकरण तथा ग्रामीण ऋणग्रस्तता की समस्या का समाधान न करने के कारण कृषि क्षेत्र में अवनति हुई।
- ब्रिटिश शासन के आरंभ में अनोयोगीकरण की नीति से दस्त, कुटीर व हस्तशिल्प उद्योगों को हानि पहुँची। इसके बाद बागान, खनन व कारखाना उद्योगों में विदेशी पूंजी का विनियोग देश के औद्योगिक विकास में बाधक सिद्ध हुआ। 1916 व उसके बाद ब्रिटिश सरकार ने जो औद्योगिक नीतियाँ अपनाई, वे भी उद्योगों का समुचित विकास नहीं कर सकीं।
- ब्रिटिश सरकार द्वारा समय-समय पर आयात व निर्यात पर लगाए गए शुल्क इंग्लैण्ड के पूंजीपतियों, उद्योगपतियों, व्यापारियों व जनता के हित में निर्धारित होते थे। इससे भारत के व्यापार को हानि पहुँची। ख ब्रिटिश शासन में सड़कों व रेलवे का सीमित विकास किया गया। रेलवे के निर्माण से देश को लाभ के साथ हानि भी पहुँची।
- ब्रिटिश शासन में आधुनिक ढंग की बैंकिंग व्यवस्था के प्रचलन से व्यापार व उद्योगों को लाभ पहुँचा।
- यद्यपि ब्रिटिश शासन काल में आर्थिक क्षेत्र में सामान्य प्रगति हुई किंतु देश की क्षमता के अनुसार आर्थिक प्रगति नहीं हुई।

8.1 प्रस्तावना

कतिपय पाश्चात्य इतिहासकारों ने यह मत प्रकट किया है कि मुगल साम्राज्य के पतन ने भारतीय अर्थ व्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव डाला। केन्द्रीय सस्ता की दुर्बलता से राज्यों की आय कम हुई अशान्ति फैल गई, यातायात अस्त-व्यस्त हो गया तथा उद्योग, व्यापार व कृषि के क्षेत्र में प्रगति अवरुद्ध हो गई। इसमें कोई संदेह नहीं कि राजनीतिक उथल-पुथल तथा पारस्परिक संघर्षों ने देश के अनेक भागों में आर्थिक गतिविधियों पर प्रतिकूल प्रभाव डाला किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि देश के सभी भागों में सामान्य रूप से इस प्रकार की अवनति हुई। सतीश बंद के अनुसार देश के विभिन्न प्रदेशों में आर्थिक पतन तथा सामाजिक अवरोध का एकरूप चित्रण करना उचित नहीं है। उनके अनुसार साम्राज्य की राजनीतिक व्यवस्था के मृतप्रायः होने

नोट

के बाद भी साम्राज्य के पूर्वी भाग में आर्थिक विकास की गति में तेजी आई। मुजफ्फर आलम के मत में एक ओर पंजाब आदि कुछ क्षेत्रों की अर्थ व्यवस्था में ठहराव आया तो दूसरी ओर अवध में सम्पन्नता बढ़ी। तपस राय चौधरी ने लिखा है कि जाट व मराठों के अधीन आगरा शहर समृद्धिशाली था। मराठा आक्रमणों के बावजूद बंगाल की आर्थिक व्यवस्था समृद्ध थी। अठारहवीं शताब्दी के मध्य में बंगाल में लगभग एक लाख जुलाहे थे। 1787 ई. में होव नामक एक यूरोपियन यात्री ने सूरत में जहाजरानी व्यवसाय तथा विदेशों से व्यापार को उन्नत दशा में पाया था। वस्तुत: उस समय जब कभी भी एक प्रदेश के उद्योग और व्यापार को क्षति पहुँचती थी तो उसका लाभ दूसरे प्रदेश को मिल जाता था।

वास्तव में भारत की आर्थिक अवनति का आरम्भ 1757 में बंगाल में ब्रिटीस प्रभुत्व की स्थापना से हुआ। अंग्रेजी औपनिवेशिक नीतियों ने देश की अर्थ व्यवस्था को चौपट कर दिया। इसके साथ हमें यह मी मानना पड़ेगा कि उस समय देश की अर्थ व्यवस्था में प्रगति के दो मुख्य तब–साधारणतया जनता में आर्थिक उन्नति करने की आकांक्षा और धनी वर्गों द्वारा अपनी संग्रहीत पूंजी का उद्योगों में विनियोग करना विदयमान नहीं थे। ऐसी परिस्थितियों में भारत का सम्पर्क प्रगतिशील पश्चिमी अवस्था से व्यवस्था। दोनों व्यवस्थाओं की प्रतिस्पर्धा में यहाँ की व्यवस्था का पतन की ओर बढ़ना स्वाभाविक थ। विदेशी शासन ने इस प्रक्रिया को और शीघ्र तथा तीव्र गति प्रदान कर भारत को आर्थिक विनाश के कगार पर पहुँचा दिया। इसमें कोई संदेह नहीं कि उसकी स्वार्थपूर्ण नीतियों ने देश को निर्धन व गरीब बना दिया।

उन्नीसवीं सदी के अन्तिम दशक में भारत के राष्ट्रवादियों, जिनमें दादाभाई नौरोजी एवं रमेश चंद्र दत्त प्रमुख हैं, ने कृषि उद्योग, व्यापार व अन्य क्षेत्रों में ब्रिटिश सरकार की नीतियों को हमारे देश की आर्थिक अवनति के लिए मुख्य रूप से जिम्मेदार ठहराया है। इसी विचारधारा का अनुकरण करते हुए विलियम डिग्री व कुछ अन्य लेखकों ने भी अपनी कृतियों में इस मत का खंडन किया है। किन्तु दूसरी ओर कुछ अंग्रेज प्रशंसकों व विद्वानों ने इस मत का खंडन किया है तथा इसके लिये भारतीयों को ही दोषी ठहराया है। निष्पक्ष रूप से दोनों पक्षों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इंग्लैण्ड व भारत की सरकार ने अंग्रेज पूंजीपतियों, उद्योगपतियों व्यापारियों व सामान्य जनता के हितों को ध्यान में रखते हुए अपनी आर्थिक नीतियाँ निर्धारित की थी। इसके फलस्वरूप ही एक विदेशी शासन क अन्तर्गत यह देश निर्धन होता चला गया।

8.2 धन की निकासी

अंग्रेजों की आर्थिक नीतियों में सबसे अधिक घातक नीति इस देश की निकासी थी। यह वह धन था जो भारत से इंग्लैंण्ड भेजा जाता था किंतु उसके बदले में वहाँ से कुछ भी यहाँ नहीं आता था। भारत से धन की निकासी के निम्नांकित कारण थे।

8.2.1 भारत से भेजे गये धन से इंग्लैण्ड का आर्थिक विकास

भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना और विस्तार से इंग्लैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति का घनिष्ठ सम्बन्ध था। ब्रुक्स एडम के मत में भारतीय धन के इंग्लैण्ड में आने से न केवल रही के राष्ट्र की नकद पूंजी और स्फूर्ति में वृद्धि हुई अपितु इससे वहाँ के उद्योगों को भी गति मिली। फ्लाइंग शटल, धातु को पिघलाने में लकड़ी के स्थान पर कोयले का प्रयोग, पावर

लूम और स्टीम इंजिन का आविष्कार 1757 के बाद ही हुआ। उसके इस मत का समर्थन कनिंघम ने भी किया है। वास्तव में इंग्लैण्ड का महान औद्योगिक ढांचा भारत के उत्पादकों के विनाश पर खड़ा किया गया था। भारत से प्राप्त किये गये धन ने औद्योगिक क्षेत्र में इंग्लैण्ड को यूरोप के अन्य देशों की अपेक्षा इतना आगे ला दिया कि लगभग पचास वर्ष तक उसका कोई प्रतिद्वंदी नहीं रहा।

1. इंग्लैंड का पूंजीपतियों का दबाव औद्योगिक क्रांति की प्रगति के समय इंग्लैण्ड के पूंजीपतियों को धन की बड़ी आवश्यकता थी। अत: उन्होंने अपनी सरकार पर यह दबाव डाला कि वह भारत से आने वाले धन में किसी प्रकार की कमी न आने दे।
2. यूरोपीय देशों की प्रतिद्वंदिता औद्योगिक क्षेत्र में इंग्लैण्ड को यूरोप के कुछ पश्चिमी देशों की प्रतिद्वंदिता सहन करनी पड़ी। अतएव उन्होंने इसके लिए भारत से आने वाले धन का प्रयोग किया।
3. सामाज्यवादी मनोवृत्ति – इंग्लैण्ड व पश्चिमी यूरोप के कुछ देशों ने एशिया व अफ्री. का में अपने साम्राज्यों की प्रजा का शोषण किया तथा वही से धन अपने देशों को भेजा।

8.2.2 माध्यम

1. अंग्रेज पूंजीपतियों द्वारा अर्जित लाभ ब्रिटिश पूंजीपतियों द्वारा भारत में लगाई गई पूंजी से अर्जित लाभ इंग्लैण्ड भेजा जाता था।
2. भारत सरकार को समय-समय पर दिये गये ऋण का ब्याज यह भी इसका एक माध्यम था। दादाभाई नौरोजी के अनुसार ''भारत का धन भारत से बाहर भेजा जाता था और वही धन भारत को ऋण के रूप में दिया जाता था जिसके लिए उसे और धन ब्याज के रूप में जुटाना पड़ता था। यह सब एक ऐसा दुष्चक्र था जिसे तोड़ना कठिन था।'' 1792 में यह ऋण मय सूद सत्तर लाख पौण्ड था जो समय के सा. थ-साथ बढ़ता हुआ 1939 में 88 करोड़ 92 लाख पौण्ड हो गया।
3. **रेल लाईनों के निर्माण का लाभ** 1853 में भारत में रेल मार्गों का निर्माण आरंभ किया गया। रेल मार्गों के निर्माण के लिए ब्रिटिश पूंजीपतियों को गारंटी दी गई। गारंटी पद्धति के अंतर्गत भारत सरकार को 1900 ई. तक चार करोड़ पौण्ड की हानि सहन करनी पड़ी। यह धन इंग्लैण्ड भेजा गया था। इस अवधि में तथा इसके बाद रेलवे के संचालन में अंग्रेज पूंजीपतियों को जो भी लाभ आ वह भी इंग्लैण्ड भेजा गया।
4. **खदानों व मिलों से प्राप्त लाभ** इन दो प्रकार के उदयोगों में निवेशित ब्रिटिश पूंजी से अर्जित लाभ भी इंग्लैण्ड भेजा गया।
5. **नकद फसलों के उत्पादन व व्यापार से अर्जित लाभ** भारत सरकार ने ब्रिटिश पूंजीपतियों को चाय, नील, कॉफी आदि नकद फसलों के उत्पादन तथा उनके निर्यात की सुविधाएँ प्रदान की। इनसे अर्जित लाभ इंग्लैण्ड भेजा जाता था।
6. **होम चार्जेज (Home Chagres)** इस मद के अन्तर्गत भी धन की निकासी की गई। अवकाश पर गये हुए तथा सेवानिवृत अंग्रेज सैनिकों व अधिकारियों की पेंशन व भत्ता भारत सरकार से वसूल किया जाता था। भारत सचिव के कार्यालय का सारा

नोट

व्यय भी भारत की सरकार से लिया जाता था। इसमें भारत के विभिन्न भागों में केन्द्रीय व प्रांतीय सरकारों दवारा खरीदे गये अंग्रेजी सामान का मूल्य भी शामिल होता था। इनके अतिरिक्त ब्रिटिश अधिकारियों और निजी व्यापारियों द्वारा निजी रूप से इंग्लैण्ड को भेजा गया धन, विदेशी बैकों, बीमा और जहाजी कम्पनियों की सेवाओं का मूल्य भी इंग्लैण्ड भेजा जाता था।

7. **ब्रिटिश साम्राज्य के अन्य भागों में किए गए युद्धों व विद्रोहों के दमन का व्यय चीन** के अफीम युद्ध का खर्च, मिस्र के उपद्रवों को दबाने के लिए किया गया व्यय तथा अफगानिस्तान में लड़े गए दो युद्धों का खर्चा भी इंग्लैण्ड ने भारत सरकार से वसूल किया गया। इसका कारण यह बताया गया कि ये जय भारतीय साम्राज्य की सुरक्षा के लिए लड़े गए थे।
8. **इंग्लैण्ड में किया गया सैन्य खर्च** भारत के लिए इंग्लैण्ड में खरीदी गई सैन्य सामग्री व सैनिक अधिकारियों के प्रशिक्षण का व्यय भी भारत सरकार को वहन करना पड़ता था।
9. **स्टर्लिंग बेलेंस (Sterling Balance)** 1939 में धुरी राष्ट्रों के विरुद्ध भारत सरकार ने युद्ध की घोषणा कर दी। भारत में स्थल सैनिकों को रखने एवं प्रशिक्षित करने तथा शस्त्रों की खरीद करने का व्यय भी इंग्लैण्ड की सरकार ने भारत पर लाद दिया। यह उसे ब्रिटेन की स्टर्लिंग मुद्रा में अदा करना पड़ता था।
10. **विनिमय दर से हानि** भारत से जो भी धन इंग्लैण्ड भेजा जाता था उसे वहाँ की मुद्रा की दरों में लिया जाता था। इससे भारत को हानि होती थी।

8.2.3 प्रभाव

भारत से धन की निकासी के अनेक हानिकारक प्रभाव हुए। अधिक से अधिक राजस्व प्राप्त कर उसमें से कुछ अंश को इंग्लैण्ड भेजने के कारण कृषकों पर भार बढ़ा। इससे कृषि की अवनति हुई। उद्योगों को भी प्रोत्साहन नहीं किया गया। दादाभाई नौरोजी के अनुसार यदि देश से लगभग बीस करोड़ रुपया प्रति वर्ष इंग्लैण्ड न जाकर यही रहता तो इसके विनियोग से भारत कई उद्योगों का विकास कर सकता था।

8.3 कृषि नीति व उसके प्रभाव

इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्राचीन काल से ही हमारे देश में समय-समय पर अतिवृष्टि अथवा अनावृष्टि के कारण दुर्भिक्ष अथवा सूखों का प्रकोप रहा है। इसके अतिरिक्त सिंचाई के साधनों की कमी, खेती के पुराने तरीकों तथा भू-राजस्व अधिकारियों के दमनकारी कार्यों से भी कृषि की संतोषजनक उन्नति नहीं हो सकी किन्तु फिर भी ब्रिटिश शासन की स्थापना के समय तक आबादी कम होने के कारण एक कृषक के पास गुजारे लायक कृषि योग्य भूमि थी तथा वह ग्रामों के पास के वनों के चरागाहों का नि:शुल्क उपयोग करता था। एक भारतीय किसान संतोष के साथ जीवन व्यतीत करता था किन्तु ब्रिटिश शासन काल में उसकी अवस्था बिगड़ती गई। इसके लिए काफी हद तक ब्रिटिश सरकार की नीतियाँ उत्तरदायी थीं। इन नीतियों का अध्ययन यहाँ पर किया गया है।

नोट

8.3.1 कृषकों पर लगान का बढ़ता हुआ भार

1765 ई. मे बंगाल सूबे की दीवानी प्राप्त होने के बाद कंपनी ने लगान की दरों में वृद्धि की। 1765-1766 ई. में इस सूबे से 14,17,000 पौण्ड लगान वसूल किया गया। 1775-1776 ई. में यह राशि बढ़कर 28,18,000 पौण्ड हो गई। 1793 ई. मे कॉर्नवालिस द्वारा बंगाल दे के अधिकांश क्षेत्रों में स्थायी बन्दोबस्त लागू किया गया। इसमें भी भू-राजस्व की दरें अधिक रखी गई। रैयतवाड़ी अवस्था में भी कठोरता के साथ लगान की वसूली की गई। मद्रास तथा बम्बई प्रेसीडेंसियों और उत्तरी भारत के उन इलाकों में जहाँ महलवाड़ी अवस्था लागू की गई थी, भू-राजस्व की माँग इतनी अधिक थी कि उसमें भूमि की अतिरिक्त उपज समा जाती थी। इस प्रकार भूराजस्व की ऊँची दरों तथा उसकी बस्ती में कठोरता ने किसानों को तबाह कर दिया और खेती को अधिकतम पिछड़ी हुई अवस्था में पहुँचा दिया।

8.3.2 नवीन भू-राजस्व प्रणालियों के अन्य अहितकारी प्रभाव

भू-राजस्व की नवीन प्रणालियों ने किसानों के मन में डर और असुरक्षा की भावना पैदा कर दी। स्थायी बन्दोबस्त के अन्तर्गत जमींदार अपने पट्टेदारों को किसी न किसी बहाने बेदखल कर सकता था। इसी प्रकार अन्य भू-राजस्व प्रणालियों में भी कुछ ऐसी कमियाँ थी जिनके कारण किसान भय को असुरक्षित महसूस करता था। यद्यपि अनेक प्रान्तों की सरकारों ने इस संबन्ध मे कानून पारित किए किन्तु किसान उनका लाभ नहीं उठा सके।

8.3.3 ग्रामीण ऋणग्रस्तता में वृद्धि

लगान अदा करने अथवा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये किसानों को साहूकारों से ऋण लेना पड़ता था। साहूकारों द्वारा दिये गये ऋणों के आज की दर इतनी अधिक होती थी कि एक किसान उनके चंगुल से मुक्त नहीं हो पाता था।

8.3.4 भूमि को व्यक्तिगत सम्पत्ति मानने के दुष्परिणाम

अंग्रेजी शासन की स्थापना के पहले एक गाँव की सारी भूमि उसकी सम्पत्ति मानी जाती थी और किसान के पास जो भूमि होती थी उसको वह न तो गिरवी रख सकता था और न ही बेच सकता था। ब्रिटिश शासन में भूमि को व्यक्तिगत सम्पत्ति माना गया। इसके फलस्वरूप किसान अपनी भूमि को साहूकारों के पास गिरवी रखने लगा। साहू कारों व अन्य शक्तियों ने उनकी भूमि खरीद ली। कृषक की भूमि का उसके पुत्रों में बंट जाने के कारण खेतों का आकार कम होता चला गया। अत भूमिहीन मजदूरों की संख्या बढ़ती चली गई।

8.3.5 कृषि का वाणिज्यीकरण

ब्रिटिश सरकार ने अपने हितों को ध्यान में रखते हुए कपास, नील, चाय, कॉफी, पटसन, अफीम आदि फसलों के उत्पादन को प्रोत्साहन दिया। इस प्रकार की नकद फसलों के बढ़ते हुए उत्पादन से खाद्य पदार्थों के उत्पादन में कमी आई। नील, चाय, कॉफी की फसलों को बोने के लिए सरकार ने ब्रिटिश पूंजीपतियों को अनेक सुविधाएँ दी। इन पूंजीपतियों ने किसानों का शोषण किया। पूंजीपतियों द्वारा अर्जित लाभ भी इंग्लैण्ड भेजा गया। इससे भारत के गाँवों की आत्मनिर्भरता का भी अंत होने लगा।

8.3.6 कृषि की उन्नति के कार्यों की उपेक्षा

नोट

उन्नीसवीं सदी के मध्य तक ब्रिटिश सरकार ने कृषि को उन्नत करने वे तरीकों पर ध्यान नहीं दिया। सिंचाई के साधनों का विकास नहीं किया गया। खेती के नये तरीकों से किसानों को अवगत नहीं कराया गया। अच्छे किस्म की बीजों की व्यवस्था नहीं की गई। 1870 के पश्चात सरकार ने इन बातों की ओर ध्यान देना आरम्भ किया किन्तु उसने इनके लिए पर्याप्त धन की अवस्था नहीं की। अत: कृषि की दशा में विशेष सुधार नहीं हुआ।

8.4 औद्योगिक नीति व उसके प्रभाव

समुद्री मार्ग से यूरोपियन शक्तियों के भारत में आगमन के समय संगठन और तकनीकी की दृष्टि से भारतीय उद्योगों की कीर्ति विश्व के अनेक भागों में फैल चुकी थी। यहाँ के उद्योगों में वस्त्र उद्योग ने विशेष उन्नति की थी। विभिन्न प्रकार के सूती, ऊनी व रेशमी वस्त्र निर्यात किए जाते थे। परम्परागत शहरी उपयोग की वस्तुएँ भी बनाई जाती थीं। उच्च कोटि की विलास की वस्तुओं का निर्यात किया जाता था। जहाजरानी भी एक महत्वपूर्ण उद्योग था। नील और चीनी प्रमुख उत्पाद थे कृषि पर आधारित अन्य उद्योगों में तेल, तम्बाकू व नशीले पदार्थो को प्रमुख स्थान प्राप्त था। काफी संख्या में कारीगर चमड़े से बनी हुई वस्तुओं के निर्माण में लगे हुए थे। हीरे व जवाहरात का भी निर्यात होता था। शहरों में हस्तशिल्प का कार्य होता था। गाँवों में कुटीर उद्योग पनप रहे थे किंतु ब्रिटिश शासन में हस्तशिल्प व कुटीर उद्योगों को नष्ट करने की नीति अपनाई। ब्रिटेन के नव विकसित वस्त्र उद्योग की उन्नति के लिए यहाँ के वस्त्र उद्योग को हतोत्साहित किया गया। अन्य उद्योगों के विकास को भी अवरुद्ध किया गया।

8.4.1 अनौद्योगीकरण की नीति से हानि

आरंभ में कंपनी ने बंगाल के वस्त्र उद्योग को क्षति पहुँचाने की नीति अपनाई। उसने जुलाहों को कम दामों पर वस्त्र बनाने व बेचने पर बाध्य किया। काफी संख्या में जुलाहों को केवल कंपनी के लिए वस्त्र बनाने पर बाध्य किया गया। गरीब जुलाहों का शोषण किया गया। यहाँ से जाने वाले वस्त्र पर अधिक कर लगाया गया तथा इंग्लैण्ड से आने वाले वस्त्र पर नाम मात्र का आयात कर लगाया गया। इस प्रकार इंग्लैण्ड में उत्पादित वस्त्र के लिए भारत को एक बाजार के रूप में विकसित किया गया। बंगाल में कच्चे रेशम के उत्पादन को प्रोत्साहित तथा रेशमी वस्त्र के उत्पादन को हतोत्साहित किया गया। रमेश चन्द्र दत्त के अनुसार ब्रिटिश सरकार ने अपने शासन काल के प्रारम्भिक वर्षा में इंग्लैण्ड के कारखानों के लाभ के लिए भारतीय उद्योगों को हानि पहुँचाई। इनमें सबसे अधिक प्रभावित वस्त्र व कुटीर उद्योग थे।

8.4.2 विदेशी पूंजी का विनियोग

इंग्लैण्ड में अतिरिक्त पूंजी का संचय, भारत में यातायात के साधनों का विकास, समुद्र में जहाजों का पहले की अपेक्षा तीव्र गीत से आवागमन, भारत में सस्ती दरों पर अंग्रेजी पढ़े लिखे बाबुओं की उपलब्धता तथा इंग्लैण्ड से तकनीकी विशेषज्ञों को भारत लाने में सुविधाओं का: होना इसके प्रमुख कारण थे। 1850 से 1914 तक प्रमुख रूप से तीन प्रकार के उद्योगों में विदेशी पूंजी का विनियोग हुआ। ये थे– 1. बागान, उद्योग– चाय, कॉफी रबर व नील 2. खनन उद्योग – लोहा इस्पात व कोयला तथा 3. मिले व कारखाने– सूती वस्त्र व पटसन (जूट)।

इनमें से अधिकांश उद्योग ऐसे थे जिनमें विदेशी पूंजी ही लगाई गई थी। आरंभ में केवल वस्त्र उद्योग में कुछ भारतीय पूंजीपतियों ने अपनी पूंजी का विनियोग किया। बीसवीं सदी के आरंभ में लोहा-इस्पात उद्योग में जमशेदजी नसरवान जी टाटा को सरकार ने पूंजी के निवेश की अनुमति दी। आरंभ में जूट उद्योग में अधिकांश विनियोग यूरोपियन पूंजीपतियों ने किया किन्तु कुछ समय पश्चात् भारतीयों ने भी कुछ हद तक इसमें पूंजी का निदेश किया। वास्तव में इस अवधि (1850-1914) में देश में जो भी उदयोग विकसित हुए वे या तो निर्यात को दृष्टिकोण में रख कर संचालित किए जाते थे अथवा भारत मे विदेशी उद्योगों की आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। भारतीय पूंजी के मुकाबले में बहुत अधिक मात्रा में विदेशी पूंजी का निदेश देश के औद्योगिक विकास में बाधक था। विदेशी पूंजी द्वारा संचालित उद्योगों का प्रबन्ध यूरोपियनों के हाथ में था तथा इससे अर्जित लाभ भी इंग्लैण्ड भेजा जाता था। वास्तव में इससे यूरोपियन पूंजीपतियों को ही लाभ पहुंचा।

8.4.3 1916 व उसके बाद की नवीन औदयोगिक नीतियाँ व उसके प्रभाव

प्रथम महायुद्ध की अवधि में सरकार ने अपनी औद्योगिक नीति में परिवर्तन किया। युद्ध की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जूट, वस्त्र, कोयला, लोहा-इस्पात काँच, तेजाब, पेण्ट व वार्निश आदि उद्योगों को प्रोत्साहन दिया। किंतु यंत्रों के अभाव, कोयले की कमी, बैंकिंग व साख सुविधाओं के अभाव के कारण ये उद्योग आशा के अनुकूल प्रगति नहीं कर सके। 1921 में सरकार द्वारा नियुक्त वित्त आयोग ने उद्योगों के विकास के लिए सरंक्षण देने की सिफारिश की जिसे स्वीकार किया गया। इस कार्य के लिए सरकार ने एक टेरिफ बोर्ड (Tariff Board) की स्थापना की। इसकी सिफारिश पर लोहा-इस्पात, कोयला सूत कागज, शक्कर नमक व दीयासिलाई तथा कुछ अन्य उद्योगों को सरंक्षण प्रदान किया गया किंतु इन्हें संरक्षण प्रदान करते समय भारतीय हितों की अपेक्षा इंग्लैण्ड के हितों को प्रमुखता दी गई।

द्वितीय विश्व युद्ध की अवधि में लगभग सभी उद्योगों का विकास हुआ था कुछ नये उद्योग, रासायनिक, हवाई जहाज, मशीनी औजार, आधुनिक ढंग के जहाज आदि-खोले गये। इन उद्योगों में मी काफी मात्रा में विदेशी पूंजी निवेशित थी।

1765-1947 तक ब्रिटिश सरकार की औदयोगिक नीति की उपरोक्त समीक्षा से स्पष्ट है कि उसने सदैव इंग्लैण्ड के पूंजीपतियों व उद्योगपतियों के हितों को ध्यान में रख कर यहाँ के उद्योगों के विकास को सीमित रखने का प्रयास किया। अत: भारत मे अधिकांश उद्योग तेजी के साथ प्रगति नहीं कर सके। लेकिन इसके साथ हमें यह भी मानना पड़ेगा कि इस अवधि मे हमारे देश में आधुनिक पद्धति पर उद्योगों का विकास आरंभ हुआ आधुनिक यंत्रों का प्रयोग होने लगा अनेक प्रकार के नए उद्योग विकसित हुए तथा भारतीय पूंजीपति उद्योगों में अपनी संचित पूंजी का निवेश करने लगे। इतना सब कुछ होते हुए भी स्वतंत्रता प्राप्ति के समय भारत औद्योगिक क्षेत्र में काफी पिछड़ा क्या था।

8.5 व्यापारिक नीति व उसके प्रभाव

1600 ई. में ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी की स्थापना भारत व अन्य पूर्वी देशों के साथ व्यापार करने के लिए की गई थी। अन्य यूरोपीय कंपनियों के समान ब्रिटिश कंपनी भी भारत के बाजारों से वस्तुएँ खरीदती थी और उन्हें ऊँची कीमत पर इंग्लैण्ड, अफ्रीका व यूरोप के

नोट

देशों में बेचती थी। भारत से निर्यात की गई वस्तुओं में सूती वस्त्र प्रमुख था। इससे इंग्लैण्ड का नवोदित वस्त्र उद्योग पनप नहीं सका। अत: इंग्लैण्ड के पूंजीपतियों ने इसके विरुद्ध आवाज उठाई। 1853 ई. में कंपनी द्वारा नियुक्त 'सीलेक्ट कमेटी' (Select Committee) ने बताया कि इंग्लैण्ड की सरकार ने 1700-1710 ई. में भारत से वस्त्र के निर्यात पर अधिक शुल्क लगाया किंतु इसके बावजूद भी इंग्लैण्ड में निर्मित वस्त्र से भारतीय वस्त्र सस्ता बिकता था। बंगाल सूबे में कंपनी के प्रभुत्व की स्थापना के बाद स्थिति में परिवर्तन आया। जेम्स मिल के अनुसार ब्रिटेन का माल बिना किसी चुंगी के भारत में आयात किया गया। यहीं से निर्यात किए गए माल पर और अधिक शुल्क लगाया गया। भारत में अंग्रेजों के साम्राज्य के विस्तार के साथ देश के अन्य भागों में भी इसी नीति का पालन किया गया। वस्त्रों के आयात पर प्रतिबन्ध लगाया गया। भारत से निर्यातित साबुन, चीनी व नील पर इंग्लैण्ड में शुल्क बढ़ाया गया। कंपनी ने भारत से कच्चे माल को कम मूलों पर खरीद कर उस पर नाम मात्र का शुल्क लगा कर अपने देश में भेजा। इसके विपरीत इंग्लैण्ड में उत्पादित माल को नि:शुल्क अथवा नाम मात्र के शुल्क पर भारत में भेजा गया। विपिन चन्द्र के अनुसार शीघ्र ही भारत कच्चे माल का निर्यातक और इंग्लैण्ड में उत्पादित माल का एक प्रमुख बाजार बन गया।

इस प्रकार की शुल्क नीति से कंपनी को लाभ हुआ। वहाँ के कुछ पूंजीपति भी इसके हिस्सेदार बनना चाहते थे। अत: उन्होंने इंग्लैण्ड की सरकार पर यह दबाब डाला कि वह कंपनी के व्यापारिक एकाधिकार को समाप्त करे। 1813 ई. के चार्टर के अनुसार भारत में सभी को व्यापार करने का अधिकार दिया गया। किंतु भारत सरकार ने अपनी व्यापारिक नीति में परिवर्तन नहीं किया। इसके फलस्वरूप एक ओर तो भारत में इंग्लैण्ड से माल का आयात बढ़ गया और भारत में निर्मित वस्तुओं का निर्यात घट गया।

1857 के विद्रोह को दबाने में सरकार का बहुत अधिक धन व्यय हुआ था। अतएव इस घाटे की पूर्ति के लिए सरकार ने कुछ वस्तुओं पर आयात शुल्क बढ़ा दिया। इसका विरोध इंग्लैण्ड के पूंजीपतियों ने किया। इस पर इंग्लैण्ड की सरकार तथा गृह सरकार में मतभेद हो गया। किंतु अंत में भारत सरकार को झुकना पड़ा। 1882 से 1895 ई. के मध्य इंग्लैण्ड में वस्त्र उत्पादों पर आयात शुल्क की दर कम की गई। शराब व नमक को छोड़ कर अन्य सभी वस्तुओं पर आयात शुल्क समाप्त किया गया। ग्रेट ब्रिटेन में सभी प्रकार के धागों के आयात पर से शुल्क हटाया गया।

प्रथम विश्वयुद्ध की अवधि में भारत में अन्य देशों से आयात किए गए माल पर आयात की दरों को बढ़ाया गया। इससे युद्ध में होने वाले व्यय की एक सीमा तक पूर्ति की गई। भारत सरकार ने 1923 में एक शुल्क बोर्ड की नियुक्ति की। उसके द्वारा अपनाई गई नीति पक्षपातपूर्ण थी। केवल ऐसे उद्योगों, जिनमें विदेशी कंपनियों को लाभ पहुँचता था, को संरक्षण प्रदान किया गया।

1930 की आर्थिक मंदी के प्रभाव के कारण हुए वित्तीय संकट तथा सरकार के चढ़ते हुए खर्चे के कारण वस्त्र व अनेक उत्पादों पर शुल्क बढ़ाया गया। किंतु 1939 में ओटावा समझौते के अनुसार इंग्लैण्ड की कुछ उत्पादित वस्तुओं पर शुल्क की दर घटाई गई। द्वितीय विश्व युद्ध में सरकार को फिर अधिक धन की आवश्यकता हुई। अतएव वस्त्र, चीनी, माचिस, अफीम और इस्पात की दरों पर आबकारी शुल्क लगाया गया।

बंगाल मे ब्रिटिश शासन की स्थापना से लेकर 1947 तक ब्रिटिश सरकार की व्यापारिक नीति का मूल उद्देश्य इंग्लैण्ड के उद्योगपतियों व व्यापारियों के हितों की रक्षा करना था। उसकी इस पक्षपातपूर्ण नीति के कारण भारत के अनेक उद्योग अपनी क्षमता के अनुसार पनप नहीं सके तथा व्यापार को भी हानि हुई।

नोट

8.6 यातायात के साधनों के विकास की नीति तथा उसके प्रभाव

ब्रिटिश शासन की स्थापना के समय तक गाँवों से शहरों को जोड़ने के लिए जो सड़कें बनाई गई थीं वे पगडंडियों के समान थी। शहरों की सड़कें भी कच्ची थी। बैलगाडियों अथवा जानवरों – ऊँट, बैल आदि– द्वारा देश की सड़कों पर सामान ले जाया जाता था। अतएव स्थल मार्ग पर यातायात की गीत धीमी थी। नदियों में नावों और छोटे जहाजों द्वारा यात्री व सामान पहुँचाया जाता था। यद्यपि बन्दरगाहों का प्रयोग होता था तथा जहाजों द्वारा विदेशों को सामान पहुंचाया जाता था लेकिन भारत में निर्मित जहाज यूरोप के जहाजों के समान नहीं थे। संचार के साधनों का लगभग अभाव था।

8.6.1 सड़कों का सीमित निर्माण

ईस्ट इंडिया कंपनी ने आरम्भ में सड़कों के विकास पर विशेष ध्यान नहीं दिया। कुछ समय पश्चात सैनिक आवश्यकताओं के लिए सड़कें बनाने का काम आरम्भ किया गया किंतु इसकी गति बहुत धीमी थी। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक बंगाल में केवल 0.01 वर्ग मील सड़क ही थी। विलियम बेंटिंक ने आगरा से बम्बई तक ही सड़क की मरम्मत कराई। डलहौजी के समय में पूर्वी क्षेत्रों में सड़कें बनाने का कार्य आरंभ किया गया क्योंकि बम्बई के निकट स्थित इन क्षेत्रों में कपास काफी मात्रा में पैदा होती थी और उनको बम्बई तक पहुँचाने के लिए सड़कों की आवश्यकता थी। रिपन ने स्थानीय संस्थाओं से समनित अपने प्रस्ताव में सड़क बनाने का कार्य स्थानीय संस्थाओं को सौंपा किंतु वे इस दिशा में संतोषजनक प्रगति नहीं कर सका।

प्रथम महायुद्ध की अवधि में सड़कों की खराब दशा तथा अधिकांश प्रदेशों में सड़कों के अभाव से युद्ध प्रयत्नों को धक्का पहुँचा। काफी सोच विचार के बाद 1927 ई. में सरकार ने एक सड़क समिति एवं कोष का गठन किया। इसके बाद सड़कों के रख–रखाव और निर्माण में कुछ प्रगति हुई। 1943 ई. में सड़कों के विकास के लिए एक पंचवर्षीय योजना बनाई गई जिसे 1947 ई. में आरंभ किया गया।

ब्रिटिश सरकार की सड़क निर्माण की नीति की समीक्षा से ज्ञात होता है कि इस क्षेत्र में प्रगति बहुत धीमी थी। विदेशी सरकार ने केवल व्यापारिक और सामारिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सड़कों का निर्माण किया। इसके लिए भी उसने पर्याप्त धन की व्यवस्था नहीं की। इस प्रकार की नीति के फलस्वरूप स्वतंत्रता प्राप्ति के समय बड़े शहरों के बीच की अनेक सड़कों की हालात खराब थी तथा भारत के अधिकांश गाँव शहरों से जुड़े हुए नहीं थे। इस प्रकार की स्थिति देश की अर्थव्यवस्था को प्रगति के मार्ग पर ले जाने में सहायक नहीं थी।

8.6.2 रेलवे का निर्माण

डलहौजी के शासन काल में रेल मार्गों का निर्माण आरंभ हुआ। उसके अनुसार इसके प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित थे :

नोट

(i) उद्देश्य :

(अ) व्यापारिक इंग्लैंड से आयातित माल को भारत के आन्तरिक प्रदेशों में पहुँचाना तथा वहाँ से कच्चा माल बंदरगाहों तक पहुँचाना इसका प्रमुख उद्देश्य था।

(ब) सामरिक भारत के दूर-दराजों के प्रदेशों पर नियंत्रण रखने, आन्तरिक उपद्रवों एवं विदेशी आक्रमणों का सामना करने के लिए सेना को गतिशील बनाने तथा युद्ध सामग्री को शीघ्रता के साथ इधर-उधर भेजने हेतु भी रेलवे का निर्माण किया गया।

डलहौजी ये यह भी मत प्रकट किया कि इससे भारत के आर्थिक विकास में सहायता मिलेगी। रेलवे के निर्माण का एक निहित उद्देश्य ब्रिटिश पूंजीपतियों को लाभ पहुँचाना था।

(ii) रेलवे निर्माण की प्रक्रिया : आरंभ में ब्रिटिश पूंजीपतियों को गारंटी पद्धति पर रेलवे के निर्माण के ठेके दिये गये। उन्हें आश्वासन दिया गया कि उनके द्वारा किए गए पूंजी निवेश पर पाँच प्रतिशत या उससे कम का लाभ न होने की स्थिति में सरकार उन्हें यह रकम अदा करेगी। उन्हें भूमि नि:शुल्क दी जायेगी तथा उनकी पूंजी पर साढ़े चार से पाँच प्रतिशत तक ब्याज दिया जायेगा। लाभ होने की स्थिति में उसे सरकार व कंपनी में बराबर बांटा जायेगा।

1853 से 1869 ई. तक इस पद्धति के अन्तर्गत भारत के विभिन्न भागों में रेलवे लाईन का निर्माण हुआ। इस अवधि में निर्माण की प्रगति धीमी रही। इससे सरकार को ढाई करोड़ रुपये की हानि हुई।

1869 ई. में गारंटी पद्धति को समाप्त कर सरकार ने यह कार्य अपने हाथ में ले लिया। लेकिन इसके भी परिणाम संतोषजनक नहीं थे।

अतएव 1882 ई. में नवीन गारंटी पद्धति अपनाई गई। इस बार अंग्रेज पूंजीपतियों को 35 प्रतिशत ब्याज की गारंटी दी गई। उनकी कंपनियों को अपने शुद्ध लाभ का सात प्रतिशत सरकार को अदा करना था। चालीस वर्ष के बाद रेलवे का प्रबन्ध सरकार ने अपने हाथ में लेना निश्चित किया। इस पद्धति के अन्तर्गत रेलवे के निर्माण की गीत में कुछ तेजी आई। 1915 ई. तक देश में 35,285 मील रेलवे लाइन बन गई थी।

प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात भी रेलवे के निर्माण का कार्य पुन: आरंभ किया गया। यद्यपि 1937 में बर्मा के भारत से अलग हो जाने के कारण 2000 मील रेलवे लाईन बर्मा में चली गई, किंतु फिर भी 1939 में भारत में रेलों की लम्बाई 41,156 मील थी। इसमें से विभाजन के बाद केवल 30,001.7 मील रेलवे लाईन भारत के पास रही।

(iii) प्रभाव : भारत में रेलवे के निर्माण के लाभप्रद व हानिकारक प्रभाव पड़े। इसके लाभप्रद प्रभाव निम्नांकित है :

- **लाभप्रद्र प्रभाव :**

1. **कृषि की उन्नति** रेलों के विकास से मंडियों का विकास हुआ। क्योंकि यह परिवहन का एक सस्ता व गतिशील साधन था। इसलिये फसलों का विशिष्टीकरण हुआ। अलग-अलग प्रदेश विशिष्ट फसलें बोने लगे जिससे कि वे अपना कुल लाभ बढ़ा सके। अनाजों को रेलों दवारा दूर-दूर के प्रदेशों तक भेजा जाने लगा।
2. **अकालों को भयंकरता मे कर्मी** रेलों के द्वारा अकाल सूखाग्रस्त क्षेत्रों में खाद्यान्न तेजी के साथ पहुँचाना सुलभ हो गया। इससे अकाल की भयंकरता में कमी आई।

नोट

3. **श्रमिकों को रोजगार** रेलवे के कारखानों, रेलों के आवागमन तथा रेल कार्यालयों में भारतीयों को रोजगार मिला। परोक्ष रूप से वनो व खनिज पदार्थो के दोहन व व्यापार के विकास को प्रोत्साहन मिलने से श्रमिकों के रोजगार के अवसर बढ़े।
4. **आधुनिक उद्योगों का विकास** रेलों के विकास से कोयला व लोहे के खनन, इस्पात का निर्माण तथा इन्जिनियरिंग उद्योगों को प्रोत्साहन मिला। रेलों के माध्यम से आधुनिक यंत्र व उनके उपकरण मंगाने तथा उत्पादित माल को बाजारों में भेजने में सुविधा हुई।
5. **आन्तरिक व्यापार में वृद्धि** इससे देश के भिन्न-भिन्न भागों से कच्चा माल मंगा कर निर्यात करने अथवा औदयोगिक केन्द्रों के लिए मंगाने में सुविधा हुई तथा विदेशों से आयातित माल देश के आन्तरिक भागों में पहुँचाया जाने लगा।
6. **कीमतों में समानता** इससे देश के विभिन्न भागों में कीमतों में समानता की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला।

उपरोक्त हितकारी आर्थिक प्रभावों के साथ-साथ इसने जाति प्रथा के बन्धनों को ढीले करने में सहायता दी। रेलों के विकास ने राष्ट्रीय चेतना के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

• **हानिकारक प्रभाव :** यद्यपि रेलों के निर्माण से भारत की आर्थिक स्थिति में कुछ सुधार हुआ किंतु इसके भारतीय अर्थ व्यवस्था पर हानिकारक प्रभाव भी पड़े। ये निम्नलिखित हैं :

1. **कुटीर उद्योगों के पतन में सहायक** रेलों के निर्माण से इंग्लैण्ड में मशीनों से उत्पादित सस्ता माल देश के आन्तरिक भागों में पहुँचने लगा जिससे भारत के कुटीर उद्योगों के विनाश की प्रक्रिया में तेजी आई।
2. **धन का निकासी का एक प्रमुख साधन** रेलों के निर्माण में गारंटी पद्धति दो बार अपनाई गई। इससे ब्रिटिश कंपनियों ने बड़ी मात्रा में भारत से धन अपने देश भेज। इसके अतिरिक्त रेलवे के उच्च पदों पर अंग्रेज काम करते थे। उनके पेंशन आदि की रकम भी इंग्लैण्ड चली जाती थी।
3. **भारतीय अर्थ व्यवस्था पर भार** पुरानी व नवीन गारंटी पद्धतियों के अन्तर्गत रेल निर्माण के कारण काफी अपव्यय हुआ जिससे भारतीय अर्थ व्यवस्था पर भार पड़ा। इसके अतिरिक्त सामरिक दृष्टि से व कुछ अन्य कारणों से ऐसी रेलवे लाइनें बनाई गई जो घाटे पर चलती थी। इसका भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ा।
4. **सिंचाई के साधनों के विकास पर कम ध्यान** रेलवे के निर्माण के लिये सिंचाई के साधनों के विकास पर कम ध्यान दिया। इससे किसानों के हितों की उपेक्षा हुई।
5. **खाद्यान्नों के निर्यात को प्रोत्साहन** रेलवे के निर्माण से खाद्यान्नों के निर्यात में वृद्धि हुई। इससे भारत में इनका अभाव रहने लगा तथा इनकी कीमतों में वृद्धि हुई।
6. **उद्योगों के विकास पर अपेक्षाकृत कम खर्च :** रेलों के निर्माण के कारण कोयला व लोहे का खनन तथा इस्पात के उत्पादन के अतिरिक्त अन्य उद्योगों के विकास पर आवश्यकता से कम व्यय किया गया।

7. रेलों को सुविधा से अधिकांश ग्रामीण क्षेत्र वंचित ब्रिटिश सरकार ने अत्यन्त सीमित मात्रा में रेलों का निर्माण किया। इस कारण भारत के अधिकांश ग्रामीण क्षेत्र परिवहन की इस व्यवस्था से वंचित रहे।

नोट

यद्यपि रेलों के निर्माण से भारतीयों को कुछ लाभ हुए किंतु इससे उन्हें हानि अधिक हुई। दादा भाई नौरोजी, आर.सी. दत्त जी.वी. जोशी, डी.ई. बाबा आदि के अनुसार भारत के विकास की उस समय की अवस्था को देखते हुए यह वरदान की अपेक्षा अभिशाप ही सिद्ध हुआ। रेलवे ने कच्चा माल व खादयान्न भारत से निर्यात करने तथा इंग्लैण्ड में निर्मित माल के आयात की प्रक्रिया को तेज किया जिससे भारत का औद्योगिक विकास उतनी तेजी के साथ नहीं हो सका जितना कि उस समय किया जाना संभव था।

8.7 बैंकिंग व्यवस्था का सूत्रपात व उसके प्रभाव

अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक देश में आधुनिक ढंग की बैंकिंग व्यवस्था प्रचलित नहीं थी। उस समय बड़े-बड़े नगरों में धनी व्यापारी बैंकरों का कार्य करते थे। वे व्यापारियों को माल खरीदने के लिये ऋण देते थे। उनके एजेन्ट या दलाल छोटे नगरों व ग्रामों में फैले हुए थे। अठारहवीं शताब्दी के आरंभ के दशकों की राजनीतिक उथल-पुथल ने उनकी गतिविधियों को प्रभावित नहीं किया तथा वे अपना कार्य करते रहे।

भारत में आधुनिक ढंग की बैंकिंग व्यवस्था ब्रिटिश सरकार ने चालू की थी। उसने विभिन्न प्रान्तों में बैंकों की स्थापना की। उन्हें सरकारी खजाने का कार्य भी सौंपा गया। 1924 में रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया स्थापित हुआद्य इनके अतिरिक्त अनेक बड़े नगरों में निजी बैंक भी खोले गये।

आधुनिक बैंकिंग व्यवस्था के प्रचलन से देश के आन्तरिक व बाह्य व्यापार की उन्नति हुई। औद्योगिक प्रतिष्ठानों ने भी इसका लाभ उठाया।

8.8 निष्कर्ष

आधुनिक युग में यूरोप के सभी साम्राज्यवादी देशों ने, जिनमें ग्रेट ब्रिटेन भी सम्मिलित था, अपने अधीनस्थ अश्वेत उपनिवेशों का निर्ममता के साथ आर्थिक शोषण किया। सामान्य रूप से इस युग का उपनिवेशवाद विभिन्न अवस्थाओं से गुजरा तथा इसके स्वरूप में भी समयानुकूल परिवर्तन हुए, किंतु इसकी प्रत्येक अवस्था में इसका मूल उद्देश्य अधीनस्थ देश का दमन व शोषण ही रहा। विपिन चन्द्र के अनुसार भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद के तीन प्रमुख चरण थे, किंतु इन सबमें उपनिवेशवाद के प्रमुख लक्षण देखे जा सकते हैं। प्रत्येक चरण में ब्रिटिश शासन की नीतियाँ अपने व्यापारिक स्वार्थों और मुनाफों तथा इंग्लैण्ड की औद्योगिक प्रगति के हितों को ध्यान में रख कर ही संचालित की जाती थी। उपनिवेशवाद की प्रवृत्तियाँ और नीतियाँ ब्रिटेन के सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक विकास के परिवर्तित हुए ढांचे के अनुसार बदलती चली गई, किंतु इसके उद्देश्य में कोई परिवर्तन नहीं आया।

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि ब्रिटिश शासन की औपनिवेशिक नीतियों के कारण भारत में ठोस आर्थिक प्रगति होना सम्भव नहीं था। यद्यपि दादाभाई नौरोजी, रमेश चन्द्र दत्त, महादेव गोविंद रानाडे व कुछ अन्य राष्ट्रवादी नेताओं ने ब्रिटिश उपनिवेशवाद की आर्थिक नीतियों के विरुद्ध आवाज उठाई किन्तु इसका विशेष प्रभाव ब्रिटिश शासकों पर नहीं पड़ा।

अतः यह देश जो प्राकृतिक सम्पदाओं से परिपूर्ण है, आर्थिक क्षेत्र में अपनी क्षमता के अनुसार प्रगति नहीं कर सका तथा स्वतंत्रता प्राप्ति के समय इसकी गणना पिछडे हुए देशों में की गई।

नोट

यद्यपि आर्थिक शोषण की इस प्रक्रिया में देश से धन की निकासी हुई कृषि व उद्योगों की संतोषजनक प्रगति नहीं हो सकी, किंतु फिर भी इससे देश को कुछ लाभ हुए। देश की आवश्यकताओं को देखते हुए रेलों व सड़कों का विस्तार कम हुआ, किंतु फिर भी यातायात की सुविधाओं में वृद्धि हुई। उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशकों में इस्पात व आधुनिक ढंग के कुछ उद्योगों का विकास आरंभ हुआ। कुछ खनिज उद्योगों, जिनमें कोयला व लोहा प्रमुख थे, की भी स्थापना हुई। औपनिवेशिक शासन में भारत का सम्पर्क पुनः विदेशों से स्थापित हुआ था, विदेशी व्यापार में वृद्धि हुई किंतु इस वृद्धि का अधिकांश लाभ अंग्रेज पूंजीपतियों को ही मिला। ब्रिटिश शासन में उद्योग तथा कृषि के क्षेत्र में तकनीकी ज्ञान का विकास भी हुआ तथा देश में नये तरीकों से उत्पादन को बढ़ाने के प्रयत्न किये गये। कुछ उद्योगों व खानों में भारतीय पूंजी का निवेश हुआ। इससे भारतीय पूंजी निवेश का मार्ग प्रशस्त हुआ। आधुनिक बैंक व्यवस्था का प्रचलन भी देश के लिए हितकारी सिद्ध हुआ। किंतु कुल मिलाकर ब्रिटिश शासन की औपनिवेशिक नीतियों से देश को हानि ही पहुँची।

8.9 सारांश

इस इकाई में आपने ब्रिटिश शासन की आर्थिक नीतियों व उनके प्रभावों का अध्ययन किया है। वास्तव में भारत की आर्थिक अवनति का प्रारंभ मुगल काल के पतन के समय नहीं हुआ अपितु 1757 में प्लासी के युद्ध के बाद अंग्रेजों के शासन की स्थापना के समय से हुआ। उस समय से लेकर 1947 आ तक ब्रिटिश शासन की स्वार्थपूर्ण नीतियों के कारण देश आर्थिक अवनति की ओर निरन्तर अग्रसर होता चला गया। इनमें से सबसे अधिक घातक नीति देश से धन की निकासी थी। इस इकाई में इसके कारणों। माध्यमों और दुष्परिणामों का अध्ययन किया गया है। कृषि के क्षेत्र में विदेशी शासन ने भू-राजस्व की दरों में वृद्धि की, कृषि का वाणिज्यीकरण किया कृषि की उन्नति के उपायों पर समुचित ध्यान नहीं दिया गया तथा ग्रामीण ऋणग्रस्तता की समस्या का समाधान करने की ओर ध्यान नहीं दिया। आरंभ में ब्रिटिश सरकार ने अनौयौगीकरण की नीति अपना कर कुटीर उद्योगों, हस्तशिल्प उद्योग ब दस्त उद्योग को हानि पहुँचाई। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तर्रार्द्ध से आधुनिक ढंग के बागान, खनन व कारखाना उद्योगों का विकास आरंभ हुआ किंतु इनमें से अधिकांश में विदेशी पूंजी का निदेश देश के औद्योगिक विकास में बाधक सिद्ध हुआ। 1916 के बाद अपनाई गई औद्योगिक नीतियों का निर्धारण भी इंग्लैण्ड के पूंजीपतियों व उदयोगपतियों के हितों को ध्यान में रख कर किया गया। यद्यपि 1916-1947 की अवधि में अनेक नये उद्योगों का विकास हुआ तथा वस्त्र उद्योग की भांति कुछ उद्योगों में भारतीय पूंजी का विनियोग किया गया, किंतु यह विकास सीमित ही था। आम तौर पर प्रारंभ से लेकर 1947 तक ब्रिटिश सरकार की व्यापारिक नीति भी इंग्लैण्ड के पूंजीपतियों के हितों को ध्यान में रख कर निर्धारित की गई। ब्रिटिश सरकार ने देश में यातायात के साधनों का समुचित विकास नहीं किया। रेलवे के निर्माण के लाभप्रद व हानिकारक प्रभाव हुए। ब्रिटिश शासन में विकसित बैंकिंग प्रणाली व्यापार व उद्योगों के लिए लाभप्रद सिद्ध हुई।

वास्तव में ब्रिटिश शासन की नीतियाँ साम्राज्यवाद भावनाओं से प्रेरित थी, जिनका मूल उद्देश्य अधीनस्थ देशों का शोषण करना था। ब्रिटिश शासकों की औपनिवेशिक नीतियों दे कारण देश गरीब होता चला गया।

नोट

8.10 अभ्यास प्रश्न

1. ब्रिटिश सरकार की कृषि नीति की विवेचना कीजिए। इसके प्रभावों का विश्लेषण कीजिये।
2. ब्रिटिश शासन काल में भारत में उद्योगों का सीमित विकास हुआ। इसके लिए सरकार की नीतियाँ कहाँ तक जिम्मेदार थी?
3. ब्रिटिश शासन के आर्थिक प्रभावों की संक्षेप में विवेचना कीजिए।
4. निम्नलिखित पर टिप्पणियाँ लिखिए :
    1. धन की निकासी
    2. व्यापारिक नीति
    3. अनौद्योगीकरण की नीति

इकाई-9 हस्तकरघा एवं ग्रामीण अर्थव्यवस्था का विकास एवं धन का निष्कासन

नोट

पाठ-संरचना

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 ईस्ट इण्डिया कम्पनी की भारत में स्थापना के समय परिस्थितियाँ

9.3 धन निष्कासन से तात्पर्य

9.4 अंग्रेजी सरकार की धन निष्कासन के विशेष संदर्भ में नीति का स्वरूप

9.4.1 ब्रिटिश सरकार एवं गृहप्रभार

9.4.2 विदेशी पूंजी निवेश पर दिया जाने वाला ब्याज

9.4.3 विदेशी बैंक, बीमा, जहाज कम्पनियाँ

9.5 धन निष्कासन की मात्रा

9.6 धन निष्कासन नीति का प्रभाव

9.7 सारांश

9.8 अभ्यास प्रश्न

9.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप समझ सकेंगें कि :

- भारत के महत्वपूर्ण प्रान्त बंगाल में अंग्रेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी की राजनीतिक संस्था के रूप में स्थापना एवं बंगाल में अंग्रेजों की आर्थिक नीति का क्रियान्वित स्वरूप।
- भारत में अंग्रेजों की आर्थिक साम्राज्यवाद की नीति, स्वतंत्रता प्राप्ति तक किस प्रकार संचालित हुयी।
- अंग्रेजों की धन निर्गम नीति का तात्पर्य एवं इसके अन्तर्गत अंग्रेजों ने भारत का आर्थिक दृष्टि से शोषण किया।
- इस अध्याय में आप यह अध्ययन करेंगे कि अंग्रेजी सरकार के द्वारा भारत में जो आर्थिक निकास नीति को प्रोत्साहित किया उसके विभिन्न तत्व क्या थे।
- आर्थिक विकास नीति के फलस्वरूप भारत की अर्थव्यवस्था का निकास का अनुमानित स्वरूप क्या रहा।
- इस निकास का भारतीय अर्थव्यवस्था पर क्या प्रभाव पड़ा।
- धन निष्कासन नीति के कारण भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन एवं स्वतंत्रता आन्दोलन किस भांति प्रभावित एवं प्रोत्साहित हुआ।

नोट

9.1 प्रस्तावना

आधुनिक भारतीय इतिहास एवं ब्रिटिश कालीन भारतीय अर्थव्यवस्था में अंग्रेजी सरकार की धन निष्कासन की नीति महत्वपूर्ण ऐतिहासिक विवेचना मानी जाती है। भारत में व्यापारिक कम्पनी के रूप में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना से लेकर अंग्रेजी शासन के अन्त तक मुख्यत: इस नीति का उद्देश्य भारत में सुदृढ़ रूप में शासन करना एवं भारत के धन एवं सम्पत्ति का इंग्लैण्ड में अधिकाधिक विनियोजन था। इस नीति के वशीभूत होकर अंग्रेजों ने प्रारम्भ से ही व्यापारिक एकाधिकार स्थापित करने एवं भारतीय कृषि, उद्योग, व्यापार के प्रति उपेक्षा का दृष्टिकोण अपनाकर इंग्लैण्ड की अर्थव्यवस्था को संगठित बनाने का प्रयास किया था।

ऐतिहासिक दृष्टि से यह तथ्य पूर्ण है कि अंग्रेज भारत में व्यापार करने के लक्ष्य से आये थे तथा निरन्तर व्यापारी बने रहे। उनका प्रमुख उद्देश्य अंग्रेजी आर्थिक हितों की पूर्ती करना बना रहा। अंग्रेजी शासन की प्रमुख विशेषता यह रही है। भारत का आर्थिक दृष्टि से शोषण किया जाए। परिणामस्वरूप भारतीयों में अत्यधिक निर्धनता की स्थिति उत्पन्न हो गयी। अंग्रेजी शासन ने भारतीय अर्थव्यवस्था के परम्परागत ढांचे को समाप्त कर दिया था। यह भी तथ्य पूर्ण है कि भारत की अर्थव्यवस्था के ढांचे में जो परिवर्तन आए दे ब्रिटिश सरकार द्व ारा निर्मित एवं थोपे गए परिवर्तन थे। भारत अंग्रेजी अर्थव्यवस्था का एक औपनिवेशिक एवं सांस्कृतिक अंग बन गया था। अंग्रेजों ने भारतीय अर्थव्यवस्था में ब्रिटिश आर्थिक हितों को ध्यान में रखकर व्यापक परिवर्तन किये तथा आर्थिक नीतियों का संचालन किया।

भारत प्रारम्भ से ही कृषि प्रधान देश रहा है, जहाँ कृषि उद्योग, व्यापार उन्नत व विकसित थे। भारत के विदेशी व्यापार की भी सन्तुलित स्थिति थी। लेकिन अंग्रेजों की आर्थिक नीतियों विशेषत: धन निष्कासन की नीति ने भारत की सुदृढ़ अर्थव्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर दिया। भारत में जैसे-जैसे अंग्रेजी शासन अपनी शासन व्यवस्था को संगठित बनाता गया वैसे-वैसे भारतीय अर्थव्यवस्था का सम्पूर्ण आर्थिक ढांचा कमजोर होता गया। भारत एक धन-धान्य से पूर्ण देश के स्थान पर दयनीय स्थिति में पहुंच गया। इसका प्रमुख कारण अंग्रेजों के द्वारा भारत की सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था हा संचालन ब्रिटिश हितों की रक्षा की दृष्टि से होना ही था।

9.2 ईस्ट इण्डिया कम्पनी की भारत में स्थापना के समय परिस्थितियाँ

भारत में अंग्रेजों के आगमन एवं अंग्रेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना से पूर्व मुगल साम्राज्य का शासन एवं प्रभाव बना हुआ था। मुगल सम्राट बाबर से लेकर औरंगजेब तक भारतीय अर्थव्यवस्था संतोषजनक स्थिति में थी। भारत इस समय एक धनी देश था। जिसमें बंगाल मुख्यत धन सम्पन्न एवं समृद्ध प्रान्त था, जो कि विदेशी शक्तियों के लिये आकर्षण का केन्द्र बना हुआ था। भारत की प्राकृतिक सम्पदा, खनिज, व्यापारिक वस्तुओं के उत्पादन, सैनिक सुरक्षा की दृष्टि से यह देश समृद्ध और प्रगतिशील देश रहा है।

1707 ई. में मुगल साम्राज्य के पतन के साथ भारत की आर्थिक व्यवस्था भी पतनोन्मुख होने लगी थी। इस समय विभिन्न भारतीय प्रान्तों के शासकों के परस्पर संघर्ष से विभिन्न दल लूटमार करने के उद्देश्य उभरकर आए। चुंगी व कर की अत्यधिक मांग बढ़ गयी, जिसके परिण ाम स्वरूप व्यापार वाणिज्य के विकास की गीत धीमी हो गयी। यूरोपीय व्यापारिक कम्पनियों ने अवसर का लाभ उठाकर राजनीति में हस्तक्षेप करना आरम्भ कर दिया था।

18वीं शताब्दी के अन्तिम दशक 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारतीय अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत उद्योग एवं व्यापार प्रगतिशील स्थिति में था। उद्योगों के क्षेत्र में पीतल, सोना तांबा और अन्य धातुओं के समान, हाथी दांत तथा चन्दन आदि लकड़ियों की कलात्मक व सुन्दर वस्तुएं भारत के कुशल व दक्ष कारीगर बनाते थे। पंजाब, काश्मीर, लखनऊ, मथुरा, नागपुर अहमदाबाद प्रमुख औद्योगिक केन्द्र थे। ढाका की मलमल की प्रसिद्धि विदेशों में भी थी। पंजाब एवं काश्मीर में ऊनी वस्त्र तथा लखनऊ, मथुरा, नागपुर और अहमदाबाद में सूती वस्त्र का व्यवसाय अधिक विकसित था। दक्षिण भारत में जहाज बनाने का उद्योग उन्नत रूप में था।

भारत में निर्मित अनेक उत्पादन जिनमें हीरे, जवाहरात, गर्म मसाले, हाथी दांत की बनी कलात्मक वस्तुएँ, रेशमी कपड़ा, मलमल, सुगन्धित तेल, इत्र इत्यादि विदेशों को निर्यात किए जाते थे। निर्यात के बदले में अन्य देशों से सोने चांदी के अलावा अन्य वस्तुएँ भारत में आयात की जाती थी।

बंगाल में कम्पनी का शासन स्थापित होने के उपरान्त भारत में विकास व समृद्धिशीलता का रूप परिवर्तित होता गया, जिसमें गिरावट व पतन का स्वरूप दृष्टिगोचर होने लगा। भारत में कम्पनी की सत्ता स्थापित होने के पश्चात् अंग्रेजों की आर्थिक नीति इंग्लैण्ड के आर्थिक हितों से प्रभावित थी। ऐतिहासिक दृष्टि से यह तथ्य पूर्ण है कि 1765 ई. में कम्पनी को बंगाल की दीवानी का अधिकार प्राप्त हुआ था इसके पश्चात अंग्रेजी कम्पनी ने भारत के विभिन्न प्रान्तों के कृषकों का विभिन्न दृष्टि से शोषण करना आरम्भ कर दिया था। अंग्रेजी कम्पनी के कर्मचारी किसानों के साथ असहनीय व्यवहार करते थे। इस दृष्टि से भारतीय किसान बर्बाद हो गए।

यद्यपि अंग्रेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना से लेकर प्लासी युद्ध 1757 ई. तक अंग्रेजी कम्पनी एक व्यापारिक कम्पनी थी, जिसने फ्रांसीसियों को परास्त कर व्यापार के क्षेत्र में एकाधिकार की स्थिति प्राप्त की थी। इसके पश्चात् उन्होंने बंगाल जैसे समृद्ध, धनिक प्रान्त की ओर अपना ध्यान आकर्षित कर आर्थिक दृष्टि से कम्पनी को शक्तिशाली बनाने का प्रयास किया। ऐतिहासिक रूप में यह तथ्य पूर्ण जानकारी मिलती है, कि बंगाल के नवाब मीरजाफर ने लगभग तीन करोड़ रुपये रिश्वत के रूप में कम्पनी एवं अंग्रेज अधिकारियों को दिये थे। इसी प्रकार अंग्रेजों ने 15 करोड़ रुपये से अधिक का व्यापारिक लाभ उठाया था। प्लासी युद्ध के पूर्ण अंग्रेजों को भारत से माल खरीदने के लिये इंग्लैण्ड से सोना, चांदी लाना पड़ता था। लेकिन 1757 ई. के पश्चात् यह गतिविधि रोक दी गयी थी। इसका कारण यह था कि अंग्रेजों को भारत में ही पर्याप्त धन प्राप्त हो जाता था। यह भी तथ्य पूर्ण है कि अंग्रेजों ने बंगाल से अत्यधिक धन प्राप्त करके. चीन के व्यापार में पूंजी का निवेश कर दिया था। कम्पनी के द्वैत शासन के अन्तर्गत कम्पनी की लूट तथा धन का अर्जन अत्यधिक हो गया था। कम्पनी के व्यापारी न केवल व्यापार करते थे बल्कि भारतीय व्यापारियों को पंगु बनाने में सक्रिय गतिविधियां करते थे। अंग्रेजी कम्पनी ने भारतीय उदयोगों में प्रमुखत: बंगाल के मुख्य कपड़ा उद्योग की उपेक्षा की तथा उसे अवनति की ओर अग्रसर होने में सहयोग दिया क्योंकि अंग्रेजी कम्पनी के कर्मचारी भारतीय जुलाहों को एक निश्चित समय में निश्चित प्रकार का कपड़ा बनाने को बाध्य किया करता थे। इसके अतिरिक्त इच्छानुसार उन्हें उनका पारिश्रमिक दिया करते थे। भारतीय जुलाहों को भी शारीरिक दण्ड दिये जाते थे। जिनमें उनका अंगूठा काट देना प्रमुख यातना थी, परिणाम स्वरूप भारतीय जुलाहों ने कपड़ा बुनना छोड़ दिया था। 18वीं शताब्दी में बंगाल प्रान्त में रेशम उद्योग अधिक विकसित स्थिति में था, लेकिन अंग्रेजी कम्पनी ने इस

उदयोग को हतोत्साहित किया था क्योकि इंग्लैण्ड का रेशम उदयोग अपनी प्रगति के पथ पर था। परिणामस्वरूप अंग्रेजों ने बंगाल में कच्चा रेशम बनाने वालों पर अत्याचार करने प्रारम्भ किए तथा उन्हें अपने उद्योग बंद कर अंग्रेजी उदयोगों में कार्य करने के लिये बाध्य किया।

नोट

ऐतिहासिक दृष्टि से यह सत्यतापूर्ण है कि कम्पनी के शासन में दस्तक प्रथा महत्वपूर्ण आर्थिक प्रणाली थी। यह प्रणाली धन लूटने का महत्वपूर्ण तरीका था। दस्तक वह प्रमाण पत्र था जो अंग्रेज फैक्ट्री का अध्यक्ष कम्पनी के सामान के संबन्ध में देता था जिससे उस पर चुंगी नहीं लगती थी। इस वातावरण में अंग्रेजी कम्पनी के कर्मचारी अपनी निजी व्यापार करने लगे तथा निजी व्यापार में भी दस्तक का प्रयोग कर अपने माल को चुंगी से मुक्त करा लेते थे। इस नीति के परिणामस्वरूप व्यक्तिगत तथा कम्पनी के सामान में भेद करना असम्भव हो गया जिसके कारण बंगाल सरकार को हानि होने लगी थी। परिणामस्वरूप भारतीय व्यापार नष्ट हो गया क्योंकि भारतीय व्यापारियों को की देनी पड़ती थी। इसके अतिरिक्त कम्पनी के कर्मचारियों के निजी व्यापार से कम्पनी को भी हानि हो रही थी, क्योंकि यूरोप के बाजारों में कम्पनी द्वारा भेजे गये गाल की अपेक्षा कर्मचारियों द्वारा भेजा गया सामान सस्ता बिकता था। परिणाम स्वरूप 1773 ई. के रेग्युलेटिंग एक्ट में निजी व्यापार बन्द करने के आदेश दिये गये थे। इस स्थिति के बावजूद कम्पनी के कर्मचारी आयात-निर्यात व्यापार में सक्रिय रूप में हिस्सा लेने लगे थे। इनमें अधिकांश व्यापार भारतीय व्यापारी के नाम से होता था। जबकि अंग्रेज अधिकारी वास्तविक रूप में व्यापार करता था। कम्पनी कर्मचारी बंगाल में स्थित फ्रांस तथा हालैण्ड की कम्पनियों की सहायता से अपना व्यापार किया करते थे।

इसी प्रकार आर्थिक क्षेत्र में बंगाल में विभिन्न सेठों साहूकारों एवं सर्राफों के घराने भी अत्यन्त धनी तथा प्रभावशाली थे, जिनमें जगतसेठ घराना अमीचन्द, बोस्तमदास आदि प्रभु थे। इन सेठों व सर्राफों का प्रमुखत: सिक्कों से बदलने से प्राप्त होने बाली बट्टे की आमदनी तथा जमींदारों द्वारा उनके पास धन जमा कराने, व्यापारियों को ऋण देने तथा आज प्राप्त करने पर उनके व्यापार आधारित होता था। ये सर्राफ एवं सेठ कम्पनी के कर्मचारियों को भी व्यापार के लिये धन उपलब्ध कराते थे। कम्पनी द्वारा लाई गई मुद्रा को प्रचलित मुद्रा में बदलने का काम भी सेठ, सर्राफ किया करते थे। परिणामस्वरूप उत्तरी भारत की अधिकतर मंडियों में जगत सेठ घराने की कोठियां थी तथा हुण्डियों के दवारा एक स्थान से दूसरे स्थान पर रुपया भेजे जाने की प्रक्रिया विद्यमान थी। प्लासी युद्ध के पश्चात् से इंग्लैण्ड से न तो धातु मुद्रा लाने की आवश्यकता महसूस की गयी और न ही सेठों के रुपया उधार लेने की जरूरत हुई परिण ाामस्वरूप उक्त घराने भी निर्धन हो गए।

19वीं शताब्दी में इंग्लैण्ड के उद्योगों को शक्तिशाली, प्रगतिशील एवं सुरक्षित बनाने के उद्देश्य से भारत में बनी वस्तुओं के आयात पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया था। 19वीं शताब्दी में अंग्रेजों के व्यापार का स्वरूप बदल गया था। 1813 ई. के चार्टर एक्ट के द्वारा इंग्लैण्ड के निजी व्यापारियों को भी भारत में व्यापार करने की छूट प्रदान कर दी थी। परिणामस्वरूप इंग्लैण्ड में उत्पादित माल का भारत में आयात बढ़ गया तथा भारत में बनी कुटीर उद्योगों की वस्तुओं, वस्त्रों के निर्यात में अत्यधिक कमी आ गयी थी। इसी प्रकार भारत में कच्चे माल का निर्यात भी बढ़ने लगा। परिणामस्वरूप भारतीय उदयोगों का पतन प्रारम्भ हो गया। भारत में निर्धनता बढ़ने लगी जिसका प्रमुख कारण भारत से धन का निष्कासन था।

9.3 धन निष्कासन से तात्पर्य

धन निष्कासन ब्रिटिश कालीन भारत की अर्थव्यवस्था एवं अंग्रेजों की राजस्व नीति के विशेष संदर्भ में एक महत्वपूर्ण कार्यप्रणाली थी। अंग्रेजी शासन की भारत में स्थापना से लेकर अंग्रेजी शासन के अन्त होने तक अंग्रेजों ने इस नीति को प्रमुख रूप में महत्व दिया था कि भारत से विभिन्न रूपों में धन का निकास कर उसे इंग्लैण्ड भेजा जाये एवं इंग्लैण्ड की अर्थव्यवस्था को शक्तिशाली एवं संगठित बनाया जाए। इस नीति को क्रियान्वित स्वरूप प्रदान करने के उद्देश्य से अंग्रेजों ने धन निष्कासन की नीति को प्रोत्साहित किया था।

साधारणत: धन निष्कासन अंग्रेजों की उस नीति का योतक है, जिसमें भारत का धन अथवा पूंजी तथा वस्तुओं का भारत से बाहर इंग्लैण्ड जाना और उसके बदले में भारत को कुछ भी प्राप्त नहीं होना था। यह धन का निकास धातु मुद्रा के रूप में आंशिक एवं वस्तुओं के व्यापार के रूप में अत्यधिक होता था। इस नीति के अन्तर्गत अंग्रेजी सरकार भारत से जितना राजस्व प्राप्त करते थे उस धन से वस्तुएँ खरीद कर बाहर भेज देते थे। इसके अतिरिक्त उन वस्तुओं के बदले में कोई अन्य वस्तु या धातु मुद्रा प्राप्त नहीं होती थी। धन निष्कासन का स्वरूप इस नीति पर आधारित था कि अंग्रेज अधिकारियों द्वारा अपनी समस्त बचत को इंग्लैण्ड भेजना अंग्रेजों द्वारा केवल इंग्लैण्ड में बनी वस्तुएँ ही खरीदना भारत में रेल लाइनों का निर्माण तथा अन्य सार्वजनिक कार्यो के लिये धन व काज चुकाना और मुद्रा परिवर्तन का घाटा भी धन का निष्कासन था। इस नीति का अन्य पहलू इस अर्थ में निहित था कि जो धन भारत से निष्कासित हो जाता था, वही निष्कासित धन सार्वजनिक ऋण के रूप में पुन: भारत आ जाता था। जिसे चुकाने के लिये व्याज सहित अधिक धन निष्कासित करना पड़ता था।

धन निष्कासन का अर्थ विभिन्न अर्थशास्त्रियों के दृष्टिकोण में भारत से अप्रत्यक्ष रूप में भेंट अथवा अंशदान माना है। उनका मानना है कि धन निष्कासन का तात्पर्य अंग्रेजों की आर्थिक नीति की महत्वपूर्ण विशेषता से हैं, जिसमें भारत के धन का अविरल प्रवाह इंग्लैण्ड की ओर होना था, जिसके बदले भारत को पर्याप्त आर्थिक, व्यापारिक अथवा भौतिक फल प्राप्त न होना था।

धन निष्कासन का तात्पर्य अंग्रेजों की उस आर्थिक नीति से था। जिसमें इंग्लैण्ड के आर्थिक उद्देश्य, हितों को पूर्ण रूप से रक्षा प्रदान करने वाला व्यापार, उसके अनुकूल आयात-निर्यात व्यवस्था और कर-व्यवस्था, ब्रिटेन के उद्योगों की आवश्यकता की पूर्ति के लिये भारत में कच्चे माल का उत्पादन और कृषि का व्यापारीकरण, रेल तथा यातायात के अन्य साधनों द्वारा इंग्लैण्ड की मशीनों द्वारा बनी हुई वस्तुओं को सर्च भारत के कोने-कोने तक पहुँचाने, व्यापार की प्रगति आदि ऐसे साधन थे जिसके माध्यम से भारत का धन इंग्लैण्ड जाता था। इन सभी साधनों द्वारा भारत का धन जिस प्रकार इंग्लैण्ड जाता था उस प्रक्रिया को धन का निकास कहा गया।

9.4 अंग्रेजी सरकार की धन निष्कासन के विशेष संदर्भ में नीति का स्वरूप

अंग्रेजों के द्वारा भारत में जिस रूप में धन का निर्गम किया गया उसका स्वरूप निम्नांकित तत्वों अर्थात् सिद्धान्तों पर आधारित था कि-

नोट

9.4.1 ब्रिटिश सरकार एवं गृहप्रभार

आर्थिक विकास की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता गृह प्रभार के रूप में थी। ऐतिहासिक रूप में यह प्रमाण उपलब्ध हुए हैं कि प्रति वर्ष भारत इंग्लैण्ड को 16 लाख पौण्ड गृह प्रभार के रूप में देता था जिसमें कर्ज पर ब्याज, नागरिक प्रशासन का खर्च, सेना, स्टोर, रेलवे आदि का लय सम्मिलित था। इसके अतिरिक्त भारत सचिव और उसके समस्त कर्मचारी वर्ग का वेतन तथा अन्य व्यय, कम्पनी द्वारा साम्राज्य विस्तार करने हेतु युद्धों के लिये लिया गया भारतीय सार्वजनिक ऋण व गाज, ईरान व चीन के दूतावासों का व्यय, इंग्लैण्ड में सैनिक व नौ सैनिक संस्थाओं पर किया हुआ खर्च भी भारत पर डाला जाता था। इसके अलावा भारत में सरकार सभी सैनिक और असैनिक एवं बड़ी राष्ट्रीय कम्पनियों के पद अंग्रेजों को मिलते थे तथा उनके सेना से अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् उनकी पेन्शन हेतु करोंडों रुपया प्रतिवर्ष इंग्लैण्ड भेजा जाता था। गृह प्रभार का विश्लेषणात्मक स्वरूप इस प्रकार रहा।

- **अंग्रेजी कम्पनी के भागीदारों को लाभांश**

गृह प्रभार के अन्तर्गत ईस्ट इण्डिया अंग्रेजी कम्पनी के भागीदारी को लाभांश, भारत की सरकार के द्वारा भुगतान किया जाता था। ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर यह स्पष्ट है कि 1833 ई. के चार्टर एक्ट में यह व्यवस्था की गयी थी कि कम्पनी के भागीदारों को भारतीय राजस्व में से 1874 ई. तक 6 लाख 30 हजार पौण्ड वार्षिक का भुगतान किया जायेगा। इस दृष्टि से भारत के द्वारा 1874 ई. में 45 लाख पौण्ड का ऋण लिया गया था, जिससे कि कम्पनी के शेयर सरकार दुगुने दर पर खरीद सके ओर इस ऋण का काज बढ़ता रहा। यह स्थिति आर्थिक निष्कासन नीति का महत्वपूर्ण पहलू कहा जा सकता है।

- **सैनिक एवं असैनिक व्यय**

आर्थिक निष्कासन के महत्त्वपूर्ण पक्ष गृह व्यय के अन्तर्गत सैनिक एवं असैनिक व्यय भी प्रमुख तत्व थे। इसमें वे समस्त तत्व सम्मिलित थे जो अंग्रेजी पदाधिकारियों को पेंशन तथा। अवकाश के लिये मिलते थे। इन खर्चा में सेना के खर्च जैसे, ईनाम, ग्रैच्युटी, पेंशन प्रमुख थे जो प्रतिवर्ष भुगतान होते थे। यह व्यय की राशि 1887 ई. तक 28 करोड़ पौण्ड तथा 1900-1 ई. तक 35 करोड़ पौण्ड से थी। धन निर्गम का यह स्वरूप इस विशेषता पर आधारित था कि इंग्लैण्ड में अवकाश प्राप्त सैनिक अफसरों की पेंशन की धनराशि समस्त भारत में वसूल किये गये, नमक कर के आधे के लगभग थी। भारतीय सेना के एक कर्नल को एक हजार एक सौ पौण्ड से एक हजार दो सौ पौण्ड के मध्य पेंशन मिलती थी। असैनिक दृष्टि से भारत में ब्रिटिश और यूरोपीय अफसरों के वेतन का एक भाग बाहर भेजना पड़ता था। यूरोपीय एवं अंग्रेजी व्यापारी, धनीलोग, बगीचों, जहाजों एवं सोने की खानों के मालिकों आदि को भी प्रतिवर्ष धनराशि बाहर भेजनी पड़ती थी।

- **इंग्लैण्ड में भण्डार वस्तुओं को खरीद**

गृह व्यय के अन्तर्गत अन्य महत्वपूर्ण तल इंग्लैण्ड में भण्डार वस्तुओं की खरीद के रूप में था। इस क्षेत्र में भारत राज्य सचिव एवं भारत सरकार इंग्लैण्ड में करोड़ों रुपये का माल सैनिक, असैनिक एवं समुद्री विभाग के लिये मण्डियों एवं उपनिवेशों में खरीदते थे। विभिन्न तथ्यों के आधार पर यह जानकारी मिलती है कि 1881 ई. तथा 1920 ई. के मध्य यह व्यय गृह व्यय का 12 प्रतिशत प्रतिवर्ष हुआ करता था।

• **विदेश में लिये गए सार्वजनिक ऋण**

विदेश में लिये गए सार्वजनिक ऋण भी गृह प्रभार का अन्य महत्त्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय तत्व था। इस क्षेत्र में अंग्रेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अपने आर्थिक प्रभार के रूप में 7 करोड़ पौण्ड ऋण का भार बढ़ा लिया था जो कि उन संघर्षों में विनियोजित किया गया। इसके अतिरिक्त इस राशि को उन युद्धों में विनियोजित किया गया जो मुख्यत: अफगान, बर्मा व नेपाल में लड़े गये। यह युद्ध अंग्रेजी कम्पनी के साम्राज्य विस्तार की महत्वाकांक्षा को।तक थे। अनुमानत: 1900 ई. में इस सार्वजनिक ऋण की राशि 22 करोड़ लाख पौण्ड थी।

इस ऋण की धनराशि में कुछ ऋण उत्पादक उद्देश्यों से लिया गया था जिनमें रेलवे, सिंचाई के लिये योजनाएँ तथा अन्य सार्वजनिक कार्यों के लिये हुआ करता था। ऐतिहासिक रूप में यह स्पष्ट है कि ब्रिटिश शासन काल में रेलवे तथा सिंचाई परियोजनाएं प्रमुख रूप से इंग्लैण्ड के आर्थिक हितों के अनुरूप बनायी गयी थी। यह भी स्पष्ट है कि इंग्लैण्ड का भारतीय अर्थव्यवस्था पर पूर्ण अधिकार था। इस स्थिति में भारत का औद्योगीकरण नहीं हुआ, देश में बेकारी की समस्या बढ़ गयी क्योंकि इंग्लैण्ड का निर्मित वस्त्र प्रत्येक स्थान पर मिलने लगा तथा भारतीय बनुकरों का व्यवसाय ठप्प हो गया।

9.4.2 विदेशी पूंजी निवेश पर दिया जाने वाला ब्याज

धन निष्कासन के क्षेत्र में अन्य महत्वपूर्ण तत्व विदेशी पूंजी निदेश पर दिया जाने वाला ब्याज हुआ करता था। यह ब्याज और लाभ भारतीय राष्ट्रीय आय से व्यक्तिगत विदेशी पूंजी निवेश पर दिया जाने बाला प्रमुख निकास था। स्पष्ट है कि स्वतंत्रता से पूर्व भारत में निजी क्षेत्र की अत्यधिक धन राशि का विनियोजन किया गया था। अनुमानत: यह धनराशि 60 करोड़ रुपये प्रतिवर्ष बाहर भेजी गयी। इस नीति के अन्तर्गत विदेशी पूंजीपतियों ने भारत के औद्योगिक विकास में किसी प्रकार की रूचि नहीं दिखायी एवं उपेक्षा का दृष्टिकोण अपनाया तथा औद्योगिक विकास के मार्ग में बाधाएँ उत्पन्न की थीं। भारतीय स्रोतों तथा कच्चे माल का ब्रिटिश औद्योगिक विकास के स्वार्थ में उपयोग किया था।

9.4.3 विदेशी बैंक, बीमा, जहाज कम्पनियाँ

आर्थिक निर्गम की दृष्टि से अन्य महत्वपूर्ण तत्व विदेशी बैंकों, बीमा कम्पनियों तथा नौवहन कम्पनियों के द्वारा अत्यधिक धन आर्जित करना था। विभिन्न आर्थिक वेत्ताओं द्वारा दी गयी जानकारी के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि इन कम्पनियों के द्वारा भारत से करोंडों रुपये आर्थिक लाभ के रूप में प्राप्त किये। इन सभी विदेशी कम्पनियों ने भारत स्थित कम्पनियों की उपेक्षा, की उन्हें पनपने नहीं दिया तथा अंग्रेजी कम्पनियों को प्रोत्साहित कर भारतीय पूंजी, कम्पनी में काम आने वाली वस्तुएँ, माल आदि का उपभोग किया।

विलियम डिग्बी ने यह लिखा है, कि 19 वीं शताब्दी के अन्त तक धन का निर्गम 60 लाख पौण्ड था। इसी प्रकार हैन्डमेन ने लिखा कि, इसका वास्तविक निष्कासन 4 सौ लाख पौण्ड था। ए. जे. विल्सन ने आर्थिक निर्गम की स्थिति को स्पष्ट करते हुए लिखा कि यह वार्षिक निर्गम 35 लाख पौण्ड था। श्री मैकलीन ने इस संबध में यह लिखा कि भारत को 30 करोड़ पौण्ड की धनराशि प्रतिवर्ष इंग्लैण्ड भेजनी पड़ती थी। इसके बदले में भारत को कुछ भी प्राप्त नहीं होता था।

नोट

स्पष्ट है कि अंग्रेज साम्राज्यवादी शासकों ने भारत का शोषण करने के विभिन्न तरीके निकाल रखे थे। ऐतिहासिक रूप में यह जानकारी मिलती है कि 1765 ई. में बंगाल की दीवानी प्राप्त होने के पश्चात् व्यापार के लाभ के अतिरिक्त आर्थिक लूट का एक ओर रास्ता खुल गया था, जिसकी कोई सीमा न थी। बंगाल से प्राप्त राजस्व तथा व्यय-विवरण के अनुसार कम्पनी के प्रशासन में प्रथम छः वर्षों में इस देश का युद्ध राजस्व व करोड़ 30 लाख 66 हजार 991 पौण्ड था और कुल व्यय 90 लाख 27 हजार 609 पौण्ड था। परिणाम स्वरूप 40 लाख 39 हजार 152 पौण्ड अधिशेष की राशि वस्तुओं के रूप में इंग्लैण्ड भेजी जाती थी। इसी प्रकार अंग्रेज अधिकारियों द्वारा धन कमाकर इंग्लैण्ड में अपने परिवारों को भेजना, अपनी समस्त बचत को इंग्लैण्ड भेजना, अंग्रेज अधिकारियों द्वारा इंग्लैण्ड में बनी हुई वस्तुएं खरीदना, भारत में रेलों तथा अन्य सार्वजनिक कार्यों के लिये ऋण पर ब्याज तथा मूलधन चुकाना मुद्रा परिवर्तन में घाटा आदि भी धन निष्कासन था।

19 वीं शताब्दी के पांचवे व छठे दशक में अंग्रेजी पूंजी भारत में लगाई जने लगी। 1914 ई. से पूर्व अंग्रेजी पूंजी का अनुमानत 97 प्रतिशत भाड़ा भारत सरकार की विभिन्न योजनाओं जैसे रेलवे, सड़क परिवहन, बैंक तथा बीमा कम्पनियों जैसे वित्तीय संस्थाओं चाय कॉफी तथा रबड़ के बगीचों तथा भारतीय कृषि साधनों के उपयोग आदि के कार्यों में लगा हुआ था। कम्पनी की यह अंग्रेजी पूंजी के रूप में भारतीय ऋण सबसे अधिक हानिकारक था। दादाभाई नौरोजी ने कहा था कि भारत का धन ही भारत से बाहर जाता और फिर वही धन भारत को ऋण के रूप में जुटाना पड़ता था और वह सब एक दुष्चक्र था, जिसे तोड़ना कठिन था। इस नीति के कारण भारत के अनिच्छित निर्यात से और अधिक अनिच्छित निर्यात उत्पन्न होता था, और यह ऋण भारत पर निरन्तर बढ़ता जाता था।

1939-40 में द्वितीय विश्व युद्ध से पूर्ण 1200 करोड़ पौण्ड ऋण के रूप में विदयमान था। परिणाम स्वरूप भारत के निष्कासित धन का सार्वजनिक ऋण के रूप में आने तथा उसे चुकाने के लिये और अधिक धन निष्कासित करने का यह क्रम द्वितीय विश्वयुद्ध के आरम्भ तक चलता रहा।

9.5 धन निष्कासन की मात्रा

भारत में अंग्रेजी सरकार की धन निष्कासन नीति की विशलेषणात्मक ऐतिहासिक विवेचना से स्पष्ट होता है, कि यह धन का निर्गम अतिशय रूप में था। आर्थिक निर्गम का अनुमान विभिन्न अर्थशास्त्रियों एवं विद्वानों के द्वारा प्रस्तुत किये गए अनुमानों एवं आकड़ों से स्पष्ट होता है। जार्ज विड्गेट ने सर्वेक्षण के आधार पर यह अनुमान प्रस्तुत किया था कि 1835 ई. से 1851 ई. तक भारत में धन का निष्कासन 42 लाख 21 हजार 611 पौण्ड प्रतिवर्ष था। इसी प्रकार विलियम डिग्बी ने भी अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा कि भारत में प्लासी युद्ध के बाद से मराठा संघ पर विजय स्थापना 1818 ई. तक अंग्रेजी कम्पनी के नियंत्रण में धन निर्गम की नीति के फलस्वरूप धन निष्कासन की मात्रा एक हजार मिलियन पौण्ड की थी।

इसी प्रकार प्रसिद्ध अर्थ शास्त्री आर.सी.दत्त, दादाभाई नौरोजी ने भी भारत में ब्रिटिश सरकार की आर्थिक नीतियों के फलस्वरूप धन निर्गम की राशि का अनुमान 1883 ई. से 1892 ई. तक 359 करोड़ पौण्ड उल्लेखित किया है। इसके अतिरिक्त डी.ई बाबा ने 1860 ई. से 1990 ई. तक इस निर्गम राशि का अनुमान 40 करोड़ रुपये प्रतिवर्ष लगाया है। इस

क्षेत्र में प्रोफेसर विश्वश्वरैया ने भारत में धन निष्कासन का अनुमान 1934 ई. के वर्ष में 121 मिलियन पौण्ड उल्लेखित किया है, जिसमें गृह प्रभार एवं पेंशन सम्मिलित नहीं किये गए हैं। इसी भांति पेवलाव नामक विद्वान ने भी भारत में आर्थिक विकास के अनुमान को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि यह निष्कासन 1930 ई. के दशक में 130 से 140 मिलियन पौण्ड रहा जो कि अंग्रेजों ने भारत से कर के रूप में प्राप्त किये थे। उपर्युक्त सभी आकड़ों का विश्लेषण करने के पश्चात् सी. एम. वकील ने निकर्ष के रूप में यह अनुमान दिया है कि 1834 ई. से 192 ई. के वर्षों में भारत से निष्कासित होने बाली धनराशि 394 से 591 मिलियन पौण्ड थी।

9.6 धन निष्कासन नीति का प्रभाव

भारत में अंग्रेजी सरकार के द्वारा अपनायी गयी धन निष्कासन की नीति के परिणाम स्वरूप विभिन्न प्रभाव भारतीय कृषि, उद्योग, व्यापार, वेतन भोगी भारतीयों तथा अन्य क्षेत्रों पर पड़ा जिनका विश्लेषण निम्नांकित आधार पर किया जा सकता है।

1. भारतवासियों के कर भार में वृद्धि : धन निष्कासन का प्रत्यक्ष रूप में यह प्रभाव हुआ कि भारतीयों के द्वारा जो करों का भुगतान किया जाता था, उनका बोझ अत्यधिक हो गया था। इस प्रकार के करों का भार आय की तुलना में अत्यधिक हो गया था। इस संदर्भ में जो आकड़े उपलब्ध हुए हैं उनसे यह ऐतिहासिक जानकारी मिलती है कि भारत में प्रति व्यक्ति आय का 14 प्रतिशत से अधिक का कर भार था, जबकि इंग्लैण्ड में वहाँ के निवासियों पर यह कर भार 7 प्रतिशत से भी कम था। इसका प्रभाव इस प्रक्रिया के रूप में संभव हुआ कि निर्धन व्यक्तियों को इन करो को चुकाने के लिये ऋण लेना पड़ता था और इस ऋण पर दिये जाने वाले ब्याज के कारण उन पर आर्थिक बोझ निरन्तर बढ़ता गया। भारतीयों से वसूल की जाने वाली धन राशि का उपयोग भारतीयों के हितों के रूप में नहीं किया जाता था। इस वसूली गयी धनराशि को इंग्लैण्ड भेज दिया जाता था। इस आर्थिक नीति के परिणाम स्वरूप भारतवासियों के द्वारा करों का भुगतान करने, करों के भुगतान के बाद भी कोई लाभ प्राप्त न होने के कारण भारतीयों की आय में कमी हो गयी थी। परिणामस्वरूप भारतीयों का जीवन स्तर निरन्तर रूप में गिरता चला गया।

2. भारत की निर्धनता में वृद्धि : अंग्रेजों की धन निर्गम की नीति के परिणाम स्वरूप भारतवासियों की निर्धनता में अत्यधिक वृद्धि हुयी। इस दृष्टि से भारत में निर्धनता का प्रमुख कारण अंग्रेजों की धन निष्कासन नीति को माना गया है। दादाभाई नौरोजी ने अंग्रेजों की इस धन निष्कासन नीति को निर्धनता के विशेष। संदर्भ में पापों के पाप की संज्ञा दी। अंग्रेजों की आर्थिक नीति के परिणाम स्वरूप भारत को समस्त कच्चे माल से अत्यधिक इंग्लैण्ड के उत्पादित माल में वृद्धि संभव हुयी। इस स्थिति में भारत के निवासी धन का संग्रह नहीं कर सके। परिणामस्वरूप भारत को औद्योगीकरण के मार्ग की ओर नहीं बढ़ा सके। इस स्थिति में भारत में निर्धनता बढ़ती गयी।

3. भारत में पड़ने वाले अकालों में वृद्धि : भारत में अंग्रेजों की धन निष्कासन नीति के परिणामस्वरूप प्राकृतिक रूप में जो समय-समय पर अकाल पड़ते थे उन अकालों में भी वृद्धि को प्रोत्साहन मिला था। अकालों में वृद्धि भारतीयों की निर्धनता का अप्रत्यक्ष परिणाम था। भारत में अंग्रेजों की आर्थिक निष्कासन नीति के कारण एक ओर निर्धनता में वृद्धि हुई वहीं दूसरी ओर भारत में पड़ने वाले अकालों में भी वृद्धि संभव हुयी। भारत में निरन्तर अकाल

नोट

पड़ने लगे। डिग्बी ने लिखा है कि 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में 24 छोटे-बड़े अकाल पड़े थे जिनमें दो करोड़ पिच्चासी लाख जाने गई। 1943 ई. के बंगाल प्राप्त के अकाल में ही तीस लाख लोग मृत्यु को प्राप्त हुए थे। क्योंकि भारतीयों की निर्धनता इतनी अधिक थी कि भारतीय अन्न व खाद्य सामग्री का क्रय नहीं कर सकते थे। उनके पास अन्न खरीदने के लिये पैसा नहीं था। अकाल की स्थिति में अंग्रेज अन्न का निर्यात करते रहते थे। परिणामस्वरूप अकाल की स्थिति और भंयकर रूप धारण करती गयी।

4. शोषण की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन : भारत में अंग्रेजों की धन निष्कासन नीति के परिणामस्वरूप भारतीयों में शोषण की प्रवृति को प्रोत्साहन मिला क्योंकि भारत में धन की कमी हो जाने की स्थिति में अंग्रेजी सरकार ने इंग्लैण्ड के पूंजीपतियों एवं निदेशकों को भारत में पूंजी का विनियोजन करने के लिये आमन्त्रित किया था परिणाम स्वरूप इन पूंजीपतियों ने अपने धन का विनियोजन किया और इस लगायी गयी पूंजी का समस्त लाभ अर्जित कर वे इंग्लैण्ड ले गए। इस क्षेत्र में उदाहरणार्थ यह माना गया है कि अंग्रेजों ने निजी कम्पनियों को सरकारी देखभाल में भारत में रेल निर्माण का कार्य सौंपा था। इन कम्पनियों को उनकी पूंजी पर ब्याज और 4 से 5 प्रतिशत लाभ की गारण्टी दी गयी थी। इन कम्पनियों को जो निध ारित लाभ से कम लाभांश मिलता था तो सरकार की ओर से वह राशि पूरी की जाती थी। परिणाम स्वरूप अंग्रेजी पूंजीपतियों को अंग्रेजों की इस नीति के कारण लाभ की पूर्ण गारण्टी थी, जिसके कारण उन्हें पूंजीपतियों को किफायत से कार्य करने की जरूरत नहीं होती थी। भारत में सभी प्रकार के पुर्जे, मशीनें आदि इंग्लैण्ड से मंगवाए जाते थे। अंग्रेजों की इस नीति के परिणाम स्वरूप इंग्लैण्ड के पूंजीपतियों को अत्यधिक लाभ हुआ तो दूसरी ओर भारत का आर्थिक शोषण निरन्तर वृद्धि को प्राप्त हुआ।

5. कृषकों की निर्धनता में वृद्धि : ब्रिटिश सरकार की आर्थिक निर्गम नीति का अन्य दुष्परिणाम भारतीय कृषकों की निर्धनता में वृद्धि के रूप में संभव हुआ था। ऐतिहासिक दृष्टि से यह तथ्य पूर्ण है कि भारत में अंग्रेजों की आर्थिक शोषण की नीति एवं राजस्व का प्रमुख साधन भू राजस्व था जो कि भारतीय कृषकों से वसूल किया जाता था। यद्यपि अंग्रेजों ने भारतीय कृषकों की भू राजस्व संबंधी समस्याओं को सुलझाने के लिये स्थायी बन्दोबस्त व्यवस्था रैयतबाडी बन्दोबस्त, महलवाड़ी व्यवस्था के रूप में भूराजस्व प्रणालियाँ प्रारम्भ की थी। तथापि इसका लाभ भारतीय किसानों को प्राप्त नहीं हुआ, बल्कि अंग्रेजी सरकार के आर्थिक हितों को लाभ व प्रोत्साहन मिला। इस नीति के कारण किसानों से अत्यधिक लगान प्राप्त करने की प्रवृत्ति में वृद्धि हुयी। परिणामस्वरूप किसानों की निर्धनता और बढ़ गयी। भारत में भूराजस्व के क्षेत्र में अंग्रेजों ने जिस नीति को अपनाया था उसके आधार पर इंग्लैण्ड कृषकों से भूराजस्व एकत्रित करता था और बही अपना माल बेचकर लाभ अर्जित करता था। लेकिन निर्धन किसानों के पास भूमिकर का भुगतान करने के लिये धन नहीं होता था, एवं ऐसी स्थिति में ऋण लेता था एवं ऋण चुकता नहीं कर पाने की स्थिति में भूमि को बेचने के लिये मजबूर होते थे। परिणाम स्वरूप कृषकों की निर्धनता एक दुष्चक्र में फंसकर बढ़ती गयी।

6. भारतीय व्यापारियों को नुकसान होना : भारत में अंग्रेजों की धन निष्कासन की नीति के परिणामस्वरूप भारतीय व्यापारियों को भी नुकसान हुआ। इस नीति के अन्तर्गत पूंजी का हस्तान्तरण केवल इंग्लैण्ड हो जाने एवं अंग्रेजों का एकाधिकार होने के परिणामस्वरूप व्यापारियों को हानि हुयी। उन्हें निर्यात में घाटा उठाना पड़ता था। क्योंकि भारतीय व्यापारी जब

भारत में उत्पादित माल का निर्यात करने का प्रयास करते थे तो उन्हें विदेशी औद्योगिक देशों से प्रतिस्पर्धा करनी पड़ती थी। इस स्थिति में भारतीय व्यापारियों को अपना माल खपाने के लिए सस्ती दरों पर बेचना होता था।

स्पष्ट है कि भारत में ब्रिटिश पूंजीपतियों एवं व्यापारियों को पूंजी का विनियोजन करने, इंग्लैण्ड के उत्पादित माल को भारत में बेचने के लिए किसी प्रकार की प्रतिस्पर्धा का सामना नहीं करना पड़ता था। दादाभाई नौरोजी ने लिखा था कि, ''भारत में भारतीय उद्योगों पर अंग्रेजों का एकाधिकार बना हुआ था। भारत के महत्वपूर्ण व्यापारिक प्रतिष्ठान अंग्रेजों के नियंत्रण में थे। एक दृष्टि के कपड़ा उद्योग यद्यपि भारतीयों के नियंत्रण में था, लेकिन अंग्रेजी सरकार ने अनेक बाधाएँ उपस्थित कर दी थी। अंग्रेजों ने इंग्लैण्ड में निर्मित माल पर भारत में लगे आयात कर को समाज कर दिया था तथा भारत को मुक्त व्यापार का क्षेत्र बना दिया। परिणामस्वरूप भारतीय व्यापारियों को इंग्लैण्ड के बने कपड़ों व अन्य सामानों के लिये प्रतियोगिता करनी पड़ी। अत: इस प्रतिस्पर्धा में भारतीय व्यापारी नहीं टिक सके। इस स्थिति में भारतीय व्यापारियों को कम दामों पर अपना माल बेचना पड़ा जिससे उन्हें हानि उठानी पड़ी।

7. भारतीयों को सरकारी उच्च पद प्राप्त ना होना : धन निष्कासन का अन्य प्रभाव यह भी हुआ कि भारतीयों को सरकारी उच्च पद प्राप्त नहीं हो सके। उन्हें उच्च पद प्राप्त करने के अवसरों से वंचित होना पड़ा। इसका कारण यह था कि भारतीयों को उच्च शिक्षा प्रदान किये जाने की व्यवस्था नहीं थी क्योंकि अंग्रेजी सरकार भारतीयों को क्लर्क बनाना चाहती थी इस प्रकार भारतीयों को यदयपि प्रतियोगी परीक्षाओं में बैठने का अवसर दिया गया था। लेकिन इन परीक्षाओं में बैठने की उम्र कम तथा परीक्षा केन्द्र लंदन रखा गया था। जिसके कारण जो आर्थिक दृष्टि से कमजोर थे वह इन परीक्षाओं से वंचित रह गये। जबकि जो भारतीय संपन्न घराने के प्रतिभाशाली युवक थे वह इंग्लैण्ड जाकर प्रतियोगी परीक्षाओं में उत्तीर्ण होते थे लेकिन उन्हें उनकी योग्यतानुसार उच्च व उत्तरदायी पद नहीं दिये गये थे। परिणामस्वरूप भारतीय प्रति भायें प्रशासन, सेना व विधायिकाओं में जाकर अपनी, योग्यता का परिचय नहीं दे सकी जिसके कारण उन्हें उच्च पदों से वंचित होना पड़ा।

8. भारतीय मुद्रा पर नियंत्रण : भारत में अंग्रेजों की धन निष्कासन की नीति के कारण भारतीय मुद्रा पर नियत्रंण स्थापित हो गया। ऐतिहासिक रूप में स्पष्ट है कि गृह सरकार के बढ़ते हुए खर्चा का भारत की सरकार को सामना करना पड़ता था। यह भी स्पष्ट है कि भारत में मुद्रा चाँदी की थी जबकि इंग्लैण्ड का स्टर्लिंग एक स्वर्ण मुद्रा था। परिणामस्वरूप भारतीय सरकार को अपनी चाँदी की मुद्रा इंग्लैण्ड की स्वर्ण मुद्रा की दर पर रखनी पड़ती थी। इस स्थिति में भारत सरकार अपनी गृह सरकार की अनुमति के बिना अपनी मुद्रा का अवमूल्यन नहीं कर सकती थी। इसके अतिरिक्त भारत सरकार को अपना स्वर्ण इंग्लैण्ड भेजने के लिये बाध्य किया जाता था। भारत को इंग्लैण्ड, समस्त धन स्वर्ण मुद्रा मे रूपान्तरित करा कर भेजना पड़ता था। इस स्थिति के परिणामस्वरूप भारत का स्वर्ण इंग्लैण्ड जाता रहा और उस! निर्यात को रोकने के लिये अपनी मुद्रा में कुछ भी परिवर्तन नहीं कर सका।

उक्त विवेचन के फलस्वरूप यह स्पष्ट है कि भारत में अंग्रेजों की धर निष्कासन नीति के परिणामस्वरूप भारत का धन विदेश चला गया और आत्मनिर्भर भारत विदेशियों का कर्जदार हो गया। भारत जो कि धन संपन्न था वह गरीबी और बेकारी का स्थल बन गया।

नोट

9.7 सारांश

अंग्रेजों की भारत मे धन निष्कासन की नीति के अर्थ, स्वरूप एवं उसके परिणामों का विश्लेषणात्मक विवेचन करने के पश्चात् यह स्पष्ट हो गया कि, अंग्रेजी साम्राज्य ने भारत में अत्यधिक निर्धनता एवं कृषि तथा औद्योगिक क्षेत्र में पिछड़ापन एक विरासत के रूप में भारत को दिया। अंग्रेजों की इस धन निर्गम नीति के कारण भारतीय कृषि तथा औद्योगिक दृष्टि से परम्परागत उद्योग नष्ट हो गये। भारत में अंग्रेजों की आर्थिक नीति के कारण नवीन और आधुनिक उद्योगों का विकास सम्भव नहीं हुआ। भारत में व्यापार भारतीय हित में नहीं रहा। भारत का अत्यधिक धन इंग्लैण्ड चला गया। भारत जो आत्मनिर्भर देश था, वह इंग्लैण्ड का कर्जदार देश हो गया। अंग्रेजों की धन निष्कासन नीति के कारण भारत जो कि धन-धान्य से पूर्ण था, गरीबी और बेकारी का केन्द्र बन गया। भारत में अर्थव्यवस्था के समस्त पहलुओं पर अंग्रेजी शासन के प्रभाव को महसूस किया गया। भारत आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए साम्राज्यवादी ब्रिटिश की आवश्यकताओं के आधीन हो गया। अंग्रेजों की इस नीति के कारण भारत की अर्थव्यवस्था का रूपान्तरण एक औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था में हो गया, जिसने देश में गहरा आर्थिक संकट उत्पन्न कर दिया था। भारत में जो आर्थिक संकट की स्थिति उत्पन्न हुई उसे भारतीय राष्ट्रीय नेताओं ने अनुभव किया और उन्होंने देश में राजनैतिक आन्दोलनों की आधारशिला रख दी। परिणामस्वरूप भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन को प्रोत्साहन मिला।

9.8 अभ्यास प्रश्न

1. भारत में कम्पनी के शासन के समय आर्थिक स्थिति का उल्लेख कीजिये।
2. कम्पनी के शासन के समय अंग्रेजों की धन निष्कासन नीति की विशेषताएं बताइये।
3. 1888 ई. के पश्चात अंग्रेजों की धन निष्कासन नीति की विशेषताओं का उल्लेख कीजिये।
4. धन निष्कासन नीति का क्या अभिप्राय है।
5. आर. सी. दत्त व नौरोजी के धन निष्कासन नीति के अर्थ संबंधी विचार लिखिये।
6. निम्नांकित वाक्यों को पढ़कर उनके सम्मुख सही अथवा गलत का चिन्ह अंकित करें।
   1. भारत में अंग्रेजी शासन की स्थापना से लेकर अंग्रेजी शासन के अन्त तक अंग्रेजी सरकार का प्रमुख लक्ष्य भारत से अधिकाधिक धन अर्जित करना था। ( )
   2. अंग्रेजी सरकार ने भारतीय कृषि, उद्योग व्यापार की उपेक्षा की एवं इंग्लैण्ड के व्यापार, उद्योगों, कृषि को उन्नतशील बनाया। ( )
   3. अंग्रेजों की धन निष्कासन की नीति ने भारत की सुदृढ़ अर्थव्यवस्था को छिन्न-भिन्न दिया था। ( )
   4. अंग्रेजी सरकार ने भारतीय अर्थ व्यवस्था को सुदृढ़ एवं संगठित बनाने का प्रयास किया था। ( )

5. अंग्रेजी कम्पनी के शासन काल में दस्तक प्रथा महत्त्वपूर्ण आर्थिक प्रणाली थी। ( )
6. आर्थिक निष्कासन का अर्थ इंग्लैण्ड का धन भारत आना था। ( )
7. आर्थिक निकास की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता गृह प्रभार के रूप में थी। ( )
8. अंग्रेजों की धननिष्कासन नीति के परिणाम स्वरूप भारत एक समृद्धशाली देश बन गया था। ( )

7. निम्नांकित प्रश्नों के उत्तर संक्षेप में लिखिए।

(i) भारत में अंग्रेजी शासन की स्थापना के समय अर्थव्यवस्था की स्थिति समझाइये।

(ii) अंग्रेजों की धन निष्कासन नीति का अर्थ लिखिये।

(iii) धन निष्कासन नीति को निर्धारित करने वाले तत्व गृहप्रभार एवं सैनिक एवं असैनिक व्यय का वर्णन कीजिये।

(iv) विदेश में लिये गए सार्वजनिक ऋण, बैंक, बीमा व जहाज कम्पनियों के विशेष संदर्भ में धन निष्कासन नीति का वर्णन कीजिये।

(v) धन निष्कासन नीति के परिणामों को लिखिये।

इकाई-10 ग्रामीण अर्थव्यवस्था एवं हस्तशिल्प का विनाश

पाठ-संरचना

नोट

10.0 उद्देश्य

10.1 प्रस्तावना

10.2 अठारहवीं सदी की अर्थव्यवस्था के बारे में विवाद

10.3 भारतीय ग्रामीण व्यवस्था और ग्राम-समुदाय

10.3.1 कृषि और ग्रामीण अर्थव्यवस्था

10.3.2 भू-राजस्व और कृषि अधिशेष की वसूली

10.3.3 कृषि सम्बंध

10.4 शहरी अर्थव्यवस्था के कुछ पहलू

10.5 अंग्रेजी राज के आगमन के हिन्दुस्तान के मुख्य उद्योग

10.6 उद्योगों का संगठन और स्वरूप

10.7 व्यापारिक गतिविधियाँ और यूरोपीय व्यापार के आर्थिक प्रभाव

10.8 ब्रिटिश-पूर्व आर्थिक संगठन का विघटन

10.9 भारतीय ग्रामीण अर्थव्यवस्था के विघटन के कारण

10.10 निरौधीकरण या अनऔद्योगिकरण का विवाद

10.11 ग्रामीण अर्थव्यवस्था में परिवर्तन और सततता:

10.12 स्थायी बंदोबस्त का संचालन और परिणाम

10.13 रैयतवाड़ी व्यवस्था का वैचारिक आधार और लक्ष्य

10.14 रैयतवाड़ी-व्यवस्था का विकास और संचालन

10.15 महालवाड़ी भूमि-बंदोबस्त

10.16 सारांश

10.17 अभ्यास प्रश्न

10.0 उद्देश्य

दक्षिण एशिया विशेषकर भारत के आधुनिक अतीत का अध्ययन भारतीय आर्थिक इतिहास के बारे मे धारणाओं पर टिका हुआ है। आर्थिक संरचना और आर्थिक बदलाव की प्रक्रिया ही हमें किसान समाज, राजनैतिक गतिविधियों, साम्राज्य की नीतियों तथा जाति, वर्ग और समुदाय के सामाजिक सम्बंधों के बारे में जानकारी देती है। इसीलिए आर्थिक संरचना और आर्थक बदलाव के स्वरूप को समझने के लिए उत्पादकों, उपभोक्ताओं और राज्य के सम्बंधों को समझना जरूरी हो जाता है। जैसे हमारे वर्तमान भारत को समझने में औपनिवेशिक संस्थाओं और आर्थिक नीतियों की विरासत पर नजर डालनी जरूरी हो जाती है उसी प्रकार

अंग्रेजी राज के प्रभाव को समझने के लिए ब्रिटिश राज से पहले के आर्थिक पहलुओं पर नजर डालना भी जरूरी है।

नोट

10.1 प्रस्तावना

प्रारंभिक ब्रिटिश प्रशासकों का विश्वास था कि ब्रिटिश राज के पहले भारत में राजनैतिक उथल-पथल की वजह से जीवन और सम्पत्ति भी असुरक्षित थी। विशेषकर यह माना जाने लगा कि मुगल साम्राज्य के पतन और सशस्त्र संघर्ष की राह पर चलते नई क्षेत्रीय राज्य-व्यवस्थाओं के विकास ने इस असुरक्षा को बढ़ाया। मुगल सेना और बाद में मराठा सेना के बिखराव से लुटेरों के बड़े दल पैदा हुए जिन्होंने सम्पति और जान की सुरक्षा को खतरे में डाल दिया। इससे जनसंख्या में गिरावट आई और कुछ क्षेत्रों में कृषि और व्यापार बुरि तरह प्रभावित हुए। लेकिन स्पष्ट रूप से, इस प्रकार के आर्थिक घिटन, सामान्य अराजकता और आर्थिक हास के बारे में ठोस और पक्के सबूत नहीं मिलते। इसके अलावा भी ब्रिटिश शासन से पूर्व भारतीय आर्थिक जीवन और संरचना के बारे में अनेक प्रकार की भ्रातिया मौजूद हैं। इन भ्रांतियों में ब्रिटिश पूर्व एक स्वर्ण युग (Golden Age) की कल्पना प्रमुख है जिसे राष्ट्रवादी इतिहास लेखन और लोकप्रिय किवदंतियों से खास बल प्राप्त होता रहा है जो भारत को एक 'सोने की चिडिया' के रूप में दर्शाने की कोशिश करता है। इस प्रकार की कल्पना और आकलन समाज में व्यापत वर्ग-विभेदों, मेहनतकस तबकों की दुर्दशा, किसानों के अबाध शोषण और जाति-उत्पीड़न के साथ स्त्रियों के आर्थिक और सम्पति के अधिकारों से वंचित रखने जैसे ठोस तथ्यों को नजरअन्दाज करता है।

10.2 अठारहवीं सदी की अर्थव्यवस्था के बारे में विवाद

अठारहवीं सदी की आर्थिक व्यवस्था और समाज को लेकर इतिहासकारों में काफी मतभेद है। जदुनाथ सरकार जैसे राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन में मुगल साम्राज्य का पतन और उसके बाद आये अंग्रेजी राज की बुराइयाँ मुख्य केन्द्र-बिंदु रहे। मुगल साम्राज्य का पतन ही अराजकता और अस्थिरता का प्रतीक मान लिया गया और एक तरह से यह आर्थिक हास का काल भी था। यही विचार समकालीन फारसी लेखकों और बाद में अंग्रेजी विद्वानों ने भी रखे थे। आजकल सी.ए. बेली, आंद्रे विक और मुजफर आलम जैसे कई विद्वान साबित कर रहे हैं कि अठारहवीं सदी में आर्थिक हास और विघटन के कोई ठोस सबूत नहीं मिलते। इन्होंने तर्क दिया है कि केन्द्रीय शक्ति या मुगल साम्राज्य के स्थान पर क्षेत्रीय राज्य व्यवस्थाओं का उदय अवनति और पतन नहीं माना जा सकता। इनकी मान्यता है कि दिल्ली-आगरा क्षेत्र पर अपनी नजर केन्द्रित करने और मुगल दरबार और इसकी प्रशासनिक व्यवस्था (जैसे मनसबदारी, जागीरदारी) पर सारा ध्यान केन्द्रित करने से और क्षेत्रीय इतिहास को अनदेखा करने से भ्रांति होती है कि मुगल साम्राज्य का पतन घोर आर्थिक विघटन को पैदा करता है। ये विद्वान महसूस करते हैं कि एक तरफ जहाँ दिल्ली, आगरा और लाहौर जैसे आर्थिक और व्यापारिक केन्द्रों का महत्त्व घटा तो दूसरी तरफ बनारस, पटना, लखनऊ और पूना जैसे अन्य आर्थिक केन्द्रों का विकास हुआ। सी. ए. बेली का मानना है कि मुगल परम्पराओं में एक इजारेदारी भी थी जो बढ़ते हुए कृषि के वाणिज्यीकरण (commercialisation) के कारण उत्पन्न हुई। यह प्रणाली नये क्षेत्रीय भू-सम्पतिवान वर्गों के विकास पर टिकी हुई थी और इसने कृषि-क्षेत्र के तहत मुद्रा-प्रचलन को अत्यधिक बढ़ावा दिया। शहरों में केन्द्रित नये जमींदार वर्ग और बढ़ते मुद्रा-प्रचलन में

नोट

लेखा-जोखा रखने वाले व्यवसायिक सेवा देने वाले कुलीन वर्ग का विकास घनिष्ठ रूप से नये क्षेत्रीय राज्यों से जुड़ी हुई प्रक्रिया है। अतः मुगल साम्राज्य का पतन आर्थिक हास के बजाये इन नये वर्गों की समृद्धि का परिचायक है जो इन क्षेत्रीय राज्य-व्यवस्थाओं के प्रमुख सामाजिक आधार-शिला का काम करते हैं। अठारहवीं सदी में उमरा वर्ग या मनसबदारों की राजनैतिक सत्ता कमजोर पड़ने लगी। उमरा वर्ग को जागीरों के रूप में भूमि-कर प्रदान करने के व्यवस्था भंग होने लगी। स्थानीय 'निम्न' सामाजिक समूहों जैसे जाट, मराठा, सिख आदि ने विद्रोह करके जागीरों से प्राप्त लगान की राशि को कम कर दिया लेकिन इस प्रक्रिया ने स्थानीय भू-सम्पतिवान कुलीन वर्ग और जमींदारों की शक्ति को बढ़ावा दिया। मुगल प्रशासनिक व्यवस्था में भी इन वर्गों का इस्तेमान किया गया था और इन्हीं की मदद से राज्य का नौकरशाही ढाँचा कृषि अधिशेष (agricultural-surplus) किसानों से वसूल करता था। लेकिन मुगल प्रशासनिक ढाँचे के विघटन के बाद इस वर्ग ने अपनी स्थिति मजबूत करनी शुरू कर दी-बढ़ती हुई मुद्रा-प्रचलन की व्यवस्था में राजस्व-कृषक (revenue-farmers) जो प्रतिवर्ष निश्चित राशि अदा करने का वायदा करके उस क्षेत्र के किसानों से भू-राजस्व वसूल करने का अधिकार राज्य से हासिल कर लेते थे-इसी समृद्ध भू-सम्पतिवान (landed magnates) वर्ग से उभरे।

10.3 भारतीय ग्रामीण व्यवस्था और ग्राम-समुदाय

अंग्रेजी राज से पूर्व और अंग्रेजी राज के दौरान भी कृषि सबसे महत्त्वपूर्ण व्यवसाय था। इसलिए लम्बी अवधि के आर्थिक परिवर्तन समझने के लिए कृषि व्यवस्था और कृषकों की जीवन-दशा पर नजर डालना जरूरी है। इसके कोई सबूत नहीं हैं कि अठारहवीं सदी के राजनैतिक मानचित्र में बदलाव का कृषि पर कोई बुरा असर पड़ा होगा। इसका एक कारण मैसूर, मराठा और हैदराबाद जैसे शक्तिशाली राज्यों का विकास था तो दूसरा यह कि कृषि उत्पादन मुख्यतया किसानों और ग्रामीणों की जीवन-निर्वाह (Subsistance) की जरूरतों को ही पूरा करता था और बाहरी दुनिया में होने वाले आर्थिक-राजनैतिक परिवर्तनों से अछूता सा ही रहा।

कुछ विद्वानों ने जिनमें कार्ल मार्क्स जैसे क्रांतिकारी विचारक भी थे यह विचार दिया कि अंग्रेजी राज से पूर्व भारत एक पूर्णतया स्वायत और स्वावलम्बी ग्रामीण समुदायों का समूह मात्र था। गाँव का कृषि-उत्पादन मुख्य रूप से जीवन-निर्वाह के लिये होता था, बाजार के लिये नहीं। इस प्रकार ग्राम-समुदाय का बाहरी दुनिया से लेन-देन नहीं के बराबर था। ग्रामीण-समुदाय अपनी जरूरत की ज्यादातर वस्तुओं का उत्पादन स्वयं करते थे। गाँव में लेन-देन वस्तु-विनिमय प्रणाली (Barter) के तहत होता था। कार्ल मार्क्स ने यह भी कहा-इस ग्राम-समुदाय में भूमि की नीजि सम्पत्ति की कोई धारणा नहीं थी अतः वर्ग-विभेद भी विकसित नहीं थे। भू-सम्पति के साझे की सम्पति होने से उन्होंने कहा कि ''भारतीय समाज का कोई इतिहास नहीं था। उनकी मान्यता थी कि जिसे हम भारत का इतिहास कहते हैं वह वास्तव में एक के बाद एक आने वाले आक्रमणकारियों का इतिहास रहा है जिन्होंने अपरिवर्तनशील ग्राम-समुदायों के उपर अपना साम्राज्य कायम किया। इस प्रकार की स्वावम्लम्बी और आत्मनिर्भर ग्राम-समुदाय की व्सवस्था को कार्ल मार्क्स ने उत्पादन की एशियाई पद्धति (Asiatic mode of Production) नाम दिया। इस स्वायत और पूर्णतया आत्मनिर्भर ग्रामीण-समुदाय के अन्य लक्षण थे कि इसमें कृषि और घरेलू-उद्योग के बीच एक संतुलन और श्रम के विभाजन की बदलावरहित जजमानी व्यवस्था कायम थी। श्रम-विभाजन बहुत ही साधारण किस्म का था। जाति-प्रणाली सामाजिक

नोट

और व्यवसायिक संगठन का मुख्य आधार थी। संचार और यातायात के आधुनिक साधनों के अभाव में बाहरी जगत से इस आत्मनिर्भर और स्वायत ईकाई का कोई सम्बंध नहीं था। गाँवों की जरूरतें स्थानीय स्तर पर ही पूरी कर जी जाती थी। ये गाँव अपना खाधान्न और कृषि के लिए आवश्यक औजारों का निमार्ण भली-भाँती कर सकते थे और घरेलू काम के लिए जरूरी बर्तन आदि भी गाँव में ही बना लेते थे। आत्मनिर्भर होने के साथ राजनैतिक रूप से भी गाँव पूर्णतया स्वायत ईकाई के रूप में काम करते थे गाँव के पंचायत इनके झगड़े निपटा लेती थी और शासक वर्ग गाँव से भू-राजस्व ही प्राप्त करने का काम करता था। मार्क्सवादी इतिहास-लेखन से जुड़े विद्वानों ने जीवन निर्वाह पर आधारित कृषि और सीमित विनिमय की बातें स्वीकार करते हुए भी, आर्थिक इतिहास में सबूतों और तथ्यों पर आधारित परिवर्तन की दिशा देखते हुए, इस प्रकार की पूर्णतया इतिहास रहित, वर्ग-रहित, अपरिवर्तनशील सामाजिक-व्यवस्था के विचार को पूरी तरह छोड़ दिया है।''

वास्तव में चार्ल्स मेटकॉफ जैसे अंग्रेज प्रशासकों ने अपनी रोमांचकारी कल्पना से एक आदर्श ग्राम-समुदाय को पैदा किया और इसकी विशेषताओं को बचाये रखने की बात कही। 1830 में मेटकॉफ ने ग्राम-समुदाय को, जमींदारों या कृषकों को भूमिकर एकत्र करने का अधि कार ना देकर, यह अधिकार दिया जाने की हिमायत की। उन्होंने कहा:

''ग्राम-समुदाय एक प्रकार के छोटे गणतंत्र हैं, जिनके पास वह सब कुछ है जिसकी उन्हें जरूरत है या वे विदेशी सम्बंधों से पूर्णतया स्वतंत्र हैं। जहाँ कुछ नहीं कायम रहता, वह कायम रहते हैं। वंश के बाद वंश नष्ट हो जाते हैं, क्रांति के बाद दूसरी क्रांति आती है, बारी-बारी से हिन्दु, पठान, मुगल, मराठा, सिख और अंग्रेज मालिक बनते हैं, लेकिन ग्राम-समुदाय वैसा ही रहता है।''

बाद अंग्रेज मानव-शास्त्री हेनरी मेन ने भारतीय ग्राम-समुदाय की आत्म-निर्भर तस्वीर को अपनी विकासवादी स्कीम में इस्तेमाल किया और इसे समय और परिवर्तन के थपेड़ों से अप्रभावित पुरूष-प्रधान कबीलों और सामूहिक भू-सम्पति की व्यवस्था बताया। इसके माध्यम से वह वास्तव में भारतीय समाज को विकास की प्रक्रिया में एक पिछड़ी और जड़ता की सीढ़ी पर रखना चाहते थे। अंग्रेज अधिकारियों और प्रशासकों के ग्राम-समुदाय के बारे में प्रारंभिक विचार जजमानी व्यवस्था से प्रभावित थे। इसके अनुसार गाँव में निर्मित वस्तुओं और सेवाओं को प्रदान करने वाले कारीगरों को अन्न की एक निश्चित राशि इन वस्तुओं और सेवाओं के बदले दी जाती थी। यह वस्तु विनिमय प्रणाली (barter), एक आत्मनिर्भर गाँव-समुदाय, जिसका बाहरी दुनिया से लेन-देन नहीं के बराबर था, में ही सम्भव हो सकती थी। हालाकि इस प्रकार की वस्तु विनिमय प्रणाली गाँवों के एक समूह के बीच साप्ताहि मंडियों (स्थानीय) में भी काम करती थी। ब्रिटिश प्रशासकों और भारतीय राष्ट्रवादियों ने जजमानी व्यवस्था की ग्राम-समुदाय की मुख्य धुरी माना जो इस ईकाई को आत्मनिर्भर, अपरिवर्तनशील गैर-बाजारू और समानता पर टिकी व्यवस्था के रूप में पेश करते हैं। लेकिन यह पूरी तरह सच नहीं है। गाँवों में और स्थानीय स्तर पर गाँवों के समूहों के बीच भी बाजारू और मंडियों पर आधारित लेन-देन के रिश्ते मौजूद थे। इसी प्रकार जाति-विन्यास पर आधारित श्रम-विभाजन में खेतिहर मजदूरों और 'उच्च' भू-सम्पति के अधिकार रखने वाले कृषकों के बीच के सामाजिक रिश्ते असमानता पर टिक हुए थे।

10.3.1 कृषि और ग्रामीण अर्थव्यवस्था

नोट

ब्रिटिश राज पूर्व भारतीय अर्थव्यवस्था मुख्यतया कृषि पर टिकी थी। उन दिनों मनुष्य और कृषि योग्य भूमि का अनुपात भी इस प्रकार से था कि भूमि प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थी। जोत का आकार मिट्टी, इसके उपजाऊपन और जलवायु पर निर्भर करती थी लेकिन साथ ही साथ यह किसान परिवार के पास उपलब्ध पूँजी और श्रम की मात्रा पर भी निर्भर करता था कि किसान कितनी बड़ी जोत का स्वामी है। जोतों का आकार आमतौर पर बड़ा ही होता था क्योंकि कृषि-योग्य भूमि आसानी से काफी मात्रा में उपलब्ध थी। कृषि-उत्पादन की एक अन्य विशेषता थी कि इसमें काफी विविधता थी और बीज-और उपज का अनुपात (Seed-yield ratio) भी काफी अनुकूल था। इसके अलावा किसान-परिवारों को सामूहिक सम्पति के साधनों (Common Property resources) में भी परम्परागत चरागाह अधिकार हासिल थे विशेषकर चारागाह और जंगली भूमियों में उसे अधिकार प्राप्त थे जो उसकी आजीविका के पूरक स्रोत के रूप में काम आते थे। इसके अलावा हिन्दुस्तान एक उष्न जलवायु वाला देश होने की वजह से किसान परिवार की जीवन-निर्वाह कि जरूरतें भी काफी कम थी जिसका मतलब था कि जीवन-निर्वाह के अतिरिक्त कृषि उत्पादन, जिसे कृषि अधिशेष (agricultural surplus) कहा जाता है, आसानी से और ज्यादा मात्रा में राज्य और उसके नुमाइंदों। को प्राप्त हो सकता था। इसके गैर-कृषि क्षेत्र में विकास की सम्भावनायें बन सकती थी।

कृषि-उत्पादन में खाद्यान्न प्रमुख स्थान रखते थे जिनमें गेहूँ, चावल, जौ, चना, ज्वार-बाजरा, अलसी और दालें मुख्य फसलें थी। गेहूँ अधिकतर गंगा-यमुना दोआब, पंजाब, मुल्तान, मालवा और कान्धार आदि में होता था। जौ पूर्वी भारत को छोड़कर अधिकांश क्षेत्रों में उगाया जाता था। चावल वर्षा की अधिकता वाले क्षेत्रों बंगाल, उड़ीसा और बिहार के अलावा कश्मीर, अवध और खनदेश आदि में भी पैदा किया जाता था। ज्वार और बाजरा जैसी मोटी फसलें कम वर्षा वाले शुष्क इलाकों में होती थी। जबकि दालें अधिकतर बिहार, इलाहाबाद, अवध, मालवा, मुल्तान आदि क्षेत्रों में काफी मात्रा में पैद की जा रही थी। रेशेदार फसलों में कपास, जूट, ऊन और सिल्क की पैदावार प्रमुख थी। मालवा, खानदेश और बराड़ कपास-उत्पाद उनके मुख्य केन्द्र थे। हालाकि अन्य क्षेत्रों में भी कपास की पैदावार होती थी और प्राय: हर गाँव में सूत कातने और बुनने का काम चलता था। ऊन का उत्पादन कश्मीर, हिमाचल और राजस्थान के पश्चिमी भागों में अधिकतर केन्द्रित था। रेशम का उत्पादन बंगाल, गुजरात और बनारस में काफी फैला हुआ था। कुछ महत्वपूर्ण फसलों का उत्पादन किसान वाणिज्य की दृष्टि से करते थे। इनमें नील का उत्पादन एक खास स्थान रखता था। मध्य भारत की अने जगहों के अलावा आगरा, लाहौर, मुल्तान, मालवा और अजमेर में भी इसका उत्पादन किया जा रहा था। बयान और सरखेज की नील को विशेष दर्जा हासिल था। गन्ना, पोस्त और तम्बाकू अन्य महत्त्वपूर्ण वाणिज्यी फसलें थी। पोस्त से ही अफीम निकाली जाती थी और इसका उत्पादन आगरा, अवध, इलाहाबाद, लाहौर, मुल्तान और मालवा आदि में दिया जाता था।

हिन्दुस्तान की कृषि मुख्यतया प्रकृति और मानसून पर निर्भर करती थी। सिंचाई-व्यवस्था इतनी सशक्त नहीं थी। इसमें परम्परागत तरीकों का इस्तेमाल काफी होता था। सिंचाई के लिए नदी, तालाब और कुओं का इस्तेमाल भी होता था। कहीं-कहीं नहरों द्वारा भी सिंचाई की जाती थी। कुओं से चरस या रहट के द्वारा पानी निकाल कर सिंचाई की जाती थी। खेतों में पशुओं के गोबर की खाद का प्रयोग किया जाता था। किसना अदल-बदल पर फसन बोने की विधि,

जो भूमि को उर्वरा शक्ति को बनाये रखने में मददगार वैज्ञानिक विधि थी, से भी परिचित थे। कई उपजाऊ इलाकों में किसान साल में एक से अधिक फसलें लेते थे। हालाकि खेती के तरीके और औजार आदि अति साधारण और परम्परागत थे। प्रकृति और मानसून पर टिकी होने की वजह से अकालों का प्रकोप बार-बार महसूस किया जाता रहा है। 18 वीं सदी में 1705-1708 (गुजरात का आकाल) 1709-1711 (मद्रास और बंगाल का आकाल), 1717-1718 (गुजरात का अकाल) 1722 (पश्चिमी भारत) 1731-1734 मद्रास और 1747 पश्चिमी भारत को प्रभावित करने वाला अकाल इस प्रकार की प्राकृतिक आपदा के मुख्य उदाहरण थे।

किसानों से कर वसूल कने में जागीर प्रथा का महत्त्वपूर्ण योगदान था। अठारहवीं सदी में मुगल साम्राज्य के पतन के साथ-साथ जागीरों के लिए उमरा वर्ग में होड़ बढ़ गई। जागीरदार अपनी जागीरों से राजस्व और लगान वसूल करने के लिए अपने एजेन्ट या गुमाश्ता रखते थे-इन्हें अमील और शिकदर जैसे नामों से जाना जाता था। कुछ जागीरदार जो अधिक साधन-सम्पन्न नहीं थे, इजारेदारी या एक प्रकार का भू-राजस्व और लगान को ठेके की प्रथा द्वारा वसूल करवाते थे। इजारेदार एक प्रकार के राजस्व-कृषक (revenue farmer) थे जो एक निश्चित राशि के बदले एक क्षेत्र में किसानों से राजस्व इकट्ठा करने का अधिकार हासिल कर लेते थे। इसका प्रचलन मुगल-काल में ही शुरू हो चुका था लेकिन स्थानीय भू-सम्पतिवान वर्ग ने इस प्रणाली को मुगल साम्राज्य के पतन के बाद उभरी क्षेत्रीय स्वायत राज्य-व्यवस्थाओं में खूब बढ़ावा दिया।

10.3.2 भू-राजस्व और कृषि अधिशेष की वसूली

मुगल शासक और इसके बाद में उभरी क्षेत्रीय राज्य-व्यवस्थाओं में भी शासक वर्ग मुख्य रूप से भू-राजस्व के रूप में कृषि-अधिशेष वसूल करता था। यह वह राशि या कृषि-उत्पाद की मात्रा थी जो किसान के जीवन-निर्वाह की लागत को निकाल कर शेष बचती थी। खालसा जमीनें सीधे बादशाह के दरबार और खर्चों को पूरा करने वाली जमीनें थी जबकि ज्यादातर जमीनों को जागीरों के रूप में शासक वर्ग के नुमाइन्दों के बीच वितरित किया जाता था। हालाकि भू-राजस्व जमीन पर वसूल किया गया लगान या किराया ना होकर फसलों पर लगाया गया एक प्रकार का कर ही था, जिसे राज्य द्वारा फसल के हिस्से के रूप में वसूल किया जाता था। इसकी वसूली का सबसे सरल और सीधा तरीका बटाई के नाम से जाना जाता था। सामान्य व्यवहार में एक क्षेत्र की फसलों का सर्वेक्षण करके कृषि-उत्पाद का अनुमान लगाकर भू-राजस्व निश्चित किया जाता था। इस निर्धारित भू-राजस्व को बाजार के भावों के हिसाब से या पहले से तय दरों के हिसाब से मुद्रा में दर्शाया जा सकता था। इस प्रणाली को **कानकूत** के नाम से जाना जाता था। भू-राजस्व एकत्र करने की सबसे विकसित विधि जब्त के नाम से जानी जाती थी और इसमें भूमि-कर को प्रतिबीधा के रूप में दर्शाया जाता था और यह दर मुद्रा के रूप में अंकित की जाती थी। इस व्यवस्था में किसान और राज्य के बीच ताकतवर बिचौलियों का आगमन हो चुका था। **मौरलैण्ड** ने इन मध्यस्थों को पाँच वर्गों में बाँटा हैं: सरदार, नुमाइन्दें, सुपुर्ददार, माफीदार और रजस्व कृषक। राजस्व कृषकों का वर्णन हम पहले ही कर चुके हैं। सरदार साह पारणतया पराजित हिन्दु देशी राजा थे जिन पर भू-राजस्व इकट्ठा करने की जिम्मेदारी बनाये रखी जाती थी और जो एक निश्चित राशि राज्य को देते थे। नुमाइन्दे गाँव क चौधरी, मुखिया और मुक्कदम आदि थे जो गाँव के किसानों की

नोट

ओर से सरकार को भू-राजस्व की निश्चित राशि का भुगतान करने की जिम्मेदारी ले लेते थे। सुपुर्ददार राज्य के वे सैनिक और गैर-सैनिक अधिकारी होते थे जिन्हें नकद वेतन देने की बजाय कुछ क्षेत्रों से भू-राजस्व इकट्ठा करने का अधिकार दे दिया जाता था। इन मध्यस्थों को कुछ गैर-आर्थिक दबाव और बल-प्रयोग और किसानों को दण्ड देने के अधिकार भी दिये जाते थे ताकि वे अपना भू-राजस्व की वसूल का काम ठीक तरह कर सकें। माफीदार वे मध्यस्थ थे जिन्हें किसी खास राज्य की सेवा या योग्यता के बदले किसी विशेष क्षेत्र से लगान वसूल करने का अधिकार प्राप्त था। इस प्रकार के बिचौलियों और मध्यस्थों के होने का अर्थ था कि भू-राजस्व का बोझ सब किसानों पर एक जैसा नहीं था क्योंकि भू-राजस्व का आकलन भले ही व्यक्तिगत किसान के लिए किया जाता रहा हो, उसकी वसूली ग्राम-सुदाय के जरिये ही होती थी और उसमें स्थानीय प्रभावशाली और सम्पतिवान वर्ग अपने बोझ का हिस्सा भी गरीब किसानों पर डाल देते थे।

मुगलकालीन भारत में भू-राजस्व की दर लगभग कृषि-उत्पाद का आधा हिस्सा थी। मराठा शासन में और दक्षिण के क्षेत्रों में यह दर सिंचित भूमि के लिए मोटे तौर पर फसल का 50% और शुष्क इलाकों में फसल का 1/3 वां हिस्सा बताया गया है। हॉलाकि पूर्व-औपनिवेशिक राजस्व-व्यवस्था की एक खास बात यह भी थी कि वास्तव में वसूल किया जाने वाला भू-राजस्व दर्शाये गये राजस्व से कम ही रहता था और प्राकृतिक आपदाओं आदि के समय राज्य को छूट देनी पड़ती थी। चूंकी शासक वर्ग किसान वर्ग के मात्र जीवन यापन के योग्य हिस्सा छोड़कर अधिकांश कृष्झि-उत्पाद को भू-राजस्व के रूप में वसूल कर लेता था इसलिए यह उपभोक्ता वस्तुओं की माँग को संकुचित बना देता था। इसका एक नतीजा यह भी था कि ग्रामीण उद्योग सरल स्थानीय औजारों द्वारा लोगों की जरूरतें ही पूरी करते थे।

10.3.3 कृषि सम्बंध

अठारहवीं सदी में ग्रामीण वर्ग-संरचना भू-सम्पति के अधिकारों के अनुसार वर्गीकृत की जा सकती है। सामन्यतया भूमि-अधि प्रकार का राजनैतिक सत्ता, अकाल सहने की क्षमता और जाति--विन्यास से गहरा रिश्ता जान पड़ता है। अंग्रेजों के आने से पहले भूमि-अधिकारों को समझने का एक कारगर तरीका भू-राजस्व इकट्ठा करने के अधिकार और सम्पति के अधि कारों को अलग-अलग देखने का हो सकता है। राज्य से जुड़े अधिकार मुख्यतया पहली किस्म के थे। ब्रिटिश पूर्व राज्य व्यवस्थाओं में भू-राजस्व इकट्ठा करने क लिए पट्टे और उप-पट्टे पर देने की एक बड़ी पिरामिड जैसी संरचना काम करती थी। कई क्षेत्रों में भू-राजस्व इकट्ठा करने का अधिकार सबसे ज्यादा वसूली का वायदा करने वाले लोगों को दिया जाता था। यह प्रणाली नये विजित प्रदेशों में या कमजोर पड़ती शासन-सत्ता द्वारा इस्तेमाल की गयी। दूसरे भू-राजस्व इक्ट्ठा करने के अधिकार हस्तान्तरणीय नहीं थे लेकिन केन्द्रीय सत्ता की बढ़ती कमजोरी में यह अधिकार धीरे-धीरे आनुवांशीक होते चले गये। अवध और बंगाल के जमींदार और ताल्लुकदार इस प्रकार के अधिकारों के वंशानुगत हो जाने के मुख्य उदाहरण थे। अठारहवीं सदी में स्थानीय भू-सम्पतिवान वर्गों से एक फलते-फूलते भू-राजस्व कृषक वर्ग का विकास और विस्तार लगातार हुआ। लगान और भूमि-कर का निर्धारण और उसको जमींदारों द्वारा वसूल किये जाने से जागीरदारों को अपनी जागीरों से लगान वसूल करने में आसानी हो गयी होगी। लेकिन साथ ही इस वर्ग के प्रतिरोध की क्षमता भी बढ़ गई क्योंकि अठारहवीं सदी में जोर तलब जमींदारों की संख्या और शक्ति बढ़ती नजर आती है। ये वे जमींदार थे जो वसूल

नोट

किये गये भू-राजस्व और लगान पर अपना अधिकर समझते थे और उसे जागीरदार को नहीं देना चाहते थे। जमींदारों के भू-सम्पति अधिकार प्रायः जाति और वंशीय अधिकारों के स्वरूप पर भी निर्भर करते थे। दक्षिण भारत में ब्राह्मण वर्ग की स्थिति सम्पन्न जमींदारों जैसी ही थी। मैसूर के पोलीगरों की स्थिति अर्ध-स्वतंत्र सामंती वर्ग जैसी थी।

किसान या रैयत को दो भागों में बाँट कर देखा जा सकता है : खुदकाश्त और पाहीकाश्त। खुदकाश्त के स्थानीय रैयत थे जो स्वयं या अपने परिवार की मदद से भूमि जोतते थे और जिन्हें आनुवांशिक भूमि-अधिकार प्राप्त थे। ये स्वयं भूमि के स्वामी थे और रियायती दरों पर लगान देते थे। कृषकों का दूसरा वर्ग पाही काश्त का था जिसे महाराष्ट्र में उपारी के नाम से भी जाना जाता था। ये एक प्रकार से उस गाँव की जमीन जोतते थे जहाँ वे खुद नहीं रहते थे। इनके पास अपने बैल और हल होते थे और समह जमींदारों की जमीनों पर लगान के बदले भमि जोतने और बंजर भूमि को खेती-योग्य बनाने में इस वर्ग की अहम भूमिका थी। इन्हें खुदकाश्त जैसे भूमि में आनुवांशिक अधिकार प्राप्त नहीं थे रैयत और किसानों के नीचे खेतिहर मजदूरों की जातियाँ भी थी जिन्हें जाति-व्यवस्था की वजह से भू-सम्पति के उच्च अधिकार प्राप्त नहीं थे। आधुनिक नजरिये में सम्पति के अधिकार का अर्थ होता है-एक इस प्रकार का आनुवंशिक अधिकार जो अपनी सम्पति या भूमि को बेचने, हस्तांतरण करने, गिरवी और गहन रखने का अधिकार प्रदान करे। अंग्रेज राज से पहले भारत में इस प्रकार से परिभाषित भू-सम्पति के अधिकार 'उच्च स्तरीय' भू-सम्पति अधिकार प्रापत वर्गों को भी प्राप्त नहीं थे। भू-सम्पति अधिकारों पर स्थानीय प्रथाओं का कड़ा अंकुश था।

10.4 शहरी अर्थव्यवस्था के कुछ पहलू

हाँलाकि उपनिवेशवाद की स्थापना से पहले भारतीय अर्थव्यवस्था कृषि और गाँवों पर टिकी हुई थी लेकिन शहरों और कस्बों में भी अर्थव्यवस्था को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। कृषि से प्राप्त अधिशेष (Surplus) का इस्तेमाल शासक वर्ग जिस प्रकार करता था उससे शहरी अर्थव्यवस्था और मुद्रा पर आधारित आर्थिक क्रियाकलापों का विस्तार हुआ। धार्मिक और राजदरबार की गतिविधियों से जुड़े शहरों के साथ-साथ अंग्रेजी राज से पूर्व भारत में अनेक व्यापारिक शहरी केन्द्र और उत्पादन केन्द्रों का भी तेजी से विकास और विस्तार देखने को मिलता है। जहाँ दिल्ली, कन्नौज, पटना, लखनऊ, लाहौर, पूना, आगरा, बीजापुर और गोलकुण्डा जैसे राज-सत्ता से जुड़े मुख्य शहर थे वहीं मिर्जापुर, मुर्शिदाबाद, कानपुर, अहमदाबाद और सूरत व्यापार और व्यावसायिक गतिविधियों पर आधारित मुख्य शहर थे। अंग्रेजी राज से पहले के भारतीय शहरों की तुलना जनसंख्या और उत्पादन-व्यवस्था के आधार पर आसानी से यूरोप के समकालीन शहरों से की जा सकती थी। इन शहरों की एक खास बात यह भी थी कि इनका स्वरूप औद्योगिक था अर्थात ये कारीगरी उत्पादन के केन्द्र थे। कपड़ और शोरे जैसे औद्योगिक उत्पादनों का होना, लम्बी दूरी के व्यापार का विकास, बैंक और बीमा प्रणाली का उन्नत होना और व्यापारियों द्वारा अग्रिम पैसा या कच्चा माल आदि देकर ददनी व्यवस्था के तहत अनेक कारीगरों से उत्पादन करवाने की कोशिश इस प्रकार की शहरी-अर्थव्यवस्था के महत्त्वपूर्ण पहलू थे। हालांकि हम पूरे भारतवर्ष के बारे में कोई सामान्य धारणा नहीं बना सकते लेकिन बंगाल, गुजरात और कोरोमण्डल तट अपेक्षाकृत अत्यधिक विकसित क्षेत्र थे जहाँ पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के बीज जन्म ले रहे थे।

10.5 अंग्रेजी राज के आगमन के हिन्दुस्तान के मुख्य उद्योग

नोट

हिन्दुस्तान के उद्योगों में निश्चित रूप से पहला स्थान सूती कपड़े के उत्पादन का था। इसका उत्पादन देश के अने कोनों में हो रहा था। गैर-कृषि क्षेत्र में कपड़े की बुनाई से जुड़े कारीगरों की अहम भूमिका थी। हिन्दुस्तानी बुनकर अपने सरल औजारों और हथकरघों से महीन से महीन और मोटे से मोटा कपड़ा बुनने में माहिर थे। सूती कपड़ों की माँग देशी बाजारों में भी थी और दूर-दराज के विदेशी बाजारों में भी। ईस्ट इंडिया कम्पनी के दस्तावेजों में 150 से अधिक किस्त के सूती कपड़ों का जिक्र मिलता है जो भारतीय सूती वस्त्र उद्योग की विविध ता को दर्शाता है। इनमें दुत्ती, मलमल, दरियाबादी, कैलिको, खैराबादी, परकला, मुहरी आदि मुख्य किस्में थी। इनका उत्पादन गुजरात, बंगाल, बनारस, कोरोमण्डल तट आदि से बड़े पैमाने पर किया जा रहा था। प्रत्येक क्षेत्र अपनी-अपनी किस्म के लिए मशहूर था। इस उत्पादन में पहनने वाले कपड़ों के अलावा कालीन, चादर, गद्दे, रजाई से लेकर तम्बू के कपड़े का उत्पादन भी शामिल था। सूत कातने का काम कारीगरों के द्वारा स्वतंत्र रूप से एक व्यवसाय के रूप में भी किया जाता था और किसान परिवार द्वारा एक वैकल्पिक आजीविका के साधन के रूप में भी। भरूच, बालासौर और कासीमबाजार सूत कातने के मुख्य केन्द्र थे। ईस्ट इंडिया कम्पनी जब हिन्दुस्तान से वयापार करने लगी तो सूती-वस्त्रों के साथ-साथ निर्मित सूत का भी खूब निर्यात करती थी। शोध कार्य अब यह साबित कर रहे हैं कि बंगाल और कोरोमण्डल तट का सूती-वस्त्र उद्योग वास्तव में एक घरेलू ग्रामीण उद्योग था जिसका हाटों और मंडियों के जरिये आगमन कासिमबाजार, मालदा, शांतिपुर, ढाका और मुर्शिदाबाद जैसे बड़े शहरों में होता था। अर्थात् यह विविधीकृत सूती कपड़े का उद्योग एक विकेन्द्रित व्यवसाय था और बड़े पैमाने पर स्त्रियाँ किसान परिवारों में इस काम को करती थी। उत्पादन की इस व्यवस्था से बड़े पैमाने पर ददनी का सहारा लिया जाता था जिसमें व्यापरी या उसके नुमाइन्हें जैसे दलाल, गुमस्था, पायकर आदि कारीगरों और किसानों को पैसे की अग्रिम राशि देकर उत्पादन करवाते थे। इस प्रकार के उत्पादित माल को पतन या पत्नी के नाम से जाना जाता था जबकि अगर कारीगर स्वयं कपड़ा बुनता था और व्यापारी बाद में अगर पैसा देकर उसके माल को खरीदता था तो उसे खुश-खरीद के नाम से जाना जाता था। यूरोप से अलग इस पद्धति की खासियत यह थी ददनी में व्यापारी यूरोपीय व्यापारियों की तरह कारीगर को कच्चा माल उपलब्ध नहीं कराता था।

सूती कपडे के साथ-साथ रेशम और रेशम कपड़े का उत्पादन भी एक बड़ा व्यवसाय था सत्तरहवीं सदी के मध्य से बंगाल के रेशम का निर्यात बढ़ रहा था। रेशम का उत्पादन कासिम बाजार, ढाका और हुगली के क्षेत्र में केन्द्रित था। कपड़े के उत्पादन की तरह रेशम का उत्पादन भी कई चरणों में किया जाता था-शहतूत की खेती, रेशम के कोए बनाना, धागा कातना और कपड़े की बुनाई। बंगाल के अलावा कश्मरी, आगरा, लाहौर और गुजरात में भी रेशमी कपड़े क बुनकर कार्यरत थे। बनारस और अहमदाबाद सूती कपड़े पर रेशम से कढ़ाई करने वाले प्रमुख शहर थे। कपड़े के निर्माण से जुड़े कई स्वतंत्र व्यववाय जैसे विरंजन, कपड़े रंगने और छपाई करनेवाले व्यवसाय भी उभरकर आ रहे थे। ऊनी कपड़ा उष्ण जलवायु वाले क्षेत्रों में अधिक महत्त्व नहीं रखता था, लेकिन कश्मीर में ऊनी शालों के उत्पादन का विशेष महत्त्व था। बाद में ऊनी वस्त्रों के बुनकर पंजाब के शहरों विशेष कर लुधियाना और अमृतसर में भी आकर बस गये।

नोट

औद्योगित उत्पादन के क्षेत्र में भी अनेक वस्तुएँ कृषि से जुड़ी हुई थी। नील का प्रयोग कपड़े रंगने के लिए किया जाता था और नील की खेती आगरा और बयाना के अलावा गुजरात में सरखेज, कोरोमण्डल तट, खानदेश आदि में की जाती थी। नील से रंजन-सामग्री प्राप्त करना इन क्षेत्रों में एक व्यवसाय था। चीनी उद्योग और तेल का उत्पादन भी कृषि-आश्रित उद्योग थे। चीनी का उत्पादन गंगा की सम्पूर्ण घाटी के अलावा बंगाल में भी होता था। अहमदाबाद और लाहौर में मिश्री का उत्पादन होता था। सोलहवीं सदी के पुर्तगाली यात्री बारवोसा ने बंगाल में चीनी के उत्पादन का जिक्र किया है। यह चीनी दानेदार चीनी नहीं थी फिर भी साफ-सुथरी सफेद चनी का व्यापकं उत्पादन गुड़ आदि के साथ-साथ भारत में बड़े पैमाने पर हो रहा था। तिलहनों से तेल उत्पादन भी अंग्रेजों के आने से पहले का एक महत्त्वपूर्ण व्यवसाय था और इसका प्रमाण हमें देशी शासकों द्वारा इस व्यवसाय पर लगाये गये कर का उल्लेख कई शिला-लेखों में मिलने से मिलता है।

धातु-उद्योग के बारे में आम धारणाओं में अनेक भ्राँतिया है। यह भ्रांति सोने-चाँदी क उत्पादन को लेकर है। सोने और चाँदी का भारत में उत्पादन नगण्य था। मैसूर की खानों में अकबरन के बाद से उत्पादन बंद था। इसलिए भारत में मुद्रा प्रणाली को ठीक ढंग से चलाने के लिए विदेश व्यापार के माध्यम से स्वर्ण-धातुओं की जरूरत पड़ती थी और इसी वजह से भारतीय शासकों ने यूरोपीय व्यापारियों की गतिविधियों को बढ़ावा दिया। ये यूरोपीय व्यापारी भारत से निर्यातित माल के बदले उसका भुगतान सोने-चाँदी के रूप में करते थे। सोने-चाँदी के इस अंतर्गमन ने भारत की मुद्रा-प्रणाली को सुदृढ़ किया और इससे अर्थव्यवस्था में मुद्रा का प्रचलन तेजी से बढ़ा। इसी प्रकार हालांकि भारत लोहे के गलाने-पिघलाने की विधियों से परिचित था लेकिन लौह-उत्पादन बहुत सीमित था। इसकी एक कमजोरी यह थी कि भारत में लौह-अयस्क भूमि की ऊपरी सतह से ही प्राप्त किया जाता था और गहरी खुदाई के द्वारा खानों से जिस प्रकार यूरोप में लोहा और अन्य धातुयें प्राप्त की जा रही थी-उस प्रकार की विधियों का विकास नहीं हो पाया। इसके बावजूद लोहा, तांबा, पीतल और जस्ता स्थानीय जरूरतों के अनुरूप प्रात्प कर लिये जाते थे। बनारस, नासिक, पूना, हैदराबाद, तैजूर और विशाखापटनम् ताँबा और पीतल के बर्तन बनाने के महत्वपूर्ण केन्द्र थे। ताँबे के सिक्कों का भी व्यापक इस्तेमाल भारत में हो रहा था। दश्मिक, बनारस, लाहौर, सियालकोट और मुल्तान आदि में तलवारों का उत्पादन होता था।

अंग्रेजी राज के पहले भारत में जहाज-निर्माण उद्योग भी विदेश व्यापार के साथ-साथ विकसित हो रहा था। इस उद्योग के मुख्य केन्द्र थे सूरत, मछलीपटम, पुलीकट, भरोंच, चटगाँव आदि थे। हालाकि जिस प्रकार के व्यापक तकनीकी, परिवर्तन हम सोलहवीं-सत्तरहवीं सदी में यूरोपीय जहाजों में देखते हैं उस प्रकार के तकनीकी विकास में भारत अछता सा रहा। यहाँ तक कि भारत में लौहे के पेंचो (Screws) तक का अभाव था। शोरा-उद्योग (saltpetre) एक अन्य महत्त्वपूर्ण औद्योगिक उत्पाद था जिसे बारूद बनाने में प्रयोग किया जाता था और इसके उत्पादन के केन्द्र गुजरात, बिहार, हैदराबाद, मैसूर आदि के अनेक कस्बों और शहरों में किया जाता था। यह ऐसा औद्योगिक उत्पाद था जिसकी यूरोपीय व्यापारियों के निर्यात के कारण माँग तेजी से बढी क्योंकि कृत्रिम विस्फोटक सामग्री जैसी टी.एन.टी के अविष्कार से पहले यूरोपीय मंडियों में भी इसकी काफी माँग थी।

10.6 उद्योगों का संगठन और स्वरूप

नोट

अंग्रेजी राज से पहले भारतीय उद्योगों का स्वरूप और ढाँचा बाजार की संरचना के साथ सामाजिक व्यवस्था से भी प्रभवित होता था। उत्पादन मुख्य रूप से दो तरह का था-एक स्थानीय उपभोग की वस्तुओं का और दूसरा दूर-दराज की मंडियों के लिये। चूंकि स्थानीय उपभोग के लिए उत्पादन करने वाले उद्योग स्थानीय कच्चे माल की आपूर्ति पर निर्भर करते थे इसलिये इनके उत्पादन करने वाले उद्योग स्थानीय कच्चे माल की आपूर्ति पर निर्भर करते थे इसलिये इनके उत्पादन में स्थानीयकरण के लक्षण नजर आते हैं। इसके विपरीत विदेश-व्यापार के उत्पादन करने वाले उद्योग कच्चा माल दूसरे क्षेत्रों से भी प्राप्त कर सकते थे। पहले किस्म का उत्पादन पिछड़े किस्म के आर्थिक संगठन, सरल औजार एवं तकनीकी पर आधारित था और श्रम के विभाजन से पूरी तरह रहित था, जबकि बड़े व्यावसायिक केन्द्रों के उत्पादन में कुछ श्रम के विभाजन के लक्षण नजर आते हैं। ज्यादातर लोग अपनी जाति के अनुसार व्यवसाय चुनते थे और विभिन्न दस्तकारी उद्योगों के जाति के आधार पर संघ बने हुए थे। यूरोप की तरह ही भारत में इन उद्योगों में घरेलू उत्पादन पद्धति शुरू हो गई थी। ददनी की जानी इस प्रणाली में व्यापारी दस्तकारों को रकम देते थे और अपने गुमाश्तों के माध्यम से इनके काम की निगरानी करते थे। इसके बाद इन दस्तकारों को निर्धारित मूल्य पर इन व्यापारियों के लिए उत्पादन करना पड़ता था। लेकिन बड़ी तादाद स्वतंत्र रूप से काम करने वाले दस्तकारों की ही थी। सत्तरहवीं सदी के उत्तरार्ध में ददनी तेजी से फैलने लगी। यह पेशगीद देने की प्रणाली कई कारणों से फैल रही थी। यूरोपीय व्यापारियों की भारतीय उद्योगों के माल की माँग विशेषकर सूती कपड़ों और शोरे की-विशेषकर लगातार बढ़ रही थी। दस्तकारों और कारीगरों में उतना उत्पादन बढ़ाने के लिए पूँजी और क्षमता का अभाव था। उत्पादन बढ़ाने के लिये वे अग्रिम राशि हासिल करके ही कच्चा माल आदि खरीद सकते थे। इस व्यवस्था में कारीगर व्यापारियों पर वहाँ अधिक निर्भर करते थे जहाँ कच्चा माल या तो महंगा था या बहुत दूर से मगाया जाता था जैसे कि गुजरात के रेशमी कपड़े के कारीगर और बुनकर कच्चा रेशम बंगाल से प्राप्त करते थे। भारतीय उद्योग तकनीकी दृष्टि से भी पिछड़े हुये थे। वे केवल श्रम की कुशलता पर निर्भर करते थे और यूरोप या चीन जैसे देशों में जल या पवन शक्ति के इस्तेमाल करने वाले तरीकों से अनभिज्ञ थे। श्रम बचाने वाले साधनों (Labour-saving devices) के विकसित करने में वे रूचि नहीं दिखा रहे थे।

10.7 व्यापारिक गतिविधियाँ और यूरोपीय व्यापार के आर्थिक प्रभाव

अंग्रेजी राज के आने से पहले भारत औद्योगित वस्तुओं का बड़ा उत्पादक देश था। यूरोपीय व्यापारी भारत से कपड़े, रेशमी कपड़े, नील, गर्म मसाले विशेषकर काली मिर्च, शोरा आदि निर्यात करके ले जाते थे। भारत से सूती कपड़ों का निर्यात जावा, सुमात्रा, मलाया, बोर्निया आदि के अलावा यूरोप में भी किया जाता था। सूरत, बनारस, बंगाल और अहमदाबाद के रेशम और रेशमी कपड़ों की माँग बर्मा और मलाया में थी। लाख का निर्यात फारस को किया जाता था। भारतीय चीनी फारस, काबुल और फ्रांस तक जाती थी। इसके विपरीत भारत के आयात की संरचना में सोना-चाँदी, ताँब, सीसा, चीनी मिट्टी के बर्तन, कागज, घोड़े और सूखे मेवे आदि मुख्यतया शामिल थे। यूरोप के साथ पूर्वी देशों और चीन, फारस, अरब, मिश्र आदि के साथ भी व्यापारिक सम्बध कायम थे। मध्य एशिया विशेषकर तुर्किस्तान भारतीय

शासकों के सेना के लिए घोड़े प्राप्त करने का महत्त्वपूर्ण स्रोत था। यूरोप के साथ व्यापार के लिए फारस की खाड़ी होकर जाने वाले मार्ग का प्रयोग यिा जा रहा था। पुर्तगाली व्यापारिक गतिविधि याँ और व्यापारिक एकाधिकार स्थापित होने से पहले इस व्यापारिक मार्ग पर अरब व्यापारियों का वर्चस्व कायम था। पुर्तगाली व्यापारिक साम्राज्य ने इस वर्चस्व को खत्म कर दिया। भारत से होने वाले निर्यात का मूल्य आयात किये जाने वाले सामान के कुल मूल्य से अधिक ही रहते थे। अर्थात व्यापार का संतुलन हमेशा भारत के पक्ष में ही रहता था। यही कारण था कि भारत अपने निर्यात किये माल के बदले दनिय के विभिन्न क्षेत्रों में सोना और चाँदी प्राप्त कर रहा था । धन के इस अंतर्गमन का भारतीय मुद्रा-प्रणाली और वित्तिय व्यवस्था के लिए विशेष योगदान था।

यूरोपीय व्यापारीय भारत में पन्द्रहवीं सदी के अंत और सोलहवीं सदी के प्रारंभ में आने शुरू हुए थे। वास्को डी गामा के मई 1498 में कालीकट में कदम रखने के साथ ही यूरोपीय-एशियाई व्यापार का एक नया अध्याय शुरू होता है। प्रारंभ में पुर्तगाली व्यापारियों ने भारत और यूरोप के बीच चल रही व्यापारिक गतिविधियों पर अपना शिकंजा जमाया क्योंकि उन्होंने ही आशा अंतरीप होकर आने वाले समुद्री मार्ग की खोज की थी। चूँकि पुर्तगाल में एक शक्तिशाली व्यापारिक वर्ग का अभाव था इसलिए इस समुद्री व्यापारिक साम्राज्य की स्थापना में पुर्तगाल के सम्राट ने पहल की और समुद्र पार व्यापारिक गतिविधियों को राजनैतिक और वित्तिय मदद उपलब्ध कराई। लेकिन जल्द ही सोलहवीं सदी के अंत तक डच और अंग्रेजी व्यापारिक कम्पनियों ने भारत में पुर्तगाली आधिपत्य को चुनौती देना शुरू कर दिया। जल्द ही फ्रांसीसी ईस्ट इंडिया कम्पनी भी इस होड़ में शामिल हो गई। हालांकि इन बड़ी-बड़ी व्यापारिक कम्पनियों के द्वारा यूरोप और एशिया के मध्य के व्यापार को अपने कब्जे में ले लिया गया था लेकिन कुछ निजी व्यापारी भी इस व्यापार में हिस्सेदार थे। भारत में ब्रिटिश सत्ता की स्थापना से पहले ये व्यापारिक साम्राज्य उनके द्वारा व्यापार पर एकाधिकार स्थापित करने की कोशिश में लगे थे और इनका वर्चस्व इनके नौसैनिक सर्वोच्चता के कारण कायम था। हालाकि ये व्यापारिक साम्राज्य केवल बन्दरगाह-शहरों तक ही सीमित थे। इनके वित्तीय और मानवीय साधन देशी शासकों के भौगोलिक साम्राज्यों को नष्ट करने में सक्षम नहीं थे इसीलिए उन्होंने मौजूदा देशी व्यापारियों के माल प्राप्त करने और आंतरिक व्यापार के जाल का सहारा लिया। अपने इस व्यापार में ये भारतीय निर्यात की गई वस्तुओं के बदले यूरोप से मुख्यतया स्वर्ण-धातुओं को लेकर आते थे। इस प्रकार यह विदेशी व्यापार भारत में आर्थिक विकास की महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहा था और यही वजह थी भारतीय देशी शासक इन यूरोपीय कम्पनियों की गतिविधियों को सहन कर रहे थे। हालाकि कई बार व्यापार और मंडियों के नियंत्रण के सवाल को लेकर झगड़े भी हो जाते थे लेकिन सामान्यतया हथियारबंध संघर्ष को टाला गया।

भारत के पूर्वी और पश्चिमी तट पर अनेक बंदरगाह-शहरों का विकास यूरोपीय कम्पनियों की गतिविधियों का ही नतीजा था। पहले बंदरगाह समुद्र पार व्यापारिक गतिविधियों और स्थल भीतरी प्रदेश की बीच सम्बंध स्थापित करने वाले केन्द्र थे लेकिन अब ये युरोपिय शक्तियों और प्रशासन की सत्ता के केन्द्र-बिन्दु बन कर उभरे। शत्रु-भूमि में काम कर रहे इन्हें सुरक्षा का डर भी सताता था इसलिये यूरोपीय कम्पनियों ने तत्काल इनके किलेबंदी की कोशिश की। इस प्रकार की किलेबंदी ने ही बाद में भौगोलिक साम्राज्य (territorial empire) स्थापित करने का दरवाजा खोल दिया। छोटे से यूरोपीय समुदाय का इन बंदरगाह शहरों के समाज और ढाँचे पर कोई क्रांतिकारी प्रभाव नहीं पड़ा और यूरोपीय व्यापारी उत्पादन और वस्तुओं के संग्रहण

नोट

(Procurement) के मौजुदा तौर तरीकों का ही इस्तेमाल करते रहे। इन्हें निर्यात के लिए जिन वस्तुओं की अहम जरूरत थी, वे उसे भारतीय सहायकों की मदद से ही प्राप्त कर सकते थे। इन कम्पनियों के द्वारा लाये गये सोने-चाँदी से भारत में मुद्रा का प्रचलन काफी बढ़ गया। मुद्रा के बढ़ते प्रचलन की जानकारी हमें तथ्य से भी हासिल होती है कि मुगल साम्राज्य के पतन के बाद उभरी लगभग सभी राज्य व्यवस्थाओं ने भू-राजस्व का आकलन मुद्रा के रूप में करना शुरू कर दिया जिसने और अधिक बाजारू विनिमय और व्यापार को बढ़ाया। इसने भारत में जगत सेठ जैसे बैंकिय घरानों को उभरने में भी मदद की।

व्यापार में बैंकिय व्यवस्था के माध्यम से, भुगतान के विभिन्न साधनों का महत्त्वपूर्ण और सीधा रिश्ता था। यह व्यवस्था मुगल-काल से ही भारत में विकसित हो चुकी थी। मंडियों में इंडियों (एक प्रकार के वाणिज्य या विनिमय पत्र) (bills of exchange) का प्रचलन ही नहीं बढ़ा रहा था बल्कि बीमा-व्यवस्था भी संगठित रूप धारण कर चुकी थी। बंगाल, गुजरात, दक्षिण भारत और बनारस जैसे क्षेत्रों में सराफ, साहूकार और बैंकरों की भूमिका बढ़ रही थी। ये निश्चित दर पर रुपये, पगोदा आदि की अदल-बदल करते थे। विदेशी व्यापारिक कम्पनियाँ भी कमीशन देकर इससे अपनी युरोपीय मुद्रा का भारतीय मुद्रा में अदल-बदल करवाती थी। इनकी गतिविधियों ने आंतरिक व्यापार को भी प्रोत्साहन दिया। इसके साथ-साथ इस वर्ग ने किसानों और राज्य की बीच व्यापारी और साहूकार-सूदखोरों की एक जमात पैदा करने में मदद की। इस स्थिति में कृषि क्षेत्र का प्रशासनिक केन्द्रों के साथ आर्थिक सम्बंध जुड़ता गया और इस कड़ी पर विबिाय व्यापारियों का नियंत्रण भी बढ़ता चला गया। अनेक उदाहरण हैं जिनमें भू-राजस्व और लगान का भुगतान साहूकार-महाजनों के द्वारा इंडियों के माध्यम से किया जा रहा था। आंद्रे विंक की मान्यता है कि मराठा राज्य में 1/4 वां राजस्व का भाग नकद प्राप्त किया जाता था जो हवाला (हुंडी जैसे साधन) के रूप में पूना के साहूकारों द्वारा अदा किया जाता था। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि विदेशी व्यापार के उत्पादन-व्यवस्था और कृषि पर भी दूरगामी प्रभाव पड़ रहे थे।

भारत के अनेक क्षेत्रों में एक समृद्ध वित्त देने वाला वर्ग (financier class) उभरकर सामने आ रहा था। बंगाल के जगत सेठ, गुजरात के नथजी और दक्षिण के चेटिट्यों का मुद्रा बाजारों, व्यापार और प्रशासन पर काफी ताकतवर प्रभाव था। ये सोने-चाँदी से मुद्रा और सिक्के बनाने से लेकर रुपये-पैसे की अदला-बदली के काम के अलावा शासकों और यूरोपीय कम्पनियों को पैसा उधार देने का काम भी कर रहे थे। ऐसा उल्लेख है कि 1757 में बंगाल के जगत सेठों ने नवाब के लिए सिक्के (रुपये) ढालने में ही साढ़े तीन लाख रुपये कमीशन के रूप में प्राप्त किये। जगत सेठ ही नवाब क सरकारी खजाने का प्रबंधन भी देख रहे थे। आयात-निर्यात व्यापार के अलावा वे बड़े पर नवाब और कम्पनियों को पैसा उधार देकर काफी भारी मुनाफे अर्जित कर रहे थे। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि अंग्रेजी राज से पहले की भारतीय आर्थिक परिस्थितियाँ जटिल थी और इनमें विविध ला थी और इनमें जड़क की बजाय गतिशीलता के लक्षण ज्यादा नजर आते है।

10.8 ब्रिटिश-पूर्व आर्थिक संगठन का विघटन

ब्रिटिश राज द्वारा शुरू किये गये आर्थिक-राजनैतिक बदलावों ने कुछ आर्थिक गतिविधियों पर बुरा असर छोड़ा तो कुछ क्षेत्रों में यह महत्त्वपूर्ण विकास का कारण भी बना। मुख्यतया वामपक्षी विद्वान और राष्ट्रीयवादी इतिहास लेखन ब्रिटिश राज के प्रभाव के बारे में दो बिन्दुओं

पर एक जैसा मत प्रस्तुत करते हैं। पहला यह है कि अर्थव्यवसथा के विनाशकारी प्रभाव विकासकारी प्रभावों की अपेक्षा ज्यादा क्रियाशील थे और दूसरा यह कि विनाशकारी और विकासशील दोनों पक्ष ब्रिटिश औपनिवेशिक नीतियों के परिणाम थे।

नोट

मोटे तौर पर इस प्रक्रिया को इस प्रकार दर्शाया गया है कि ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन ने मुद्रा के रूप में भूमि-कर या भू-राजस्व की माँग को बहुत ज्यादा बढ़ा दिया। इसका एक महत्त्वपूर्ण नतीजा यह हुआ कि किसान निर्वाक के लिए खाद्यानों की बजाय वाणिज्य फसलें पैदा करने को विवश हो गये। हालाकि नगदी फसलों का उत्पादन भी किसानों के लिए फायदे और मुनाफे का सौदा नहीं साबित हुआ और किसान व्यापक पैमाने पर ऋणग्रस्ता के शिकार बन गये। बहुत से किसान साहूकार-महाजनों को जमीनें बेचने को मजबूर हो गये और काश्तकार या मजदूर बन गये। महाजन-साहूकार किसानों के विपरित ऐसा वर्ग था जो जमीन से कमाये गये अपने मुनाफों को भूमि की उत्पादकता बढ़ाने के लिए इस्तेमाल नहीं करना चाहता था। ब्रिटिश राज की नीतियों के नतीजे के रूप में उभरा शक्तिशाली साहूकार-महाजनों का वर्ग एक प्रकार से कृषि की जड़ता का प्रतीक बन गया। दूसरी ओर बड़े पैमाने पर ब्रिटिश उद्योगों के माल के आयात किये जाने से भारत के परम्परागत शिल्प उद्योग पूरी तरह तबाह हो गये और इनमें काम करने वाले कारीगर भी मजदूर बन गये। इसने जनसंख्या की भूमि पर निर्भरता ख और अधिक बढ़ा दी। इससे भूमि का तेजी से विखण्डीकरण (fragmentation) हुआ और जातों का आकार छोटा होता चला गया। बहुत से किसान गैर-आर्थिक जोतों (non-economic holding) पर खेती कर रहे थे अर्थात् वे ऐसी जोतों पर खेती करने को मजबूर थे जो आर्थिक रूप से मुनाफे देने की बजाये उन्हें घाटा सहने पर विवश कर रही थी।

हालांकि कई आधुनिक मशीनी उद्योग-धंधे और आधारभूत ढाँचे के रूप में सार्वजनिक भवन निर्माण और रेलवे आदि भी अंग्रेजी राज के ही परिणाम थे जिसने कुछ हद तक परम्परागत ग्रामीण शिल्प उद्योगों के विनाश के नुकसान की पूर्ति की। लेकिन ये नये विकास भी भारतीय हितों की बजाय औपनिवेशिक स्वार्थो की पर्ति ज्यादा कर रहे थे। बड़े उद्योगों के क्षेत्र में भी ब्रिटिश राज ने भारतीय पूँजीपतियों पर गैर-बराबरी वाली प्रतियोगिता थोप दी। स्वयं अंग्रेजी सरकार ने भारत से इग्लैण्ड को एकतरफा धन और संसाधनों की निकासी में मदद दी। इस धन की निकासी (drain of wealth) में विदेशी पूँजी द्वारा अर्जित मुनाफों के साथ अनेक सरकारी खर्चे भी शामिल थे जैसे सरकार द्वारा निजी रेलवे कम्पनियों को दिये जाने वाले गारंटीशुदा ब्याज की रकम और अंग्रेज अधिकारियों के वेतन, पेंशन, भत्ते आदि। विदेशी पूँजी ने भारत में आय के सीमित साधनों का ही विकास किया और इसके द्वारा स्थापित उद्योग-धंधों का देशी अर्थव्यवस्था से कोई तालमेल नही था। इसी प्रकार अंग्रेजी धंधों के माल को देश के अंदर की मंडियों तक पहुँचाने और भारतीय संसाधनों की निकासी करने का ही था।

प्रारंभिक वामपक्षी इतिहास लेखन में विशेषकर ए.आर. देसाई और रजनी पाम दत्त ने ब्रिटिश राज से पहले की ग्रामीण अर्थव्यवस्था को एक पूर्णत: आत्मनिर्भर ग्रामीण समुदाय के रूप में चित्रित किया। ये किसानों और कारीगरों की जीवन-निर्वाह के लिए किये जाने वाले उत्पादन की अर्थव्यवस्था थी जिसमें ज्यादा खेतिहर मजदूर नहीं थे। उनके विचार में अंग्रेजी राज ने इस अर्थव्यवस्था को तबाह कर दिया। हालांकि अब विद्वान मानते हैं कि इस प्रकार की आत्मनिर्भर ग्रामीण समुदाय की व्यवस्था कल्पना मात्र थी और ग्रामीण अंचलों में भी काफी मात्रा में व्यापार और लेन-देन चलता था। पहले की अपेक्षा अब माना जाने लगा है कि अंग्रेजी-राज से पूर्व के आर्थिक संगठन में व्यापार, उद्योग और शहरीकरण के गतिशील

नोट

और सक्रिय पहलू अहम भूमिक रखते थे। उदाहरण के लिए अंग्रेजी राज से पहले यूरोप को भारतीय सूती कपड़ों का निर्यात तेजी से फैला। इस व्यापार ने भारत में लम्बी दूरी के खाद्यानों के व्यापार और कपास के व्यापार के दरवाजे खोल दिये। इस नये वामपक्षी-राष्ट्रीयवादी नजरिये से यह साबित करना और आसान है कि वास्तव में अंग्रेजी राज ने भारत के मौजूदा आर्थिक संगठन को तबाह किया क्योंकि यह तर्क दिया जा सकता है कि भारतीय आर्थिक ढांचा जड़ता का शिकार नहीं था बल्कि यह व्यापारिक और औद्योगिक क्रांति की लगभग दहलीज पर खड़ा था और उपनिवेशवाद और उसकी आर्थिक नीतियों ने भारत के स्वतंत्र आर्थिक विकास के रास्ते में रोड़े अटकाये।

इसके बारे में दो मत नहीं हो सकते कि कुछ क्षेत्रों में अठारहवीं सदी में आर्थिक जीवन का तेजी से वाणिज्यीकरण हुआ लेकिन यह कहना मुश्किल है कि अगर उपनिवेशवाद नहीं होता तो कितनी तेजी से आर्थिक विकास होता। पहले तो यह खाली अटकल-बाजी वाला सवाल है ऐतिहासिक वास्तविकता से दूर। दूसरा यह अंदाजा लगाना काफी कठिन है कि परम्परागत अर्थव्यवस्था के मुकाबले में वाणिज्य से प्रेरित अर्थव्यवस्था कितनी बड़ी और दमदार थी क्योंकि हमारे पास इस समय के लिए संख्यात्मक आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं। जहाँ तक उन्नीसवीं सदी का सवाल है तो अनुभवजन्य आँकड़े दर्शाते हैं कि विघटन की बजाय सकारात्मक आर्थिक विकास ज्यादा इलाकों में भी फैलता नजर आता है। अंतराष्ट्रीय व्यापार का विकास, ताकतवर राज्य और आधुनिक यातायात और संचार खासकर रेलवे का तेजी से विकास अंग्रेजी राज की भारत को मुख्य देन थी।

इसी प्रकार यह तर्क की अंग्रेजी राज के ग्रामीण असमानता को बढ़ावा दिया और रजनी पाम दत्त और एस.जे. पटेल का यह अनुमान कि अंग्रेजी राज के कारण ही किसान बड़े पैमाने पर भूमिहीन होकर खेतिहर मजदूर के रूप में तबदील हो गये-विवद के मुद्दे हैं। अंग्रेजी राज से पहले भी ग्रामीण भारत में परम्परा से भूमि और भू-स्वामी वर्गों से बंधे हुए काफी तादाद में खेतिहर मजदूर पाये जाते थे। अंग्रेजी राज का एक नतीजा इस वर्ग की परम्परागत-दासता से कुछ हद तक मुक्ति दिलाने का था। धर्मा कुमार ने दक्षिण भारत की ग्रामीण अर्थव्यवस्था के अपने अध्ययन में इस पहलू को उजागर किया है। इसी प्रकार इस बात पर भी विवाद है कि किसानों ने नकदी फसलों का उत्पादन भू-राजस्व और ऋणों के बोझ के दबाव में आकर विवश होकर करना पड़ा। यह लगता है कि अलग-अलग नकदी फसलों और इलाकों में नकदी फसलों के उत्पादन की बढ़ोतरी का बढ़ती उत्पादकता और किसानों द्वारा अजित मुनाफों में काफी गहरा अंतर्सम्बंध था। इसी कारण पंजाब में जाट, गुजरात में पत्तीदार, कर्नाटक में लिंगायत, आंध्र में रैडी और कम्मा जैसे समृद्ध किसानों का वर्ग पैदा हुआ यह समृद्ध भू-स्वामियों का वर्ग बड़ी पैमाने पर साहूकारों जैसे ही पैसा उधार देकर सूद बटोर रहा था। यह सही है कि ग्रामीण ऋणग्रस्ता बढ़ी लेकिन उतने बड़े पैमाने पर शहरी साहूकारों और महाजनों के हाथों में भूमि का हस्तांतरण नहीं हुआ होगा।

अंग्रेजी राज को आर्थिक जड़ता और हास से जोड़कर देखने वाले विद्वान क्षेत्रीय विभेदों को नजरअंदाज कर जाते हैं। आर्थिक विकास और जड़ता का असल में कोई सर्वव्यापी मापदण्ड नहीं हो सकता क्योंकि भारत जैसे विशाल देश में अलग-अलग क्षेत्र विकास की दृष्टि से अलग-अलग सीढ़ियों पर खड़े थे। इसके अलावा कई बार इस पहलू को भी अनदेखा कर दिया जाता है कि अंग्रेजी राज से पहले भी देशी आर्थिक संगठन में ऐसे तत्त्व मौजूद थे जो विकास के रास्ते में रोड़े अटकाते थे।

10.9 भारतीय ग्रामीण अर्थव्यवस्था के विघटन के कारण

नोट

अंग्रेजी राज के दौरान कृषि-व्यवसाय और अर्थव्यवस्था से जुड़े सभी पहलुओं में महत्त्वपूर्ण बदलाव के लक्षण नजर आते हैं। कृषि में इस्तेमाल भूमि, फसलों का ढाँचा, जोतों का आकार, उत्पादकता आदि में विविध प्रकार के परिवर्तन आये। यह जरूरी नहीं है कि इन बदलावों का एक जैसा असर कृषि पर निर्भर सभी सामाजिक वर्गों पर पड़ा हो। कृषि और उस पर निर्भर बहुसंख्यक छोटे किसान और मजदूरों के नजरिये से देखकर इस सवाल के नतीजे पर पहुँच सकते हैं कि किस हद तक अंग्रेजी राज ने भारतीय कृषि के विभिन्न पहलुओं को तबाह किया और इसके आम किसान के आर्थिक जीवन पर क्या प्रभाव पड़े।

(i) भूमि में नीति सम्पति (Private Property) की शुरूआत : अंग्रेजी राज के आने से पहले भारत में निरपेक्ष और असीमित अधिकार नहीं थे। अगर राज्य की भू-राजस्व इकट्ठा करने की व्यवस्था से जुड़े वर्गों जैसे जमींदार और जागीरदारों को अगर भू-उत्पाद में कुछ अधिकार प्राप्त थे तो किसानों और काश्तकारों को भी इसमें कुछ खास परम्परा के अनुरूप अधिकार हासिल थे। वीना ओल्उनवर्ग को मानना है कि यहाँ तक कि किसान परिवार में स्त्रियों को भी कृषि-उत्पाद में उपभोग के निश्चित अधिकार हासिल थे। अंग्रेजी राज में भू-राजस्व निर्धारण की जो विधियाँ लागू की गई उन सभी में मुख्य बात यह थी कि उन्होंने अपनी उदारवादी धारणा के अनुरूप भूमि में निजी सम्पति का निरपेक्ष और असीमित अधिकार मान लिया अर्थात् भूमि एक ऐसी वस्तु बन गई जिसकी खरीद-फरोख्त की जा सकती थी और जिसकी सुरक्षा की गारंटी के आधार पर किसान उसे गहन रख सकता था और साहूकार से पैसा उधार ले सकता था। जैसे स्थायी बंदोबस्त की जो व्यवस्था लार्ड कॉर्नवालिस ने बंगाल में लागू की उसमें जमींदारियों के तहत आने वाली तमाम जमीनों का मालिकाना हक आनुवांशिक तौर पर उन्हें दिया गया। इस प्रकार के मालिकाना हक रैयतवाड़ी व्यवस्था में रैयत या किसानों को भी दिये गये। इस व्यवस्था के कारण भूमि का लेन-देन बढ़ा और भूमि की मंडियां विकसित हुई। सम्पूर्ण कानून और न्यायिक व्यवस्था को भी भूमि के नीजि सम्पति अधिकार के अनुसार बनाने की कोशिश की गई। अंग्रेजी कानूनों का ढाँचा अनुबंध की पवित्रता (Sanctity of contract) का पालन करता था और ब्रिटिश अदालतों में किसान और भू-स्वामी के सम्बंध, किसान और साहूकार के रिश्ते और अन्य कृषि सम्बंधों को एक प्रकार का समझौता (agreement) मानकर सम्पतिवान वर्ग के पक्ष में फैसले देने शुरू कर दिये। अर्थात अगर किसी किसान ने अगर अपनी जमीन की गारंटी पर साहूकार से रुपये-पैसे उधार ले लिये थे तो अदालत के आदेश पर उस किसान की जमीन पर साहूकार आसानी से कब्जा जमा सकता था।

(ii) भारतीय कृषि का अंतर्राष्ट्रीय मंडियों से जुड़ना : अंग्रेजी राज के दौरान भारतीय कृषि अनेक कारणों से अंतर्राष्ट्रीय मंडियों के साथ जुड़ती चली गई। अंग्रेजी राज से पहले भी हिन्दुस्तान में कृषि-उत्पाद की माँग बढ़ रही थी और कृषि उत्पाद के लिए मंडियों का उभरना शुरू हो चुका था। पूर्व-औपनिवेशिक समय में मॉग मुख्यतया भू-राजस्व में बढ़ोतरी होने से और विकसित हो रहे शहरी केन्द्रों से जन्म ले रही थी। अंग्रेजी राज ने इन दबावों के साथ-साथ अन्य परिवर्तनों के द्वारा इस प्रक्रिया को बढ़ावा दिया। नये यातायात के साधनों, सड़कों के निर्माण और रेलवे के आगमन ने किसान के खेत और अंतर्राष्ट्रीय मंडियों के बीच पुल का काम किया। इस पुल की कई और भी कड़ियाँ थी जैसे- आधुनिक बंदरगाह, शहरों का विकास,

नोट

आयात-निर्यात व्यापार में लगी कम्पनियाँ, आधुनिक विनिमय बैंक तथा किसान और मंडियों के बीच में खड़ी बिचौलियों की कतार। स्टीम के जहाजों के आने और 1869 में स्वेज नहर के निर्माण ने इस प्रक्रिया को और ज्यादा प्रोत्साहन दिया। देश के अंदर बढ़ते हुए आंतरिक व्यापार ने अलग-अलग क्षेत्रों और भूमियां पर एक खास किस्म की फसल उगाने की प्रक्रिया जिसे अर्थशास्त्री आंचलिक विशिष्टीकरण (Regional Specialization) कहते हैं-को जन्म दिया। इसके तहत पश्चिम भारत के दक्कन में किसानों ने मिश्रित खेती छोड़कर बड़े पैमाने पर कपास की खेती शुरू कर दी और इस तरह किसान अपने परिवार की खाद्यानों की जरूरत के लिए भी दूसरे क्षेत्र से आने वाले अन्न पर आश्रित हो गया। दूसरे शब्दों में किसान कृषि-उत्पाद का क्रेता और विक्रेता दोनों ही एक साथ बन गया। उन्नीसवीं सदी में यूरोप के देशों में जनसंख्या का विस्थापन कृषि से होकर शहरों के उद्योगों की तरफ हो रहा था। हालांकि कृषि क्रांति के बाद यूरोप में खाद्यानों का उत्पादन बढ़ा लेकिन बढ़ती जनसंख्या और शहरीकरण के कारण उसे खाद्यानों के लिए दूसरे देशों पर निर्भर होना पड़ा। भारत से गेहूँ और चावल का निर्यात अंग्रेज व्यापारियों ने शुरू किया और भारत में अकालों की संख्या और भीषणता के बावजूद 19 वीं सदी में भारत से अन्न का निर्यात बिना किसी रूकावट के होता रहा।

भारतीय कृषि के अंतर्राष्ट्रीय मंडियों के इस गहरे सम्बंध के भारतीय किसान के जीवन पर सीधे प्रभाव पड़े। अब अंतर्राष्ट्रीय मंडियों की तमाम उथल-पुथल का असर भारतीय कृषि पर पड़ने लगा। इसका एक उदाहरण 1860 के बाद अमरीका में गृह युद्ध की वजह से अंतर्राष्ट्रीय मंडियों में कपास के मूल्यों में वृद्धि का है। बढ़ते मूल्यों के लालच में किसानों ने पश्चिम भारत के दक्कन क्षेत्र में बड़े पैमाने पर कपास की खेती की और अपना रूख किया और अनेक बार साहूकारों से उधार लेकर कपास की खेती में वह पूँजी लगाई। 1864-65 में अमेरिका का गृह युद्ध बंद होने पर मंडियों में अमेरिका के बड़े-बड़े फॉर्मों की कपास आने लगी और इसके मूल्य तेजी से गिरे। दक्कन के किसानों को भारी नुकसान इसके कारण उठाना पड़ा। 1929 के महान विश्व की आर्थिक मंदी के समय भी भारतीय किसान बुरी तरह प्रभावित हुए।

(iii) कृषि पर जनसंख्या का बढ़ता दबाव : कृषि पर जनसंख्या का दबाव भी लगातार बढ़ता गया। ए.आर. देसाई ने इसे बढ़ते जनसंख्या के दबाव को देशी हस्त और शिल्प उद्योगों की तबी का नतीजा माना है। इस अनुऔद्योगिकरण (de-industrialization) के कारण ही कृषि पर जनसंख्या का दबाव जरूरत से ज्यादा बढ़ गया। इसका नतीजा भूमि के विभाजन, विखण्डन, गैर-आर्थिक जोतों के विकस और अल्प रोजगार जैसी कृषि की समस्याओं के रूप में हुआ। चूँकि खाद्यानों के उत्पादन में नये बीजों का प्रयोग और अन्य उत्पादकता बढ़ाने के तरीकों का प्रयोग कम से कम किया गया इसलिए जैसे जॉर्ज ब्लीन ने अपने अध्ययन (Agricultural Trends in India) में दर्शाया है-खाद्यानों के उत्पादन में गिरावट और ठहराव दिखने को मिलता है। 19वीं सदी में कृषि योग्य बंजर भूमियों को कृषि योग्य बनाकर और कृषि के तहत आने वाली भूमि का विस्तार करके कुछ हद तक इस समस्या से निपटा जा सकता था लेकिन 20वीं सदी में लगातार बढ़ती जनसंख्या क कारण प्रति व्यक्ति कृषि-योग्य भूमि और खाद्यान्नों की उपलब्धता पर काफी बुरा असर पड़ा।

(iv) सामुहिक सम्पति के संसाधन और कृषि-व्यवस्था : अंग्रेजी राज से पहले भारतीय ग्रामीण अर्थव्यवस्था मात्र चिर-स्थायी और टिकाऊ कृषि (settled agriculture) पर आध रित नहीं थी। स्थायी कृषि पर निर्भर किसानों के अलावा ग्रामीण जनता को बड़े हिस्से में

शिकारी और जंगलों से खाद्य-सामग्री एकत्र करने वाले, पशुपालक और जंगलों में एक जगह छोड़कर दूसरी जगह खेती करने वाले (shifting cultivation) आदिवासी शामिल थे। किसान भी अपनी जरूरतों के लिए जंगलों और चरागाहों के रूप में सामूहिक सम्पदा के संसाधनों पर चारे, लकड़ी आदि के लिए निर्भर रहते थे। अंग्रेजी राज से पहले ये सभी सामाजिक समुदाय सामूहिक सम्पदा के साधनों (common property resources) पर परम्परा के अनुसार उपभोग के अधिकारों से लैस थे। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में इन सामूहिक समपदा के संसाधनों का लुप्त होना शुरू हो गया। जंगलों को व्यापारिक मुनाफे के लिए काटने और बंजर जमीनों पर कृषि के विसतार होने से सामूहिक भूमियाँ सिकुड़नी शुरू हो गयी। ब्रिटिश राज्य ने भी वन-सम्पदा पर अपना नियंत्रण स्थापित करना शुरू किया और विभिन्न समुदायों के परम्परागत अधिकारों को या तो समझा नहीं गया या उन्हें पूरी तरह नजरअंदाज कर दिया गया। सरकार ने 1865 के जंगलात कानून और 1878 के कानून के तहत जंगलों को अपने संरक्षण में ले लिया। इमारती लकड़ी की बढ़ती व्यापारिक जरूरतों और वनों से कर आदि के द्वारा आय के स्रोत बढ़ाने के लिए सरकार ने ये कदम उठाये लेकिन मंडियों, कानूनों, जनसंख्या वृद्धि के साथ राज्य के नियंत्रण ने वन-सम्पदा का मात्रात्मक और गुणात्मक विनाश शुरू कर दिया। इसने एक कृषि और सामाजिक संकट को जन्म दिया क्योंकि हाशिये पर मौजूद पशुपालक, जंगल-निवासी आदिवासी कृषकों को इस प्रक्रिया ने बहुत ही बुरी तरह प्रभावित किया।

(v) भू-राजस्व प्रणाली में परिवर्तन : ब्रिटिश राज की एक विशेष बात भू-राजस्व की दरों में खासकर उन्नीसवीं सदी के पूर्वाध में तेजी से वृद्धि करने की रही हालाकि भू-राजस्व निर्धारण की अलग-अलग प्रणालियाँ जैसे जमींदारी, महलवाड़ी और रैयतवाड़ी का स्वरूप भिन्न-भिन्न था लेकिन सभी क्षेत्रों और प्रणालियों में अबाध रूप से भू-राजस्व में बढ़ौतरी देखने को मिलती है। इसके विपरीत 19वीं सदी के पूर्वार्द्ध में हम पाते हैं कि कृषि-उत्पाद के मूल्यों में गिरावट हो रही थी इससे किसानों पर भू-राजस्व का सापेक्ष बोझ और अधिक बढ़ गया होगा। अंग्रेजी राज से पहले की भारतीय राज्य-व्यवस्थाओं में भू-राजस्व फसल का एक निध पारित भाग हाता था और उगाई गई फसल के अनुसार बदलता रहता था लेकिन ब्रिटिश आकलन की कठोर विधि में यह लचीलापन खत्म कर दिया गया और भू-राजस्व का अनुमान इस आधार पर किया गया कि जमीन का कुल उत्पाद कितना हो सकता था। ब्रिटिश राज ने ज्यादा कुशलता से और माप की वैज्ञानिक विधियों का इस्तेमान करके भूमि की पैमाइश और सर्वेक्षण का काम किया और साथ ही साथ अनेक प्रकार की कर-रहित भूमियों के अधिकार खत्म कर दिये। इसका अर्थ था कि भू-राजस्व की दरों में अंकित दरों से भी ज्यादा बढ़ोतरी की गई थी। कम्पनी शासन क शुरू में वसूल किया जाने लगा। यह लागत है कि कुछ हद तक भू-राजस्व की बढ़ाई गई दरों के दबाव में आकर ही किसानों ने नकदी फसलों की तरफ रूझान किया। भूमि-कर समय पर न दिये जाने के कारण भू-सम्पतियों की बिक्री और निलामी भी बढ़नी शुरू हुई। साहूकार और व्यापारियों ने इस प्रकार के हस्तांतरण के दौरान भू-सम्पतियों के अपने अधिकार बढ़ाने शूरू किये। विशेषकर छोटे किसान और पशुपालक और अस्थायी खेती करने वाले आदिवासी इस बढ़े हुए भू-राजस्व और मुद्रा के रूप में इसकी वसूल से सबसे ज्यादा प्रभावित हुए।

(vi) जोतों का आकार (Size of land&holdings) : खेती पर जनसंख्या के लगातार बढ़ते दबाव के कारण जोत का औसत आकार घटता चला गया और कृषि में विभाजन, विखण डन और गैर-आर्थिक जोतों की समस्या विकराल रूप में उभरी। प्रारंभ में भूमि और जनसंख्या

नोट

का अनुपात कृषि के पक्ष में था और किसान की भू-जोत का आकार उसके पास उपलब्ध परिवार के श्रम और पूँजी पर निर्भर करता था। कृषि के क्षेत्र में श्रम ही उत्पादन का दुर्लभ साधन था। लेकिन धीरे-धीरे जनसंख्या में वृद्धि, हस्तशिल्पों के पतन और भू-राजस्व प्रणाली में लागू किये परिवर्तनों के कारण हालात बदलते चले गये। कृषि में छिपी हुई या प्रच्छन्न बेरोजगारी (disguised unemployment) की समस्या सामने आयी अर्थात् ऐसे किसान परिवार के व्यक्ति जिनकी उत्पादकता शून्य या उससे भी कम थी, वे भी कृषि पर ही निर्भर रहे क्योंकि उनके लिए कृषि के क्षेत्र के बाहर वैकल्पिक रोजगार के अवसर नहीं थे। चूँकि कृषि योग्य भूमि की मात्रा सीमित थी अत: इसके परिवार के व्यस्क सदस्यों के बीच बँटवारी होने से भू-जोत का औसत आकार घटता गया। संयुक्त परिवार के टूटने और भारत में प्रचलित उत्तराधिकार के नियम ने, जिसके मुताबिक परिवार के सब बेटों को बाप की भू-सम्पति में बराबर का हिस्सा मिलता था, इस प्रक्रिया को और अधिक तेज किया। 1917 में बम्बई के कृषि विभाग के निर्देशक डॉ. हेराल्ड एच. मान ने पूना जिले के एक गाँव के अध्ययन में पाया कि 1771 में वहाँ औसत जोत 40 एकड़ थी जो 1818 में 17.5 एकड़, 1840 में 14 एकड़ और 1914-15 में घट कर केवल 7 एकड़ ही रह गई थी। इसी प्रकार के सबूत अन्य जिलों और सूबों के बारे में भी उपलब्ध हैं। खेतों के इस प्रकार के छोटे-छोटे जोतों में बँटवारा होने से जोतों का आकार इतना छोटा हो गया कि एक सामान्य किसान-परिवार का भी इस खेत के टुकड़े में गुजारा नहीं चल सकता था। खेत के इतने छोटे आकार को ही अनार्थिक या गैर-आर्थिक जोत (uneconomic holding) कहा जाता है। ऐसे काश्तकारों की संख्या भी बढ़ी जिनका अपना कोई खेत नहीं था और जो दूसरों के खेतों पर काम करके गुजारा करते थे।

(vii) कृषि उत्पादकता की जड़ता और ठहराव की स्थिति : कृषि उत्पादकता का स्तर कम होना भारतीय कृषि की अंग्रेजी राज के दौरान मुख्य समस्या बन गई। ग्रामीण कृषि व्यवस्था और सहायक गतिविधियाँ जैसे पशु-पालन, वन-सम्पदा आदि औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था की मुख्य धुरी थी। इसमें श्रम-शक्ति का लगभग 3/4 वां भाग काम कर रहा था और राष्ट्रीय आय में इसका योगदान 1860-1940 के बीच लगभग 50% था लेकिन इसमें पिछड़ेपन और ठहराव की स्थिति बनी हुई थी क्योंकि कृषि में श्रम की उत्पादकता बहुत ही कम थी और पूँजी का अभाव और सिंचाई में पूँजी-निवेश की कमी आदि इसके उपर असर डालते थे जिसके कारण उत्पादक भूमि का भी अभाव था। हालाकि कुछ क्षेत्रों में कृषि-उत्पादन में तेजी से बढ़ौतरी देखने को मिलती है लेकिन 20 वीं सदी में जनसंख्या बहुत तेजी से बढ़ रही थी और इसने प्रति व्यक्ति खाद्यान्न की उपलब्धता और विनिमय अधिकारों के वितरण को भी प्रभावित किया। जार्ज ब्लन ने अपने अध्ययन में औपनिवेशिक प्रशासनिक अधिकारियों के कृषि-उत्पाद में कुछ इजाफा जरूर हुआ लेकिन अस दशक में जनसंख्या बहुत ही कम बढ़ी थी लेकिन 20 वीं सदी में प्रति एकड़ उपज में वृद्धि के बावजूद उन्होंने पाया कि 1901-47 के बीच प्रति व्यक्ति खाद्यान्न की उपलब्धता में प्रतिवर्ष 1% की कमी आती गई। उपज और खाद्यान्नों की उपलब्धता में कमी का यह अर्थ नहीं था कि कृषि-उत्पादन हर जगह जड़ता का शिकार था लेकिन समृद्धि के इलाकों का प्रभाव पिछड़ेपन के इलाके खत्म कर देते थे। कुछ नकदी फसलों के उत्पादन में तेजी से बढ़ोतरी हुई खासकर कपास और गन्ने के उत्पादन में। लेकिन बाकी फसलों की उत्पादकता दयनीय हालत में थी। कुछ खास इलाकों जैसे पंजाब के दोआब, पश्चिमी उत्तर प्रदेश, नर्मदा की घाटी और महाराष्ट्र और मद्रास के कुछ क्षेत्रों में काफी समृद्धि और गतिशीलता नजर आती है लेकिन इससे कृषि-उत्पादकता में दूरगामी परिवर्तन हुआ हो-ऐसा नहीं लगता । क्रिस्टोफर बेकर के शब्दों में ''खून से लथपथ विकास पर जौंको की

तर कई परजीवी–जैसे लगान भोगी वर्ग, साहूकार–महाजन, राज्य और बाजार और मंडियों के बिचौलिये चिपके हुए थे।'' वास्तव में भारतीय कृषि के पिछड़ेपन और ठहराव का सवाल इस बात से जुड़ा हुआ है– कि ग्रामीण अर्थ–व्यवस्था में मुनाफे कैसे अर्जित किये जा रहे थे और सम्पतिवान समृद्ध वर्ग उनका उपयोग कैसे कर रहा था। कृषि विकास का मुद्दा और कृषि–उत्पाद में श्रम का हिस्सा कितना हो–ये दोनों इसी मूलभूत सवाल से जुड़े हुए हैं। समृद्ध अर्धसामती और समृद्ध धनी किसानों के वर्ग के द्वारा अर्जित मुनाफों का उपयोग कृषि में पूँजी का निवेश करके और उत्पादन की प्रक्रिया में तकनीकी आधुनिकरण करने के लिए नहीं किया गया। इसके विपरीत इस कुलीन समृद्ध वर्ग ने इन मुनाफों का उपयोग और ज्यादा श्रम पर नियतंत्र स्थापित करके कम उत्पादकता के बावजूद इसके अबाध शोषण से अपने सामाजिक नियंत्रण को और मजबूत करने के लिए किया।

10.10 निरौधीकरण या अनऔद्योगिकरण का विवाद

निरौधीकरण का सीधा–साधा अर्थ है औद्योगिकरण की उल्टी प्रक्रिया। जब किसी देश का औद्योगिकरण हो रहा होता है तो इसके संकेत हम उस अर्थव्यवस्था में होने वाले बदलावों से मिलते हैं। किसी देश या अर्थव्यवस्था के विकास के स्तर की जानकार हमें उसके व्यावसायिक ढाँचे (Occupational Structure) से मिलती है। व्यवसायिक ढाँचे से मतलब है कि देश की अर्थव्यवस्था में कृषि और खनन जैसे प्राथमिक क्रिया कलापों में उस देश की श्रम–शक्ति का कितना भाग काम कर रहा है और उद्योग–व्यापार में कितना और विभिन्न किस्म कि सेवाओं (services) में कितनी श्रम–शक्ति लगी हुई है। जैसे–जैसे किसी देख में औद्योगिकरण की गति तेज होती है वैसे–वैसे श्रम–शक्ति का विस्थापन कृषि और प्राथमिक क्रिया–कलापों से उद्योगों और व्यापार की दिशा में होने लगता है। अर्थात औद्योगीकरण का लक्षण है कि कृषि और प्राथमिक क्रियाओं के मुकाबले में उद्योगों में कार्यरत श्रम–शक्ति का अनुपात बढ़ने लगता है। दूसरा लक्षण है कि कृषि की बजाये राष्ट्रीय आय में उद्योगों का योगदान बढ़ जाता है। निरौद्यीकरण की प्रक्रिया में इसका ठीक उल्टा होता है अर्थातफ उद्योगों पर आश्रित और रोजगार पाने वाली श्रम–शक्ति का अनुपात घटने लगना या राष्ट्रीय आय में उद्योगों का योगदान कम हो जाना निरौद्यीकरण को दर्शाता है।

जैसा कि हम पहले देख चुके हैं कि 18वीं सदी के मध्य तक हिन्दुस्तान के हस्त शिल्प उद्योग काफी उन्नत अवस्था में थे और वे अपनी गुणवत्ता के लिए मशहर थे। घरेलु उपभोग के अलावा इनकी काफी माल निर्यात भी किया जाता था ईस्ट इंडिया कम्पनी भी भारत से सूती कपड़े, चीनी, शोरा, नील, रेशमी कपड़े और मसाले आदि निर्यात कर रही थी। ब्रिटिश राज के स्थापना के साथ भारत के ये हस्त शिल्प उद्योग विनाश के कगार पर पहुँचने लगे और कई तो विलुप्त होने शुरू हो गये। इनके पतन के लिए अनेक कारण जिम्मेदार थे। इनमें से कुछ प्रमुख कारण इस प्रकार हैं :

(i) देशी राज दरबारों का खत्म होना : डी. आर. गाडगिल के मुताबित भारत में उच्च कलात्मक वस्तुओं के शहरी शिल्प उद्योग देशी राजाओं, नवाबों और शासक वर्ग के प्रोत्साहन और संरक्षण में ही पनपते रहे थे। शाही कारखाने भी अच्छे शिल्पकार और कारीगरों को रोजगार और संरक्षण प्रदान करते थे। राजा, दरबारी और उनकी स्त्रियाँ अपने–अपने पद और प्रतिष्ठा के अनुरूप जीवन–शैल अपनाये हुए थे। जैसे–जैसे ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार हुआ–एक के बाद एक देशी राजाओं और दरबारों का पतन शुरू हो गया। शिल्पकारों को इनके द्वारा दिया गया

संरक्षण भी खत्म हो गया और इन कारीगरों की माँग का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत खत्म हो गया।

(ii) ब्रिटिश सरकार की इग्लैण्ड में वाणिज्य और सीमा शुल्क नीति : 17वीं सदी में और 18वीं सदी के शुरू में भारतीय उद्योगों का माल बड़े पैमाने पर इग्लैण्ड की मंडियों में पहुँच रहा था। इग्लैण्ड को इस आयात किये माल के बदले इसका भुगतान सोने-चाँदी की बहुमूल्य धातुओं के रूप में करना पड़ता था। पश्चिमी यूरोप में उस समय वाणिज्यवादी (mercantilist) विचारधारा का अर्थनीति पर गहरा प्रभाव था। वाणिज्यवादी अपने देश के अंदर बहुमूल्य धातुओं के अधिक से अधिक संचय पर बल दे रहे थे लेकिन इसके लिए व्यापार का संतुलन उनके देश के पक्ष में होना जरूरी था। इग्लैण्ड के निर्माताओं ने इसकी माँग करनी शुरू की कि भारत से आयात किये गये माल पर प्रतिबंध लगे या उस पर इतनी ऊँची दर से सीमा-शुल्क (import-duty) लगाई जाये कि वह बाजारों में घरेलू माल के साथ प्रतियोगिता न कर सके। 18 वीं सदी में अंग्रेज सरकार ने कई प्रतिबंध लगाने वाले अधिनियम भारतीय वस्त्र उद्योग के खिलाफ इग्लैण्ड में जारी किये। 1757 के बाद कम्पनी की सत्ता भारत के पूर्वी क्षेत्र में कायम हो गयी 18वीं सदी के उत्तरार्ध में इग्लैण्ड में सूती कपड़े का उद्योग नयी मशीनी तकनीकी का उपयोग करते हुए उभरना शुरू हो गया। इस नये उभरते हुए सूती वस्त्र-उद्योग ने ब्रिटिश संसद को निषेधात्मक शुल्क लगाकर भारतीय माल के आयात को रोकने पर मजबूर कर दिया। एक तरफा भेदभाव-पूर्ण सीमा शुल्क नीति का अनुसरण करते हुए जहाँ इंग्लैण्ड में भारतीय उद्योगों पर भारी आयात शुल्क लगाया गया वहीं इग्लैण्ड के उद्योगें का माल कर मुक्त रूप से उपनिवेशें की मंडियों में प्रवेश पाता रहा। इस प्रकार भारतीय मंडी में ब्रिटिश उद्योगों के लिए रास्ता साफ करने और भारतीय उद्योगों क माल पर प्रतिबंध लगाकर उसका सर्वनाश करने में इस वाणिज्य नीति का बड़ा महत्त्वपूर्ण हाथ रहा। इसका सीधा नतीजा यह निकला कि भारतीय उद्योगें से निर्यात किये जाने वाले माल की मात्रा और मूल्य कम हो गया और इग्लैण्ड की भारत में आयतित औद्योगिक माल की मात्रा और मूल्य बढ़े।

(iii) राजनैतिक सत्ता का दुरुपयोग : ईस्ट इंडिया कम्पनी एक एकाधिकार व्यापारिक कम्पनी थी जिसका उद्देश्य अपना माल महंगे से महंगा बेचकर दूसरों से माल सस्ते-से-सस्ता खरीदकर ज्यादा से ज्यादा मुनाफा कमाना था। पूर्वी भारत में प्लासी के युद्ध के बाद बंगाल की राज्य व्यवस्था पर इस कम्पनी का कब्जा हो गया। अपनी राज सत्ता का प्रयोग कम्पनी के एजेन्टों ने शिल्पकारों से सस्ता से सस्ते दर पर खरीदने के लिए करना शुरु कर दिया। कम्पनी के गुमश्ते कारीगर और भारतीय बुनकरों से उनका माल विशेषकर सूती कपड़े उनकी उत्पादन की लागत से भी कम दाम पर खरीदने लगे ताकि उन्हें यूरोप की मंडियों में ऊँचे दाम पर बेचकर कम्पनी अपना मुनाफा बढ़ा सके। ददनी व्यवस्था के भारतीय व्यापारी की जगह अब कम्पनी के गुमाश्तों ने ले ली जो कारीगरों को अग्रिम राशि देकर कम कीमत पर गैर-आर्थिक दबाव और बल का प्रयोग करके उनका माल वसूल करने लगे। इस प्रकार बुनकर और कारीगरों ने स्वतंत्र रूप से बाजार में अपना माल बेचने का अधिकार खो दिया। ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासन काल के शुरू के वर्षों में हस्तशिल्प उद्योग की तबाही की यह एक अहम वजह थी।

(iv) इग्लैण्ड के मशीनी उद्योगों से प्रतियोगिता : 18वीं सदी के उत्तरार्द्ध में इग्लैण्ड के उत्पादन के लिए उर्जा के नये स्रोत भाप का ईंजन इस्तेमाल किया जाने लगा और कताई और बुनाई के क्षेत्र में कपड़ा उद्योग में स्पीनिंग जैनी, म्यूल और पॉवर लूम जैसे आविष्कारों से श्रम की उत्पादकता तेजी से बढ़ी। इससे उत्पादन की लागत में भी भारी गिरावट आयी। इन मशीनी उद्योगों का माल हाथ से बनाये गये भारतीय बुनकरों के माल से बहुत सस्ता साबित

नोट

नोट

हुआ । विविधता और गुणवत्ता का लाभ होने से शुरू में भारतीय उद्योग होड़ में इनके साथ रहा लेकिन कीमत की दृष्टि से वह इस होड़ में लगातार पिछड़ता चला गया। जैसे सूती वस्त्र उद्योग जैसे तकनीकी परिवर्तन अन्य क्षेत्रों में फैले वैसे-वैसे उन उद्योगों की भी इस प्रक्रिया ने प्रभावित किया।

निरौद्योकरण विवाद के कुछ महत्त्वपूर्ण आयाम

ब्रिटिश राज द्वारा हिन्दुस्तान में लाये गये आर्थिक और राजनैतिक बदलावों का घरेलू उद्योगों पर 19वीं सदी में काफी गहरा प्रभाव पड़ा ब्रिटिश राज ने कृषि के वाणिज्यीकरण को बढ़ावा देकर, इग्लैण्ड के उद्योगों के माल को भारत में बड़े पैमाने पर आयात करके और भारतीय सूती कपड़ों के निर्यात को प्रतिबन्धित करके 19वीं सदी में हिन्दुस्तान के शिल्प हस्त उद्योगों को तबाह किया और उसमें रोजगार पा रहे कारीगरों के विनाश का रास्ता खोल दिया। अंग्रेजी राज की शुरूआत में भारत का हस्त शिल्प उद्योग निरपेक्ष रूप में काफी बड़ा था और 1750 में दुनिया के औद्योगिक उत्पादन का लगभग 1/4 वां भाग की आपूर्ति यह कर रहा था। भारत के इन उद्योगों की उत्पादन की तकनीकी पिछड़ी हुई थी क्योंकि यहाँ प्रचुर मात्रा में श्रम की उपलब्धता होने से श्रम को बचाने वाली मशीनों और साधनों की जरूरत ही नहीं थी। हिन्दुस्तान में 18वीं सदी में श्रम की उत्पादकता जड़ बनी रही और कोई तकनीकी परिवर्तन नहीं अपनाया गया। इग्लैण्ड में इसके विपरीत लंकाशायर और मैनचेस्टर में 19 वीं सदी के पूर्वाध में तेजी से मशीनी तकनीकी पर आधारित सूती-वस्त्र उद्योग पनपने लगा। 1800 तक इग्लैण्ड ने दुनिया के दूसरे भागों हिन्दुस्तान के मुकाबले सूती कपड़े की आपूर्ति में पहल हासिल कर ली थी और तत्काल ही हिन्दुस्तान का सूत कपड़ा उद्योग और घरेलू सूती कपड़े की माँग इग्लैण्ड के उद्योग के दबाव में आ गयी। 1820 के दशक तक भारत इग्लैण्ड से सूत का आयात करने लगा था लेकिन इसका इस्तेमाल कुछ खास इलाकों में खास किस्म के कपडे बुनने में ही किया जा रहा था। इग्लैण्ड से आयात किया सूती कपड़ा भारतीय उत्पाद के साथ सीधे होड़ में लगा था। इन हायातों का असर भी सब क्षेत्रों में एक जैसा नहीं था-खासकर मध्य भारत और राजस्थान कुछ हद तक इस प्रकार के आयात से उतनी बुरी तरह प्रभावित नहीं हुआ। लंकाशायर के भारतीय मंडियों में बढ़ते असर को इस तथ्य से समझा जा सकता है कि 19वीं सदी के अंत में हिन्दुस्तान में प्रति व्यक्ति सूती कपड़े खपत 11-15 गज थी। और भारत में सूती कपड़े का प्रति-व्यक्ति आयात 1840 में 1 गज से बढ़कर 1880 में 7 गज प्रति गज प्रति व्यक्ति हो गया। लंकाशयर से आने वाले सूती कपड़े ने 1850 के बाद भारतीय बुनकरों को अपने कपड़े की कीमतें कम करने पर मजबूर कर दिया या उन्हें कम-गुणवत्ता वाले क्षेत्र में धकेल दिया। चूंकि बुनकरों की उत्पादन की लागत कम नहीं हुई थी और वे अब भी पुरानी तकनीकी का ही इस्तेमाल कर रहे थे इसलिए इसका अर्थ था कि बुनकरों और कारीगरों को अपनी जीवन निर्वाह की लागत से कटौत करनी पड़ रही थी या यह नुकसान वे साहूकारों से पैसा उधार लेकर उठा रहे थे। लंकाशायर की सफलता का राज उसके द्वारा बुने सूती कपड़े की कीमतों में लगातार होने वाली कमी और उसके पक्ष में अच्छा मंडी का संगठन था। अंग्रेजी सूती कपड़े की कीमतों में लगातार हो रही गिरावट का मुख्य कारण तकनीकी के साथ-साथ एक मुख्य निवेश के रूप में कपास की कीमतों में होने वाली गिरावट भी थी। ब्रिटिश आर्थिक नीति का एक और महत्त्वपूर्ण पहलू जो प्रतियोगिता के इस युद्ध में ब्रिटिश उद्योगों की मदद कर रहा था-वह था मुक्त व्यापार के प्रति साम्राज्य की प्रतिब्धता। निरौद्योकरण का प्रभाव कम हो सकता था अगर हस्त शिल्प उद्योगों के पतन के साथ-साथ भारत में तेजी से आधुनिक

नोट

मशीनी तकनीकी पर आधारित उद्योगों का तेजी से विकास हुआ होता। ये नये उद्योग पुराने हस्त शिल्प उद्योगों की तबाही और नुकसान की क्षतिपूर्ती कर सकते थे। हिन्दुस्तान में इस तरह का मशीनी उद्योग 1856 के बाद उभरना शुरू होता है। इस नये फैक्टरी-उत्पादन के तेजी से विकास के रास्त में अनेक संस्थामूलक (institutional) और नीतिगत अड़चनें थी- परिणामस्वरूप 1901 में भी हिन्दुस्तान में आधुनिक फैक्टरी उत्पादन में श्रम-शक्ति का केवल 5% ही रोजगार पा रहा था। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि निरौद्यीकरण का अर्थ था छोटे हस्तशिल्प और परम्परागत उद्योगों का विनाश जो तकनीकी पिछड़ेपन के कारण शुरू होता है और ब्रिटिश औपनिवेशिक नीतियों और मुक्त व्यापार द्वारा गतिशील होता है और जिसको आधुनिक उद्योगों का विकास भी क्षतिपूर्ति नहीं कर पाया। इसका अर्थ है कि व्यापार और तकनीकी परिवर्तन ने उसी समय जहाँ इग्लैण्ड के औद्योगिकरण मं मदद की, वहीं इन्हीं कारणों से भारत की अर्थव्यवस्था का तेजी से निरौद्यीकरण हुआ। अर्थात् भारत का उपनिवेश होना इस प्रक्रिया में अहम भूमिका निभा रहा था।

निरौद्यीकरण की धारणा, ब्रिटिश उपनिवेशवाद की अर्थिक आलोचना करने वाले प्रारंभिक राष्ट्रीयवादी नेताओं जैसे दादा भाई नौरोजी, रमेश चन्द्र दत्त आदि के लेखन में स्पष्ट रूप से झलकती है। इसका दूसरा वैचारिक मूल हम मार्क्सवादी चिंतन में साम्राज्यवाद और उसके आर्थिक प्रभाव में ढूँढ सकते हैं। लेकिन इस प्रक्रिया और इसके आर्थिक प्रभावों को लेकर विद्वानों में काफी मतभेद हैं। निरौद्यीकरण का मुख्य संकेत जैसा कि हम स्पष्ट कर चुके हैं-हमें व्यावसायिक ढाँचे और उससे जुड़े ऑकड़ों से मिल सकता है। निरौद्यीकरण की जाँच-पड़ताल काफी मुश्किल मसला है क्योंकि निरौद्यीकरण का अर्थ केवल एक उद्योग का विनाश-मात्र नहीं है। निरौद्यीकरण विभिन्न औद्योगिक क्षेत्रों और क्रिया-कलापों के सम्पूर्ण प्रभाव से ही आँका जा सकता है और इस सम्पूर्ण प्रभाव को दिखाने वाले ऑकड़े हमारे पास उपलब्ध नहीं हैं। यह सम्पूर्ण प्रभाव और इसकी जाँच बहुत ही महत्त्वपूर्ण है क्योंकि तकनीकी पिछड़ेपन के कारण अगर किसी उद्योग का पतन होता है तो उसके कुछ लाभकारी प्रभाव भी होते हैं। जब अधिक कुशल और उत्पादक कम उत्पादक या पिछड़ी तकनीकी वाले उद्योग को पछाड़कर उसकी जगह लेते हैं तो उस उद्योग में उत्पादित वस्तुओं या सेवाओं के मूल्य कम हो जाते हैं जिसका फायदा उपभोक्ताओं को होता है। ऐसी अवस्था में निरौद्यीकरण बुरा है अगर ये फायदे पुराने उद्योग में रोजगार का स्तर गिरने से हाने वाले नुकसान से कम हों। आमतौर पर, इस पक्ष में बोलने वाले विद्वान कि हिन्दुस्तान में अंग्रजी राज और माल ने निरौद्यीकरण को जन्म दिया. सम्पूर्ण प्रभाव की जाँच किये बगैर केवल छोटे हस्त शिल्प उद्योग के ब्रिटिश माल की प्रतियोगिता के कारण हुए विनाश और पतन के आँकड़े ही प्रस्तुत करते हैं।

राष्ट्रीयवादी मतः

राष्ट्रवादी अर्थशास्त्रियों ने अंग्रेज अधिकारियों की रिर्पोटों, यात्रियों के वृतांत और सरकारी कमेटियो की जाँच रिपोर्ट के आधार पर यह दिखाया कि 19वीं सदी में तेजी से उद्योगों की अवनति हुई। चूंकि इस विश्लेषण में आँकड़ों का सहारा नहीं लिया जाता इसलिए यह कहना मुश्किल है कि पूरे भारत भर में देशी उद्योगों की कितनी अवनति हुई। रमेश चन्द्र दत्त ने हालाकि देशी हस्त शिल्प उद्योगों के पतन के लिए इग्लैण्ड के औद्योगिक उत्पादों के बढ़ते आयात को जिम्मेदार ठहराया। खासकर सूती कपड़े के आयात में तेजी से बढ़ोतरी हुई और इसके विपरीत भारतीय सूती कपड़े के निर्यात में तेजी से गिरावट आई। 1860 में 96 लाख पौंड

नोट

स्टर्लिंग मूल्य के सूती वस्त्र भारत में आयात किये गये जबकि 1880 में 1 करोड़ 70 लाख पौंड स्टर्लि और 1900 में 27 करोड़ पौंड स्टर्लिंग मूल्य के सूती कपड़े आयात हुए। डी.आर. गाडगिल ने इस निरौद्यीकरण की प्रक्रिया में विलायती फैशन और इसकी नकल करने वाल बाबूओं को भी उत्तरदायी ठहराया है। औद्योगिक क्रांति के कारण इग्लैण्ड और भारत के बीच के व्यापारिक सम्बंध में गहरा बदलाव आया और आयात-निर्यात व्यापार की संरचना इस तरह की हो गयी कि इग्लैण्ड भारत से कच्चा माल निर्यात करने लगा और अपने उद्योगों का माल हमारी मंडियों में भेजने लगा। इसी बदलाव का नतीजा था कि जैसे अमिया कुमार बागची ने दिखया है कि गंगा-घाटी मात्र 8% ही रह गया। ज्यादातर यह गिरावट सूत कातने के व्यवसाय में हुई। सम्भवत: इसी प्रकार की गिरावट का असर भाप के जहाज आने से देशी जहाजरानी उद्योग पर पड़ा होगा।

डैनियल थार्नर का मत:

डैनियल थार्नर का मानना है कि संभवत: 19वीं सदी में प्रारंभ में निरौद्यीकरण हुआ होगा लेकिन बाद में आधुनिक कल-कारखाने खुनले से 19वीं सदी के उत्तरार्ध और 20वीं सदी में औद्योगित अवनति के संकेत नहीं मिलते। अपने मत को साबित करने के लिए उन्होंने 1881 से 1931 के बीच के जनसंख्या आंकड़ों के आधार पर भारत के व्यवायिक ढाँचे की जाँच की। उनके अनुसार, सतही तौर पर देखने से यह लगता है कि 1881 से 1931 के बीच कृषि-व्यवसाय में रोजगार पा रहे लोगों की संख्या और अनुपात में बढ़ौतरी हो रही है औद्योगित क्षेत्र में रोजगार का अनुपात सिकुड़ रहा है। लेकिन डैनियल थार्नर इसे निरौद्यीकरण का सबूत नहीं मानते क्योंकि उनके अनुसार जनसंख्या के आँकड़ों में कई किस्म की खामियाँ हैं। एक स्त्रियों द्वारा व्यवसाय के बारे में जनसंख्या अधिकारियों को दी गई जानकारी विश्वास योग्य नहीं है- वे हॉलाकि घरेलू-अर्थव्यवस्था और श्रम-व्यवस्था का हिस्सा थी लेकिन ज्यादातर ने अपना वही व्यवसाय बताया जो कि उनके पतियों का था। दूसरे जनसंख्या के आँकड़ों में श्कृषि-मजदूरश और 'साधारण मजदूर' *(general labour)* पेशे के हिसाब से अलग-अलग श्रेणियों में रखा गया है जबकि सामान्यतया अक्सर सभी साधारण मजदूर कृषि व्यवसाय से ही जुड़े हुए थे। इसलिए श्कृषि-श्रमिकश और ष्सामान्य मजदूर को एक ही श्रेणी में रखा जा सकता है। तीसरे, डैनियल थार्नर का मानना है कि मर्दुमशुमारी या जनसंख्या ने उद्योग और व्यापार का जो विभेद किया वह भी किसी काम का नहीं था। इस प्रकार इन्हें भी वे एक ही श्रेणी में रखते हैं। उनके अनुसार इस आधार पर जो व्यावसायिक ढाँचे की तस्वीर उभरती है वह निरौद्यीकरण दर्शाने की बजाए एक जड़ व्यावसायिक ढाँचे की तरफ संकेत करती है। नीचे दिये आँकड़े इस विश्लेषण को साफ कर देते हैं।

Table No- 1 व्यवसायिक ढाँचा (% में) जनगणना के आँकड़ों के आधार पर

	1881	1901	1931
	पुरूष/स्त्री	पुरूष/स्त्री	पुरूष/स्त्री
साधारण मजदूरी	9/15	6/9	4/8
'उद्योग'	16/24	11/12	9/9
व्यापार	2/1	5/5	6/5
परिवहन	8/3	0/6	9/8
कृषि	65/57	68/68	72/70

Table No- 2 व्यवसायिक ढाँचा (% में) डैनियल थार्नर के हिसाब से

	1881	1901	1931
	पुरूष/स्त्री	पुरूष/स्त्री	पुरूष/स्त्री
कृषि+साधारण मजदूरी	65 + 9 = 74	68 + 6 = 74	72 + 4 = 76
उद्योग+व्यापार	16 + 2 = 18	13 + 15 = 169	9 + 6 = 15
परिवहन	8	10	9
	(केवल पुरूषों के आंकड़ों पर)		

नोट

मौरिस डी. मौरिस के मत की समीक्षा

डेविड मौरिस का तर्क है कि निरौद्यीकरण का कोई असर भारतीय उद्योगों पर नहीं हुआ। उनके अनुसार राष्ट्रीयवादी इतिहासकारों ने औद्योगिक माल के आयात की वृद्धि को ही इसका सूचक मान लिया है लेकिन ऐसा भी सम्भव है कि अंग्रेजी राज में विदेश व्यापार की मात्रा, राष्ट्रीय आय और जनसंख्या सभी में वृद्धि हो रही थी और देशी उद्योग भी नष्ट नहीं हुए। फिर वे तर्क देते हैं कि औद्योगिक उत्पाद के आयात से एक देशी उद्योग को नुकसान हो सकता है लेकिन किसी दूसरे उद्योग की तरक्की हो सकती है। जैसे लोहे के आयात से लौह-उद्योग को नुकसान हुआ लेकिन लोहे से मशीने, पुर्जे और बर्तन बनाने के उद्योगों को फायदा हुआ क्योंकि प्रचुर मात्रा में लौहा मंडियों में मिलने लगा। इसी प्रकार इग्लैण्ड की मिलों द्वारा सूत के आयात से सूत कातने वाले मजदूरों को धक्का लगा लेकिन बुनकरों को सस्ते दर पर सूत मिलने से वे कम लागत पर कपड़ा बुनने लगे और विदेशी आयतित कपड़े से प्रतियोगिता कर पाये। इसको उन्होंने औद्योगिक आयात का क्षतिपूरक प्रभाव (compenstory effect) कहा। इसके अलावा मौरिस का तर्क है कि देशी हस्तशिल्प उद्योगों की अपनी जगह थी-उनका अपना एक नीजि बाजार था जो इग्लैण्ड से आने वाले आयातित माल के बावजूद बचा रहा। इसके साथ उनके अनुसार 19 वीं सदी में भारत में कपड़े की मंडियों का विस्तार इतनी तेजी से हुआ कि इसमें घरेलू और आयात किये गये कपड़े दानों के लिए जगह थी।

इस बार सबूत बहुत कमजोर हैं कि 19वीं सदी में राष्ट्रीय आय और प्रति व्यक्ति आय बढ़ने से सूती कपड़े के बाजार का आयतन (volume) बढ़ गया और देशी उद्योगों को कोई भी नुकसान नहीं हुआ। प्रतियोगिता और विदेशी कपड़े के आयात के बावजूद अगर बुनकर और कारीगर अपने जातिगत व्यवसाय में बने रहते हैं तो यह जाति-विन्यास के कारण भी था और इस कारण भी कि उन्हें आजीविका और रोजगार के और रास्ते उपलब्ध नहीं थे। अगर आयात किये सूत मंडियों में आने से बुनकरों की उत्पादन की लागत कम हुई तो इससे सूत कातने वाले कारीगरों की आजीविका तो छीनी ही-साथ ही साथ भारतीय बुनकर के उत्पाद की लागत एक ही स्तर-सूत की कताई के स्तर पर कम हुई जबकि इग्लैण्ड के उद्योगों के लिए उत्पादन की लागत-कताई और बुनाई दोनों स्तरों पर-कम हुई और तब भी वे विदेशी उद्योगों के माल की अपेक्षा अपना माल सस्ता बेच सकते थे। देशी उद्योगों के बचे रहने का कारण-बड़े मशीनी उद्योग और छोटे घरेलू हस्त शिल्प उद्योग के बीच मंडियों की अलग-अलग फाँकों का होना (segmented markets) ना होकर उसका साहूकार-महाजनों पर आश्रित हो जाना था।

तुलनात्मक लाभ का सिद्धांत और निरौद्यीकरण

19वीं सदी में रिचर्ड कॉबडेन, जॉन ब्राइट ने और बाद में थियोडोर मॉरिसन ने तर्क दिया कि आर्थिक विकास का रास्ता है: श्रम-विभाजन। और जैसे इग्लैण्ड में अगर दक्षिण में खेती

अहौर पशु-पालन लाभप्रद व्यवसाय थे तो उत्तर में कल-कारखानों का उत्पादन। इनका मानना है कि अगर श्रम-विभाजन स्थानीय स्तर पर लाभप्रद है तो अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर श्रम-विभाजन भी इसके अनुरूप ही लाभदायक होगा। अर्थात् जिन-जिन देशों और प्रदेशों के राष्ट्रीय उत्पादन में जिस क्षेत्र (कृषि या उद्योग) को स्वाभाविक सुअवसर प्राप्त है, वह उसी में पूँजी, श्रम आदि का निवेश करके और अपने माल को अंतर्राष्ट्रीय मंडियों में बेचकर ज्यादा मुनाफा वसूल कर सकता है। अर्थात् अगर भारत एक कृषि-प्रधान देश बनकर कच्चे माल का निर्यात इग्लैण्ड के उद्योगों के लिए कर रहा था तो यह इस तुलनात्मक लाभ (comperative advantage) के सिद्धांत के अनुसार अंतर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन का ही एक नमूना था। और अगर भारतीय हस्तशिल्प नष्ट हो रहे थे तो उस पर आँसू बहाने का क्या फायदा? यहाँ यह सवाल बुनियादी महत्त्व का है कि एक पराधीन और प्रभुत्त्वशील देश के बीच का श्रम-विभाजन, किसान और लाहैर के बीच का श्रम-विभाजन या इग्लैण्ड के लंकाशायर और एसेक्स प्रदेश के बीच का श्रम विभाजन को एक जैसा कैसे माना जा सकता है? अगर यह भी मान लिया जाये कि यह श्रम-विभाजन स्वभाविक था तब भी कृषि प्रधान उपनिवेश आर्थिक विकास और औद्योगिकरण के बहुत से प्रत्यक्ष और अनदेखे लाभों से वंचित रह रहा था।

10.11 ग्रामीण अर्थव्यवस्था में परिवर्तन और सततता:

भू-राजस्व बंदोबस्त में प्रयोग

अंग्रेजी राज के दौरान भू-राजस्व वसूल करने के लिये मुख्यतया तीन प्रकार की प्रणालियाँ शुरू की गई-स्थायी बंदोबस्त, रैयतवाड़ी और महलवाड़ी। कहीं कहीं इनके संशोधित रूप भी इस्तेमाल में लाये गये। अंग्रेज शासकों ने जानबूझ कर इस जटिलता को नहीं पैदा किया! अनेक वर्षों से तरह-तरह के निरीक्षण करके, गलती करने के बाद उसमें सुधार करक और कम कोशिश से कैसे अधिक से अधिक भू-राजस्व वसूल किया जाये, हर इलाके के प्रभुत्वशाली भू-सम्पतिवान वर्गों से कैसे तालमेल किया जाये और कैसे कृषि का विस्तार हो-इन सब बातों ने भू-राजस्व प्रणालियों के ढांचे को प्रभावित किया। अंग्रेजी नीति पर बौद्धिक विचारधाराओं का अलग-अलग तरीके से प्रभाव तो पड़ा ही लेकिन साथ ही साथ स्थानीय हालातों ने भी अंग्रेज प्रशासकों पर असर छोड़ा। मूलत: तीन महत्वपूर्ण सवालों के जवाब अंग्रज शासक वर्ग को तलाशने पड़े- एक भूमि पर मालिकाना हक या स्वामीत्व किसका माना जाये, दूसरा भू-राजस्व वसूलने की जिम्मेदारी किसकी हो और राज्य को कृषि उत्पाद में कितना हिस्सा मिले। इन सवालों का जवाब अलग-अलग बंदोबस्तों में अलग-अलग प्रकार से दिया गया। इनके माध्यम से भू-राजस्व की वसूली और भूमि के मालिकाना हकों में बदलाव आया और ग्रामीण वर्ग संरचना में काफी उलट-फेर दिखने में आया। अंग्रेज प्रशासकों ने भारत के मौजूदा व्यवहार खासकर मुगल राज्य की प्रथाओं और कानूनों की नये सिरे से व्याख्या की। ब्रिटिश राज ने स्थानीय स्तर की कृषि की परिस्थितियों को भी बदल दिया। यह इस बात पर निर्भर करता था कि नई सत्ता ने मौजूदा भू-सम्पति वान वर्गों के साथ किस प्रकार क सम्बंध बनाये- उनका दामन किया या उनके साथ सहयोगी जैसा बर्ताव किया। मौलिक रूप से ईस्ट इंडिया कम्पनी की नयी सत्ता ने अपने आपको सबसे ऊपर का भू-स्वामी (Landlord) मान लिया और कहा कि राज्य हिन्दुस्तान में सर्वोच्च भू-स्वामी (Supreme Landlord) के रूप में ही स्थापित रहा है। चूंकि ईस्ट इंडिया कम्पनी का मकसद कुशलता से अधिक से अधिक भू-राजस्व वसूल करना था, इसीलिये 'कृषि की दशा सुधारने के लिए ताकि ज्यादा भू-राजस्व

नोट

वसूल किया जा सके, अंग्रेजी प्रशासकों ने भूमि के स्वामित्त्व के अधिकारों को परिभाषित करना शुरू किया और ऐसे वर्गों को तलाशना शुरू किया जिनको ये हक दे दिया जा सके। उनका मूल विचार था कि भू-राजस्व की वसूली मालिकाना हक के साथ मिला दिया जाये अर्थात बिचौलियों की बजाय भू-स्वामियों से इस काम के लिए सम्बंध जोड़ा जाये। ये विचार प्रारंभिक वर्षों में हमेशा व्यवहारिक नहीं था। पुराने सामाजिक-आर्थिक ढाँचे के बहुत से पहलू इसमें बनाये रखे गये। ब्रिटिश राज्य ने पुराने कुलीन वर्ग, जिसके पास भू-राजस्व की वसूली के हक भी थे, को निरशस्त्र करना शुरू किया। गाँव के स्तर के पद और अधिकारों को, उनकी शक्ति और महत्त्व को कम करके, बरकरार रखा गया। भू-सम्पति में पुराने शासकों द्वारा दिये गये इनाम के अधिकारों को भी पूरी तरह खत्म नहीं किया गया। लेकिन सभी इलाकों में भू-राजस्व की दरें 1830-1840 तक समान रूप से ऊँची रखी गयी। भू-राजस्व की वसूली मुद्रा के रूप में की गई।

स्वामित्त्व का हक स्थानीय परिस्थितयों पर निर्भर करता था। बंगाल और मध्य गंगा के दोआब में मालिकाना हक जमीदारों को दिये गये। इस वर्ग में ब्रिटिश पूर्व जमीदार थे और भू-राजस्व कृषक (Revenue farmers) की जमात भी शामिल थी। यह निर्णय इसलिये भी लिया गया कि जमींदार इन इलाकों में एक ताकतवर वर्ग था और कुछ इसलिए भी बंगाल के जमींदारों में ब्रिटिश अधिकारियों को इंग्लैण्ड के भू-स्वामी (Landlord) की छवि नजर आयी। जमींदारी बंदोबस्त का मशहूर उदाहरण 1793 में बंगाल में लागू किया गया स्थायी बंदोबस्त था जिसे बाद में तटीय मद्रास और उत्तर-पश्चिमी प्रांत में भी लागू किया गया। जमींदारी व्यवस्था के इलाके काफी मात्रा में लगान (rent) देने वाले वे उपजाऊ इलाके थे जो भू-स्वामी-काश्तकार-मजदूर-इस श्रेणीबद्ध संगठन को बरदाश्त कर सकते थे। जमींदारी बंदोबस्त में राज्य ने जमींदारों को मालिकाना हक इस शर्त पर दिया कि वे भू-राजस्व की एक निश्चित राशि सरकार को देते रहेंगे। पश्चिमी भारत में अंग्रेजी शासन ने विरासत के रूप में मराठा राज्य द्वारा स्थापित भू-राजस्व वसूली की नौकरशाही मिली और अंग्रेजी राज का मुख्य लक्ष्य इसे बनाये रखने का था। इन इलाकों में मिरासदारों को भूमि का मालिकाना हक दिया गया। मिरासदार गाँव के भूमि में हिस्सेदार थे। 1799-1800 में दक्षिण क्षेत्र के पोलीगरों का दमन जो उत्तर भारत के जमींदारों जैसा वर्ग था, इस प्रक्रिया का राजनैतिक मंगलाचरण था। पोलीगरों का दमन करके यहाँ कृषकों को जमीन का मालिकाना हक नीजि तौर पर दिया गया। कम्पनी प्रशासकों ने जमींदारी बंदोबस्त में जमीदारों को राज्य और किसान के बीच में जो बिचौलिये के रूप में खड़ा किया था, उसकी तीखी आलोचना की और रैयत या कृषक को भू-राजस्व की आकलन करने की पुरानी विधि जिसमें भू-राजस्व का आकलन (assessment) पूरे गाँव के लिए किया जाता था- उसको जारी रखा गया। इसमें किसानों से अपेक्षा की जाती थी कि वे अपने हिस्से आपस में बॉट लेंगे। लेकिन धीरे-धीरे किसानों के व्यक्तिगत हिस्से को मापने और आकलन करने का काम अंग्रेजी प्रशासन ने शुरू किया। पंजाब के दोआब और रोहिलखण्ड में ताल्लुकदारों का दमन करके 'ग्राम-समुदाय' (Village-community) को एक इकाई मान कर उसे भू-सम्पति का स्वामी मान लिया गया। साझा रूप से गाँव की जमीन के भू-स्वामी इस व्यवस्था में भू-राजस्व की वसूली के लिए जिम्मेदार मान लिये गये। इस क्षेत्रों के कृषि असुरक्षित थी और जनसंख्या कम- इसलिए यहाँ भूमियाँ ज्यादा लगान का राशि का निर्माण नहीं कर सकती थी। इन इलाकों में कबीले या भाईचारे के आधार पर साझा- अधिकार कायम हो सकते थे। 1830 के दशक से इन इलाकों में भी गाँव की जमीनों से भू-राजस्व के

नीजि हिस्सों का आकलन अंग्रेजी प्रशासन ने शुरू कर दिया। इस प्रकार परिभाषित करने से से हिस्से और हक बाजार में ब्रिकी लायक हक बन गये और इनका वाणिज्यीकरण शुरू हो गया।

बंगाल की स्थायी बंदोबस्त व्यवस्था में भू-राजस्व का निर्धारण स्थायी रूप से निश्चित (fixed, permanent) कर दिया गया था जबकि महलवाड़ी और रैयकबाड़ी भू-राजस्व में भू-राजस्व के आकलन को 20 या 30 वर्षों की अवधि पर संसोधित किया जा सकता था। भू-राजस्व के आकलन में अलग-अलग तौर तरीकों का इस्तेमाल किया जाता था। कहीं पर फसल के दाम का अनुमान लगा कर, उसमें से उत्पादन की लागत कम करके, जो शुद्ध उपज (net produce) बचती थी- उसका एक हिस्सा भू-राजस्व के रूप में लिया जाता था। कई बार इन उलझनों में ना पड़कर पहले से आंक गये भू-राजस्व की राशि को उपज के दाम के अनुसार कम या ज्यादा करके नये सिरे से निधारिकत किया जा सकता था।

नोट

बंगाल का स्थाई बंदोबस्त : विचार और पृष्ठभूमि

ब्रिटिश राज का भारत की ग्रामीण अर्थव्यवस्था पर सीध असर भू-राजस्व प्रणाली में परिवर्तन लाने का था। कृषि करों से प्राप्त आय की अतिरिक्त राशि से ही ईस्ट इंडिया कम्पनी भारत से किये जाने निर्यातित माल का भुगतान करती थी। कम्पनी के प्रशासकों का यह आभास भी था कि भू-राजस्व को वसूल करने की व्यवस्था ही ब्रिटिश राज्य और हिन्दुस्तानी समाज का केन्द्र थी और उनका मानना था कि हिन्दुस्तान की प्रजा उनका मूल्यांकन इस आधार पर करेगी कि क्या उनका राज सुरक्षा और सततता (security and continuity) देने में समर्थ था कि नहीं। इस भू-राजस्व प्रशासन में उनक सामने सबसे बड़ी समस्था थी कि कम्पनी का जमींदारों से रिश्ता कैसा हो? जमींदार बंगाल के नवाबों के समय के वे ग्रामीण प्रभुत्वशाली और सम्पतिवान लोग थे जो नवाबों के एजेन्ट और भू-राजस्व कृषक के रूप में काम करते हुए पीढ़ी-दर-पीढ़ी कई प्रकार की वित्तिय शक्तियाफ प्राप्त कर चुके थे। जैसा कि रंजीत गुहा ने अपनी पुस्तक, A Rule of Property of Bengal (1963) में दिखाया है कि यूरोपीय अर्थशास्त्र के आधुनिक युग का एक घराना, जिसे फिजियोक्रेट (Physiocrats) कहा जाता था, उन दिनों प्रभावशाली था और इस वाद-विवद में कि भू-राजस्व का बंदोबस्त किनके साथ किया जाये, भू-राजस्व का निर्धारण कैसे हो? अपनी वैचारिक भूमिका निभा रहा था। ब्रिटिश अधिकारियों की इस बात पर आम सहमति थी कि उन्हें नये स्थापित साम्राज्य में जमींदारों की स्थिति को बना कर रखना पड़ेगा क्यों कि बंगाल में यही वह सामाजिक वर्ग था जो सामाजिक ढ़ाचें को सततता और स्थायित्त्व दे सकता था। जमींदार वर्ग के साथ बंदोबस्त इसलिए भी मजबूरी थी कि अंग्रेज राज नया-नया स्थापित हुआ था और उनके पास भू-राजस्व के आकलन और वसूली करने के लिए कोई मजबूत नौकर-शाही नहीं थी। इसीलिये ब्रिटिश दीवानी प्रशासन को कृषि उत्पाद की गहन जानकारी के अभाव में स्थाई बंदोबस्त में भू-राजस्व की माँग बढ़ा-चढ़ा कर रखी गई। एक अनुमान है कि यह 1757 से पहले के आकलनों 20% ज्यादा थी। यह माना गया कि जमींदारों को भू-सम्पति के स्थाई स्वामित्व के अधिकार देने से उन्हें कृषि की दशा सुधारने की प्रेरणा मिलेगी क्योंकि सदा-सदा के लिए भू-सम्पति के अधिकार देने से और भू-राजस्व की राशि निश्चित कर देने से वे अपना लगान बढ़ा कर मुनाफा बढ़ा सकते थे।

पूर्वी भारत में ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा जैसे ही साम्राज्य की स्थापना की शुरूआत की गई वैसे ही उनके सामने भू-राजस्व प्रणाली को संगठित करने के जिम्मेदारी भी आ गई।

नोट

1759-60 में कम्पनी को 24 परगना, मिदनापुर और चटगाँव की जमींदारी हासिल हुई थी लेकिन 1765 में बक्सर की जीत के बाद कम्पनी को पूरे बंगाल की दीवानी का अधिकार या राजस्व और कर प्राप्त करने का अधिकार भी मिल गया। कम्पनी के प्रशासक यह तय नहीं कर पा रहे थे कि भू-राजस्व वसूल का कौन सा तरीका ज्यादा कारगर रहेगा। 1764-72 तक भू-राजस्व की वसूली का अधिकार सबसे ऊँची बोली लगाने वाले व्यक्तियों को दिया गया। इसका अन्जाम 1769-70 में बंगाल में एक भयंकर आकाल के रूप में आया। इस अवधि में भू-राजस्व के मसलों को निर्देश और विशा देने के लिए जिलों में रिवन्यु सुपरवाइजरों की नियुक्तियाँ की गई और पटना और मुर्शिदाबाद में रिवन्यु काउंसिलों की स्थापना भी की गई। 1772-77 के बीच वारेन हेस्टिंग्स ने नई इजारेदारी प्रणाली लागू की जिसमें भू-राजस्व की वसूली बोली लगाकर ही की जाती थी लेकिन इजारेदारों को एक तरह से 5 साल का पट्टा दे दिया जाता था। वारेन हेस्टिंग्स ने ईजारेदारी की नीलामी में पुराने जमींदार और भू-राजस्व कृषकों को तरजीह दी। जमा या वसूल किये जाने वाले भू-राजस्व की राशि इसमें बढ़ा दी गई। 1777 के बाद पाँच वर्षीय बंदोबस्त की बजाये दुबारा वार्षिक बंदोबस्त को अपनाया गया। ऐसा नहीं है कि भू-रजस्व का यह बोली लगाकर ऊँची बोली वाले को निलाम करने की विधि कम्पनी प्रशासन की खोज थी। पहले की भारतीय व्यवस्थाओं में इस प्रकार की भू राजसव कृषि की प्रणालियाँ मौजूद थी।

अंग्रेजी प्रशासन उन्हीं तरीकों का इस्तेमाल कर रहा था। कम्पनी प्रशासन ने इसमें एक नया पहलू जोड़ दिया कि भू-राजस्व अधिक से अधिक कैसे वसूल किया जाये इसलिए वास्तव में एकत्र किया गया भू-राजस्व नीलामी में तय राशि से अक्सर कम रहने लगा- 1777 में लगभग 2.30 करोड़ रूपये का भू-राजस्व बकाया था। इसमें अनेकों सट्टेबाजों ने भी दखलन्दाजी शुरू कर दी जिसमें कम्पनी के नौकर और भारतीय व्यापारी दोनों ही शामिल थे। इजारा पाने के लिये दरबार खर्च के नाम पर रिश्वत का चलन भी बढ़ा। नजर, रिश्वत आदि के रूप में वारेन हेस्टिंग्स ने काफी दौलत बटौरी। इसका एक सामाजिस पहलू यह भी था कि नवाबी काल के जमींदारों को कानून-व्यवस्था; सड़क और पुलों की व्यवस्था और न्यायिक अधिकार भी प्राप्त थे लेकिन कम्पनी प्रशासन ने जमींदारों को इन प्रशासनिक और सामाजिक जिम्मेदारियों से मुक्त कर दिया।

वारेन हेस्टिंग्स के काल में ही भू-राजस्व बंदोबस्तों से जुड़े महत्वपूर्ण सवाल चर्चा का विष बन गये। मसलन भूमि का मालिकाना हक किसका है? राज्य को भू-राजस्व देने की अंतिम जिम्मेदारी किसकी है? भूमि का उपज में राज्य का हिस्सा कितना होना चाहिए? क्या मुगलकालीन जमींदारों के पास भूमि का मालिकाना हक था या वे केवल राज्य और काश्तकार के बीच में बिचौलिये मात्र थे? हेस्टिंग्स का मानना थ कि सम्पूर्ण भूमि का मालिक राज्य ही है और जमींदार राज्य और किसानों के बीच भू-राजस्व वसूल करने वाले बिचौलिये या एजेन्ट ही थे इसीलिए उनका यह भी मानना था कि पुराने नवाबी काल के जमींदारों को तभी भू-राजस्व वसूली का हक दिया जाना चाहिए जब वे कम्पनी को उतना भू-राजस्व देने की गारन्टी दे जितना खुले बाजार में दूसरे लोग निलामी के आधार पर देने को तैयार थें । भू-राजस्व प्रणाली के बारे में ये जो प्रारंभिक प्रयोग चल रहे थे, वे कम्पनी को एक स्थाई और निश्चित आय देने में असफल रहे क्योंकि हर साल भू-राजस्व की वसूली से आय में उतार-चढ़ाव देखने को मिल रहा था। ये प्रयोग कृषि की दशा भी बिगाड़ रहे थे और काश्तकारों ने स्थायी बंदोबस्त की नींव रखी।

10.12 स्थायी बंदोबस्त का संचालन और परिणाम

नोट

लार्ड कॉनवालिस ने जमींदारों के साथ 1789 में एक दस सालाना बंदोबस्त किया जिसे बाद में 1793 में स्थायी करने की घोषणा की गई। 1765-93 के बीच के प्रयोगों से ही कम्पनी प्रशासन को अनेक जानकारियाँ हासिल हुई-मसलन उन्हें पता लगा कि कृषि उत्पादन की मात्रा और दाम कितना है और कृषि व्यवस्था को चौपट किये बिना कितना भू-राजस्व वसूल किया जा सकता है, और भू-राजस्व निर्धारण और वसूली में होने वाले खर्च को कैसे कम किया जा सकता है। वित्त और आय का स्थायित्त्व देने के लिये 1793 में कॉर्नवालिस ने तय किया कि भू-राजस्व की वसूली जमींदारों के हाथों में हो और वे काश्तकारों से कितना वसूल करें, इसके बारे में वे पूरा स्वतंत्र रहेंगे। लेकिन अगर जमींदार समय पर भू-राजस्व न दे सकें तो उसकी जमींदारी खत्म करके उसकी जगह दूसरा नया जमींदार बिठा दिया जाये। बार-बार भू-राजस्व निर्धारण से बचने के लिए यह भी सिफारिश की गई कि 1789-90 में जो देय भू-राजस्व था वह मोटे तौर पर काश्तकारों द्वारा जमींदारों के दिये जा रहे लगान का 9/10 वा अंश था, उसे स्थायी रूप से भू-राजस्व मान लिया जाये।

इस स्थायी बंदोबस्त के माध्यम से जमींदार और भू-राजस्व कृषकों को सरकार का एजेन्ट ही नहीं बल्कि उनकी जमींदारी में मालिकाना हक भी दे दिया गया। जॉन शोर ने घोषणा की कि "जमींदार को जमीन में स्वामीत्त्व का हक भी होगा और यह हक आनुवांशिक आधार पर होगा और अपनी जमींदारी को बेचने या गहन रखने का अधिकार उन्हें इसी मूल-अधिकार के कारण मिला था।'' सामान्यता: ब्रिटिश पूर्व कृषि-व्यवस्था में खुद-काश्त और पाय-काश्त दो तरह के काश्तकार थे खुद-काश्त काश्तकारों को जब तक वे भू-राजस्व समय पर देते रहे, अपनी जमीन पर बने रहने का अधिकार (occupancy right) भी राज्य के द्वारा या प्रथा के अनुसार प्राप्त था। स्थायी बंदोबस्त ने इन काश्तकारों के अनेक प्रकार के भू-सम्पतियों में अधिकारों को, जो उन्हें प्रथा के अनुरूप (customary right) प्राप्त थे पूरी तरह ध्वस्त कर दिया जैसे उनके चरागाह और जंगली भूमियों के सामुहिक सम्पदा के अधिकार, लगान में बढ़ौतरी से सुरक्षा देने वाले अधिकार और तालाब से मछली आदि पकड़ने का अधिकार आदि को खत्म कर दिया गया। निश्चित रूप से कम्पनी प्रशासन की रूमि काश्कारों के अधिकारों से ज्यादा इस बात में थी कि उसे प्रतिवर्ष एक निश्चित रकम प्राप्त होने की गारन्टी रहे। उन्हें यह भी पता था कि भू-राजस्व की मात्रा निश्चित (fixed) कर देने से राज्य को भविष्य में होने वाली कृषि-आय में बढ़ोतरी का हिस्सा नहीं मिल पायेगा लेकिन उन्होंने विश्वास व्यक्त किया कि यदि कृषि का सुधार और विस्तार होता है तो उससे व्यापार और उद्योगों को भी फायदा मिलेगा और उनसे प्राप्त बढ़े हुए करो और शुल्कों से यह हानि पूरी कर ली जायेगी। वे कृषि योग्य भूमि का अकुशल और अनुत्पादक वर्ग से समृद्ध और सुधार पर ध्यान देने वाले भू-स्वामियों के हाथों में हस्तांतरण चाहते थे।

चूंकि राज्य द्वारा भू-राजस्व स्थायी रूप से सदा-सदा के लिए निश्चित कर दिया गया था इसलिये अगर भविष्य में अगर कृषि से सुधार या विस्तार से भी अगर जमींदार क खेतों या जमींदारी से प्राप्त लगान में बढ़ौतरी होती या बगैर सुधार के भी अगर जमींदार अपने काश्तकारों से अधिक लगान वसूल कर सकता है तो राज्य के बजाय जमींदार ही इस राशि का हकदार बन बैठा। उसे हम अनुपार्जित आय वृद्धि (unearned increment of income) कह सकते हैं। जमींदारों की आय बढ़ौतरी का कृषि को उत्पादकता में वृद्धि या कृषि सुधार से कोई सम्बंध

नोट

नहीं था। जमीदार लगान वसूल करने में हमशा तत्पर रहते थे। वे ज्यादातर प्रवासी (absentee landlord) थे। राष्ट्रवादी नेता रमेश चन्द्र दत्त ने सथायी बंदोबस्त का काफी गुणगान किया। क्योंकि वे स्वयं इसी सामाजिक वर्ग में पैदा हुए इसलिए उन्होंने इसे अंग्रेजी राज का बेहद कल्याणकारी कदम बताया उन्हीं के अनुसार जहाँ जमींदार द्वारा देय भू-राजस्व उसके द्वारा वसूले गये लगान मूल्य का 1790 में 90% भाग था वहीं 19 वीं सदी के अंत में जमींदार राज्य को किसानों और काश्तकारों से वसूल किये गये लगान-मूल्य का 28% ही दे रहे थे। अर्थात् जमींदारों की अनुपार्जित आय में तेजी से बढ़ोतरी हुई।

स्थायी बंदोबस्त लागू करने के पीछे कॉर्नकालिस का उद्देश्य कम्पनी-शासन की राजनैतिक, वित्तिय और प्रशासनिक जरूरतें थी। राजनैतिक रूप से जमींदार वर्ग एक सहयोगी और मित्र वर्ग के रूप में काम करेगा ऐसी अपेक्षा ब्रिटिश प्रशासन की थी और इस कसौटी पर जमींदार वर्ग हमेशा से खरा भी उतरा। चूंकि ब्रिटिश शासन ने इस वर्ग की जड़े मजबूत की इसलिए लोकप्रिय किसान और काश्तकारों के प्रतिरोध के समय जमींदारों ने ब्रिटिश राज की मदद की। इसके माध्यम से कम्पनी के उतार-चढ़ाव से ग्रस्त वित्तिय स्थिति में भी स्थायीत्व आया। इसके माध्यम से अधिकतर भू-राजस्व कम्पनी बिना ज्यादा बोझ और जिम्मेदारी उठाये आसानी से प्राप्त कर सकती थी। स्थायी बंदोबस्त व्यवस्था में जमींदारों पर एकमात्र नियन्त्रण यह था कि उन्हें निश्चित दिन सूर्यास्त से पहले भू-राजस्व की पूरी रकम सरकारी खजाने में जमा करनी पड़ती थी। कम्पनी चाहती थी कि केवल योग्य और कुशल व्यक्ति ही जमींदार रहें और जो जमींदार अपनी जमींदारी से मुनाफा नहीं कमा सकें वे अपने भू-राजस्व की बकाया रकम जमा करने के लिए अपनी जमींदारी बेचने पर मजबूर हो जायें। कई बार जमींदारों द्वारा वसूल लगान की राशि में बढ़ौतरी होने पर भी उनकी महाजन-साहूकारों पर निर्भरता बढ़ गई। क्योंकि, ज्यादातर जमींदार शहरों में रहते थे और अनाप-शनाप खर्च कर रहे थे। 1769-70 के आकाल के बाद बंगाल की कृषि की दशा भी मंदी से जूझ रही थी। 1794 और 1807 के बीच सरकार को भू-राजस्व का 41% राशि उपलब्ध कराने वाली जमींदारियाँ अपने मूल जमींदारों के हाथों में नहीं थी। ये जमींदारियाँ मुख्यतया व्यवसायिक और साहूकार-महाजन वर्ग के हाथों बेची गयी। इस प्रक्रिया की वजह से किसान/काश्तकार और राज्य के बीच बिचौलियों की कतार और भी लम्बी होने लगी।

कृषि के सुधार करने के साधन के रूप में स्थायी बंदोबस्त पूरी तरह ना कामयाब रहा। पुरानी जागीरों और जमींदारियों के बिखराव से जमीन और सत्ता एसे नये छोटे भू-स्वामियों के हाथों में जाने लगी जो प्रशासनिक सेवाओं, व्यापार और व्यवसायिक सेवाओं के क्षेत्र से उभरा कुलीन वर्ग था। हालाकि इस तरह के कुछ जमींदारों ने कृषि-सुधार करने की कोशिश की और नील की खेती आदि में पूँजी का निवेश किया लेकिन अधिकांश लगानभोगी परजीवी जौंकों जैसी ही थे। कुछ हद तक जमींदारों के नीचे समृद्ध धनी किसान और कम अधिकारों वाले भू-स्वामी (under-proprietors) भी कृषि उत्पाद पर नियंत्रण बना कर और सामाजिक सत्ता का प्रयोग अपने फायदे के लिए करके स्थाय-बंदोबस्त से लाभ पाने में समर्थ रहे। ज्यादा मूल्य वाली नकदी फसलों के उत्पादन खासकर जैसे गन्ना, शहतूत, नील और अफीम से इन कुलीन जनों को फायदा हुआ जो भू-सम्पति, पूँजी और श्रम पर नियतंत्र बनाये हुए थे। हालाकि स्थायी बंदोबस्त का बंगाल के कृषि सम्बंधों पर क्या प्रभाव पड़ा इसके बारे में विद्वान अलग-अलग राय देते हैं। रत्नालेखारे का तर्क है कि जमींदारों की भू-सम्पति से दूरी

नोट

होने और उथल-पुथल वाली आर्थिक परिस्थितियों का लाभ उठा कर धनी किसान और उच्च काश्तकारी अधिकार प्राप्त वर्ग ने अपनी भू-सम्पतियों का विस्तार किया जबकि रजत दत्ता का मानना है बंगाल के ज्यादातर इलाकों में 18 वीं सदी में छोटे किसान और काश्तकार ही मुख्य भूमिका अदा कर रहे थे।

स्थायी बंदोबस्त में कॉर्नवालिस ने जमींदारो द्वारा सरकार को दिया जाने वाला भू-राजस्व या कुल जमा (भू-राजस्व की रकम) ही निर्धारित की। जमींदार अपने काश्तकारों से कितना लगान वसूल करेंगे इसकी कोई सीमा निर्धारित नहीं की। कॉर्नवालिस ने अपेक्षा की थी कि अगले चरण में जमींदार और ताल्लुकदार अपने काश्तकारों को सुरक्षा देंगे और विधिवत् अनुबंध (legal contract) के रूप में पट्टे लिख कर देंगे। उनका मानना था कि अगर जरूरत होगी तो राज्य काश्तकारों और अधीनस्थ जमींदारों के हकों के पक्ष में खड़ा होगा लेकिन वास्तविक व्यवहार में जमींदारों ने काश्तकारों को इस प्रकार के लिखित पट्टे नहीं दिये और जहाँ दिये भी गये तो जमींदारों और इजारेदारों के गुमास्तों के द्वारा दिये गये। भू-राजस्व वसूली और प्रथा द्वारा निर्धारित लगान के पुराने तौर-तरीकों को स्थायी बंदोबस्त में पूरी तरह नजरअन्दाज कर दिया गया। काश्तकारों के अधिकार और सुरक्षा पर इसका बहुत बुरा असर पड़ा। बहुत से भूमिहीन या छोटे किसान अधियार काश्तकार या बटाईदारों में बदल गये जो जमींदारों की जमीनों पर 50% फसल के लिए काम करते थे। ज्यादातर काश्तकारों की स्थिति ऐसी बन गई कि जमींदार मनमाने ढ़ग से उनका लगान बढ़ा सकते थे, उनको जमीन से बेदखल कर सकते थे या जिन्हें उत्पादन-सम्बंधी निर्णय लेने को कोई अधिकार नहीं था। जमींदारों ने लगान के अलावा भी तरह-तरह के गैर-कानूनी सामती कर जिन्हें अबवाव कहा गया, काश्तकारों से लेने शुरू कर दिये। 1799 में कम्पनी प्रशासन ने जमींदारों की लगान वसूल करने की क्षमता बढ़ाने के लिए उन्हें काश्तकारों की कैद करने जैसा अधिकार भी दिया और लगान की बकाया रकम वसूल करने के लिए उनके पशुओं की नीलामी का हक भी उन्हें दिया। हालाकि 1812 के रेगुलेशन V में इस प्रकार के अधिकारों को सीमित कर दिया गया लेकिन काश्तकार असुरक्षित ही बने रहे और गैर-आर्थिक शोषण और उत्पीड़न इस व्यवस्था का अभिन्न अंग बन चुका था।

10.13 रैयतवाड़ी व्यवस्था का वैचारिक आधार और लक्ष्य

स्थायी बंदोबस्त की कमियाँ ब्रिटिश प्रशासकों की नजर में भी जल्द ही आने लगी। उसकी सबसे बड़ी कमी यह थी कि भले ही कम्पनी को निश्चित रूप से भू-राजस्व मिलने लगा लेकिन इसमें बढ़ोतरी का रास्ता बंद हो गया। अगर बंदोबस्त के बाद किसान उत्पादकता बढ़ाते या अधिक जमीन पर खेती करते तो उसका फायदा न तो किसान को मिलना था ना ही सरकार को। इसे जमींदार और उनके एजेन्ट या इजारेदार परजीवी की तरह हज्म करते रहे। राज्य और किसान क बीच इन बिचौलियों की जमात और इस जमात की आमदनी दोनों ही में तेजी से बढ़ौतरी हुई। स्थायी बंदोबस्त के आधार पर निश्चित भू-राजस्व और जमींदार को काश्तकारों द्वारा दिये जाने वाले लगान में लगातार वृद्धि के बीच बढ़ते अंतर ने जमींदार वर्ग की ताकत बढ़ाई और इसकी स्थिति को सुदृढ़ किया। इसी संदर्भ में हम 19 वीं सदी में कम्पनी के अधिकारियों की जमींदारी या स्थायी बंदोबस्त की तीखी आलोचना को समझ सकते हैं। उन्होंने जमींदार जैसे बिचौलियों के शोषण और उतपीड़न से रैयत को आजाद कराने का एक अभियान का रूप दे डाला। लेकिन उनका मुख्य उद्देश्य किसानों को इस परजीवी वर्ग के शिकंजे से आजाद करने की बजाय कुछ और ही था। वे सीधे किसान या रैयत के साथ

नोट

भू-राजस्व का निर्धारण और इकरारनामा (agreememt) करना चाहते थे। और स्थायी बंदोबस्त की तरह भू-राजस्व की रकत निश्चित करने की बजाय 20-30 साल के बाद भू-राजस्व का दुबारा से निर्धारण करना चाहते थे। जिससे कृषि के विस्तार और प्रगति और कृषि मंडियों के फैलाव के साथ-साथ सरकार भी इस बढ़ी आय का हिस्सा प्राप्त कर सके। बंगाल के बंदोबस्त की कमजोरियों के खिलाफ प्रतिक्रिया के अलावा इस नीति में बदलाव के पीछे एक बौद्धिक विचार भी जिम्मेदार माना जा सकता है- वह था इंग्लैण्ड की उपयोगितावादी (uilitarian) अर्थनीति और विचारधारा का असर। खासकर जैरमी बैन्थम और डेविड रिकार्डो के विचारों का प्रभाव। बैन्थम का प्रभाव मुख्यतया कानूनी ढाँचे और प्रशासनिक क्षेत्र में देखने में आया और रिकार्डो का असर रैयतवाड़ी व्यवस्था के विकास में। रिकार्डो 19 वीं सदी के प्रारम्भ का इंग्लैण्ड का शायद सर्वश्रेष्ठ अर्थशास्त्री था। भारतीय प्रशासकों पर उपयोगितावादी दर्शन का प्रभाव हैलीबरी कॉलेज, जहाँ कम्पनी के सिविल अधिकारियों को प्रशिक्षण दिया जाता था, के माध्यम से पहुँचा। टॉमस मालेथस जो वहाँ अर्थशास्त्र के अध्यापक थे, उन्होंने रिकार्डो के विचार और सिद्धांतों से एलिफन्स्टन और एडवर्ड स्ट्रेची जैसे अधिकारियों को अवगत कराया। रिकार्डो ने अपनी मशहूर किताब, प्रिंसिप्लस ऑफ पोलिटिकल इकानामि (1821) में कहा कि जमींदार लोग जमीन के लिए जो लगान काश्तकारों से पाते हैं वह कुदरत की देन भूमि पर उनके एकाधिकार (monopoly) की वजह से उन्हें मिलता है। उनका उतपादन-प्रक्रिया में खुद का कोई भी योगदान नहीं रहता। मजदूर अपना श्रम लगाता है, पूँजीपति अपनी पूँजी, उद्यमी-व्यवसायी उद्योग संगठन में सक्रिय हिस्सेदारी निभाता है जबकि जमींदार कुछ भी नहीं करता और परजीवी जैसे केवल भूमि के स्वामित्व के कारण अनर्जित आय (unearned income) का उपयोग करता है। जमींदार का लगान, इस सिद्धांत के अनुसार, अधिक उपजाऊ भूमियों की उत्पादकता का अंतर मात्र है। इसीलिये जमींदारों की आमदनी पर कर लगाने से उत्पादन और आर्थिक प्रगति में कोई भी बाधा नहीं आयेगी। इसलिये सरकार को भू-राजस्व के रूप में लगान का ज्यादा से ज्यादा हिस्सा स्वंय वसूल कर लेना चाहिए। और अगर हो सके तो जमींदार वर्ग को एक बिचौलिये के रूप में खत्म कर देना चाहिए। इंग्लैण्ड की सामाजिक व्यवस्था में कुलीन भू-स्वामी वर्ग का अभी भी काफी वर्चस्व कायम था और इस तरह के विचार को वहाँ लागू करना असम्भव सा ही था लेकिन हिन्दुस्तान में उपयोगितावादी विचार से प्रभावित अधिकारियों ने यह प्रयाग करने की ठान ली। लेकिन अगर जमींदारी-व्यवस्था खत्म कर दी जाये तो किसान से लगान की वसूली किस हिसाब से की जाये। इसके लिए अंग्रेज अधिकारियों ने शुद्ध उपज (net produce) का धारण अपनाई अर्थात् कृषि-उत्पाद के कुल मूल्य में से किसान की मजदूरी और उत्पादउन में होने वाले अन्य खचों को निकाल कर जो बचे, उसका एक अंश लगान के रूप में लिया जा सकता है। यह अंश कितना हो- इस बारे में अंग्रेज अधिकारियों के अलग-अलग मत थे।

10.14 रैयतवाड़ी-व्यवस्था का विकास और संचालन

मद्रास प्रांत में रैयतवाड़ी व्यवस्था को जन्म देने में टॉम्स मुनरों की अहम भूमिका रही। बाद में एलफिन्सटन और अलेक्जैन्डर रीड़ जैसे अधिकारियों ने बम्बई प्रांत में इसी व्यवस्था को अपनाया। सैद्धान्तिक रूप से यह मान लेने से रैयत या किसान के साथ भू-राजस्व वसूली का सीधा-सीधा रिश्ता कायम करना है और यही सही रहेगा क्योंकि इन इलाकों में ऐसे बड़े जमींदार वर्ग का अभाव था जिससे बंदोबस्त किया जा सके- सब समस्याओं का निदान नहीं

नोट

था। मद्रास के उत्तरी सरकार के क्षेत्र में जमींदारी-व्यवस्था को ही आधार बनाया गया था। कैप्टन एल्कजैन्डर रीड़ और टॉमस मुनरों ने कुछ अपवाद के रूप में इलाके छोड़कर शुरू से रैयतवाडी बंदोबस्त लागू करने की कोशिश की। प्रयोग के तौर पर परम्परागत गाँव के स्तर के पटेल और अमीलदार जैसे नुमाइन्दों को बरकरार रखते हुए कन्नड़ प्रदेश, कृष्णा और तुंगभद्रा नदी के बीच के दोआब आदि क्षेत्रों में किसानों. के साथ भू-राजस्व की सीधी वसूली करने की कोशिश की गई। कम्पनी प्रशासन ने शुरू में कर्नाटक के पोलीगरों के अधिकार खत्म करने की कोशिश की लेकिन उनके विद्रोह के बाद 1803 में दक्षिण कर्नाटक में उनके जमींदारी हक कायम रखे गये। 1807-1820 के बीच मद्रास के रिवन्यु अधिकारियों के बीच जबरदस्त बहस चली कि बंदोबस्त का स्वरूप कैसा हो? क्या बंगाल के स्थायी बंदोबस्त का यहाँ विस्तार किया जाये या किसान के साथ स्थायी सीधा बंदोबस्त हो या मद्रास बोर्ड ऑफ रिवन्यु के अनुसार गाँव को एक इकाई मानकर स्थायी महलवाड़ी व्यवस्था लागू की जाये। मुनरों का मत था कि यह स्थायी रैयतवाड़ी व्यवस्था होनी चाहिए। भुनरों ने मौजूदा कुल फसल के मूल्य के 45% भाग की बजाय 33.75% हिस्सा भू-राजस्व के रूप में रखने की सिफारिश की। वे भू-राजस्व की वसूली में गाँव के स्तर के मौजूदा अधिकारी जैसे पटेल, कारनुम वगैरह को भी बनाये रखने के पक्षधर थे। ईस्ट इंडिया कम्पनी के डायरेक्टरों (Court of Directors) ने मद्रास प्रांत में अस्थायी रैयतवाड़ी व्यवस्था लागू करने का निर्देश दिया यानि किसान या रैयत की भू-स्वामी मानते हुए 20-30 साल के लिए भू-राजस्व का अस्थायी निर्धारण दिया जाये और हर 20-30 साल मे नया भूमि-कर निर्धारण हो।

भुनरों ने 1820-27 के बीच मद्रास के गर्वनर के रूप में काम करते हुए इस बंदोबस्त को लागू किया इसमें भू-राजस्व की देय राशि फसल के कुल मूल्य का मोटे तौर पर 1/3 वां हिस्सा मुद्रा के रूप में एकमुश्त वसूल करने की बात कही गई। यह रकम ब्रिटिश सरकार द्वारा नियुक्त कलैक्टरों के माध्यम से सीधे किसानों से वसूल की जानी थी। यह काम व्यवहार में इतना आसान नहीं था। इसमें कम्पनी के प्रशासनिक ढाँचे पर काफी दबाव बढ़ा दिया क्योंकि भू-राजस्व के सीधे आकलन का मतलब था कि व्यक्तिगत रैयत के खेतों का सर्वे करके उसके 'लगान' का वैज्ञानिक निर्धारण और साथ ही साथ भूमि के लगान मूल्य के बाजार भाव का ज्ञान होना, वहाँ भी जहाँ इस तरह के बाजार मौजूद ही नहीं थे। सर्वे और बंदोबस्त के माध्यम से रिकार्डो के लगान-सिद्धान्त को लागू करने में सब तरह की सैद्धान्तिक और व्यवहारिक कठिनाई सामने आई। फिर सर्वे और बंदोबस्त के काम में लगे भारतीय अधीनस्त कर्मचारियों के अपने सम्बंध और प्रभाव भी इस पर अपना असर छोड़ते हैं। इसलिए बाद में 1840 के बाद जब बम्बई में रैयतवाड़ी बंदोबस्त की नीति को सैद्धान्तिक आधार पर न रखकर पहले मौजूद दृष्टांत के आधार पर रखा गया। बंदोबस्त को और अधिक ष्वैज्ञानिक आधार देने के लिए कुल फसल के हिस्से को भू-राजस्व के रूप में लेने की बजाये, 1850 के बाद चार्ल्स बुड ने 'नेट' उपज का 50% रखने की बात कही गई। लेकिन यह इतना आसान नहीं था। इसके लिए अनेक अलग-अलग गणनाओं और आकलनों की जरूरत पड़ती थी मसलन किसी इलाके में कृषि-उत्पाद कितना है, विभिन्न उत्पादों का मूल्य बाजार-दर से कितना है, किसान का बीज, जुताई-बुवाई और पशु-पालन में खर्चा कितना है, मजदूरी के रूप में किसान-परिवार के कितने लोगों का कितने दिनों का उत्पादन श्रम माना जाये, किसान का बैल आदि का मूल्य हास कितना आँका जाये। एक बात और तय है कि रैयतवाड़ी व्यवस्था में भी भू-राजस्व का निर्धारण खास कर 19 वीं सदी के पूवार्द्ध में काफी ऊँची दरों पर किया गया।

नोट

बम्बई प्रांत में रैयतवाड़ी व्यवस्था लागू करने में इलफिंस्टन ने अपनी छाप इस पर छोड़ी। उन्होंने ग्राम-समुदाय के पुरानी कार्य-पद्धति को भू-राजस्व वसूल करने के लिए इस्तेमाल करने पर बल दिया। पटेल और कुलकर्णी जो मराठा भू-राजस्व प्रशासन के ग्रामीण आधार थे उन्हें ब्रिटिश मामलतदार और कलैक्टरों की मदद के लिए बनाये रखा गया। 1824-28 के बीच लागू किये प्रिंग्ले के बंदोबस्त में कृषि उत्पाद और उत्पादन के खर्चों के अनुमान बहुत ही त्रुटिपूर्ण थे और उन्होंने भू-राजस्व की दर शुद्ध उपज (net produce) का 55% रखी जो बहुत ही ज्यादा साबित हुई। और इसीलिए 1835 के बाद जब विन्गेट नामक अधिकारी ने दुबारा इस क्षेत्र का बंदोबस्त किया तो वह उत्पादन और खर्च के आधार पर न होकर, अलग-अलग जमीनों की उत्पादन क्षमता (productivity) और पुराने बंदोबस्त में राजस्व की दर पर आध ारित किया गया। उन्होंने किसानों की जमीनों का उत्पादकता के आधार पर सापेख मूल्यांकन (relative valuation) करके भूमियों का आनों के रूप में वर्गीकरण किया जिसे आने वारी मूल्यांकन (Annewari assessment) कहा जाता था। किसी इलाके की सबसे ज्यादा उपजाऊ जमीन को सोलह आना की भूमि कहा गया और इसी तरह बाकी के सापेक्ष मूल्यांकन भी तय किये गये। राजस्व वसूली और कीमतों के पुराने आंकड़ों के अनुसार सम्पूर्ण क्षेत्र का भू-राजस्व आँका जाता था। इसके बाद भू-राजस्व की कुल मात्रा को विभिन्न किसानों के बीच उनके पास किस वर्ग की कितनी भूमि है - इसके आधार पर बाँट दिया जाता था। 1840 के दशक के बाद अत्यधिक भू-राजस्व की दरों को नरम बनाया गया लेकिन इस 'उदार' भू-राजस्व के बावजूद कृषि-व्यवस्था के लिए रैयतवाड़ी भी विनाशकारी व्यवस्था साबित हुई। ब्रिटिश प्रशासन ने गाँव के स्तर के रैयत को खेती करने वाले किसानों की बजाय भू-स्वामी मान कर बंदोबस्त किया था। इनमें बहुत से पहले के मौजूद स्थानीय प्रभुत्वशाली कुलीन थे जिनके ब्रिटिश पूर्व शासको से भू-राजस्व वसूली के इकरारनामें थे। स्थानीय प्रशासनिक तंत्र में ये पटेल और कुलकणी के रूप में काम करने वाले क्रमशः कानून-व्यवस्था की देख-रेख करने वाले ग्राम-प्रमुख और भूमि-अधिकारो का लेखा-जोखा रखने वाले अधिकारी के रूप में काम करते थे। वेतन के अलावा इन्हें कर रहित इनाम जमीनें भी प्राप्त थी। ब्रिटिश-राज के आने से इनके सामाजिक-आर्थिक अधिकारों को ठेस पहुँची- कम्पनी प्रशासन द्वारा लादा गया भारी मात्रा में भू-राजस्व बहुत बड़ा बोझ था खास कर 1820 और 1830 के दशकों में जब कृषि-उपज के दाम गिरावट पर थे। भू-स्वामी रैयत और उच्च अधिकारों से सम्पन्न रैयत का भी बाजार-तंत्र और मुद्रा के बाजारों पर कोई नियंत्रण नहीं था। बढ़ती जनसंख्या ने जहाँ रैयत की भूमियों का विखण्डन करना शुरू किया वहीं साहूकार-महाजन पूँजी के कृषि क्षेत्र में दखलन्दाजी बढ़ाने से बड़े पैमाने पर रैयतों की जमीनों का हस्तांतरण होना शुरू हो गया।

10.15 महालवाड़ी भूमि-बंदोबस्त

उत्तर-प्रदेश के अधिकांश हिस्सों में और पंजाव एवं मध्य प्रदेश के कुछ इलाकों में भू-राजस्व की नयी पद्धति इस्तेमाल की गई। इन क्षेत्रों में काम कर रहे अंग्रेज अधिकारियों को विश्वास था कि इन इलाकों में ग्राम समुदाय की आर्थिक-राजनैतिक जीवन में एक खास भूमिका रही थी। यहाँ कलीबाई अधार पर या भाईचारे के आधार पर गाँव की जमीनों का अधिकार व्यक्तिगत ना हो कर सामूहिक था और कबीले के लागों को अलग-अलग जमीनों का अंशभाग या हिस्सेदारी मिली हुई थी। इसलिए महालवाड़ी व्यवस्था में भू-राजस्व के लिए

समझौता या इकरारनामा जमींदारों ने नहीं बल्कि पूरे गाँव के साथ किया जाता था। सारा 'महल' (फारसी में भू-राजस्व आकलन की इकाई) या गाँव सामूहिक तौर पर और गाँव का हर जमीनदार और काश्तकार अलग-अलग तौर पर भी भू-राजस्व की अदायगी के लिए जिम्मेदार माना जाता था। इस बंदोबस्त को सुचारू ढंग से चलाने के लिए गाँव के प्रभावशाली जमींदार को नम्बरदार बना कर समझौता का आधार बनाया गया। गाँव के लिए निर्धातिर पूरी भू-राजस्व की रकम को प्रत्येक निसान में उसकी जोत के आकार के हिसाब से बाँट दिया जाता था। किसान और जमींदार अपनी जमीन का भू-स्वामी तब तक बना रहता था जब तक वह समय पर निर्धारित भू-राजस्व की रकम अदा करता रहे। इस बंदोबस्त में भी भू-राजस्व का आकलन स्थायी रूप से न करके कुछ इलाकों में 20 साल और कुछ इलाकों में 30 साल के लिए किया जाता था। इस अवधि के बाद नयी राजस्व की दरें निश्चित की जाती थी।

महालवाडी प्रणाली में भी भू-राजस्व की राशि के निर्धारण का काम अंग्रेज सर्वे और बंदोबस्त अधिकार गाँव के नम्बरदार और पंचायत की मदद से करते थे। इस प्रकार हॉलाकि इसमें जमींदार वर्ग जैसा कोई मध्यस्थ वर्ग नहीं था लेकिन धीरे-धीरे गाँव के नम्बरदार और मुखिये ही बिचौलिये जैसी भूमिका निभाने लगे। इनको कुछ सरकारी विशेष अधिकार भी इन्हें प्राप्त थे जिनका नाजायज फायदा उठाकर ये गाँव की बहुत सी जमीनों पर कब्जा जमा लेते थे। उत्तर भारत में होल्ट मैकन्जी की सिफारिसों के अधार पर बंदोबस्त ग्राम समुदाय के साथ करने की कोशिश की गई। ऐसा माना लिया गया ये ग्राम-समुदाय 'सामूहिक काश्कारी' (common tenancy) का एक नमूना पेश करते थे। 1822 के रैगुलेशन VII के तहत भू-राजस्व के रूप में वसूल किये जा रही रकम को भूमि के लगान मूल्य (rental value of land) का 80% से भी ज्यादा रखा गया बाद में लार्ड बैन्टिके के समय में इसको कम करके लगभग 65-66% तक सीमित कर दिया। 1855 में डलहौजी के काल में जमींदारों के मुनाफे बढ़ाते हुए भू-राजस्व को लगान-मूल्य का 50% निर्धारित करने के सिफारिश की गई। यह सहारनपुर नियमों के नाम से किया गया। व्यापक पैमाने पर भूमि का सर्वेक्षण करके, फसलों की उत्पादकता, कृषि योग्य भूमि के नक्शे बनाकर और पैमाईश करके 1833-49 के बीच रॉबर्ट मर्टीनस बर्ड और जेम्स थॉमसन नामक अधिकारियों ने महालवाड़ी बंदोबस्त की व्यवहारिक रूप रेखा तैयार की और जिलेवार सर्वे एवं बंदोबस्त का काम किया। महालवाड़ी में भी भू-राजस्व की दरें प्रारम्भ में काफी अधिक थी और काश्तकारों को भू-स्वामी का अनुवांशिक अधिकार दिया गया।

10.16 सारांश

यह एक अहम् मुद्दा है कि किस प्रकार तकनीकी बदलाव के बिना भी कैसे बंदोबस्त व्यवस्था के वित्तिय और कानूनी तंत्र ने भारतीय कृषि में एक संरचनात्मक परिवर्तन लाने में मदद की। सह-भागिता पर आधारित भूमि-प्रणाली लागू करने में अंग्रेज अधिकारियों को यह समस्था नहीं थी कि उनको ग्राम समुदाय में सामूहिक काश्तकारी के स्वरूप के बारे में कोई गलतफहमी थी बल्कि मुख्य समस्या यह थी कि इस सामूहिक प्रणाली को, कैसे भूमि के स्वामीत्व और हस्तांतरण के हक और दावों के नये मापदंडों जिनको उन्होंने लागू किया था, के साथ जोड़ कर देखा जाये। कुछ हद तक इस समस्या से निपटारा भू-राजस्व के लिये बचनबद्ध होने के अधिकार (मालगुजारी) और स्वामित्व या मालिकाना हक को अलग-अलग किस्म के हक मान कर किया गया। हालांकि व्यवहार में, ब्रिटिश प्रशासन की कोशिश थी कि दोनों

नोट

किस्म के हक सामान्यतया एक ही व्यक्ति में विलय समझे जाये। यह अचरज की बात है कि ग्राम समुदाय को बचाये रखने के लिए ब्रिटिश प्रशासन द्वारा उठाये गये कदमों से ही इसका विघटन शुरू होता है। 1830 के बाद विस्तृत जानकारी हासिल करने वाले सर्वेक्षण और अधिकारों के रिकार्ड तैयार करने का जो अभियान महालवाडी क्षेत्रों में चलाया गया उससे भूमि के हस्तांतरण की प्रक्रिया और संयुक्त जोतों के बिखराव की प्रक्रिया को ही बल मिला। जमीन के व्यक्तिगत हिस्सों या अंशों को भी इससे गहन (mortgage) किया जा सकता था। इस नयी भू-राजस्व व्यवस्था में पहले ही ब्रिटिश-पूर्व बंदोबस्तों के लचीलेपन को खत्म करके काश्तकारों को पैसे के रूप में निर्धारित भू-राजस्व की, रकम निश्चित समय पर देने के लिए वचनबद्ध कर लिया था। इसी बढ़े हुए भू-राजस्व के दबाव में काश्तकार ने नील, गन्ना जैसी फसलों का उत्पादन शुरू किया जिससे स्थानीय अन्न का व्यापार करने वाले व्यापारियों और सूद पर पैसा उधार देने वाले महाजन-साहूकारों की स्थिति सुदृढ़ होती चली गयी। बहुत से काश्तकारों ने फलस्वरूप अपनी उत्पादन-निर्णय लेने की क्षमता और अन्ततः भूमियों के स्वामित्व के हकों से भी हाथ धोना पड़ा।

10.17 अभ्यास प्रश्न

1. ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा ग्रामीण अर्थव्यवस्था एवं हस्तशिल्प का विनाश किस प्रकार किया गया है? संक्षेप में लिखें।
2. भारतीय उद्योगों पर यूरोपीय व्यापार का आर्थिक प्रभाव क्या पड़ा?
3. भारतीय ग्रामीण अर्थव्यवस्था के विघटन के क्या कारण थे? संक्षेप में विवेचना करें।
4. ग्रामीण अर्थव्यवस्था में अंग्रेजी काल में हुए परिवर्तनों की चर्चा करें।

इकाई-11 कृषि एवं उद्योगों पर प्रभाव

पाठ-संरचना

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 वाणिज्यकरण का विस्तार

11.3 वाणिज्यीकरण के प्रभाव

11.4 बलपूर्वक लादे गये वाणिज्यीकरण (Forced Commercialization) की धारणा

11.5 वित्त की संस्थायें और ग्रामीण ऋण ग्रंस्तता:

11.6 औद्योगिक नीति

11.7 अंग्रेज सरकार की नीति एवं दृष्टिकोण

11.8 रेल निर्माण का औद्योगिकरण पर प्रभाव

11.9 विभेदकारी संरक्षण एवं औद्योगीकरण

11.10 सारांश

11.11 अभ्यास प्रश्न

नोट

11.0 उद्देश्य

19वीं सदी के शुरू से ही भारतीय कृषि में एक नयी प्रवृति उभर कर सामने आई लेकिन 19वीं सदी के मध्य से यह प्रक्रिया और अधिक तेज होती है। इसे हम कृषि के वाणिज्यीकरण के नाम से जानते हैं। 19वीं सदी के प्रारम्भ में भारत नील, अफीम, कपास और रेख आदि कृषि-उत्पादों का निर्यात करता था। ये प्रारम्भिक नकदी फसले ऐसी थी जो कम मात्रा में दी निर्यात करके अधिक मुनाफा अर्जित करने में मददगार साबित हुई। हालाकि ये ज्यादातर कृषि-उत्पाद परम्परागत कृषि उत्पाद थे लेकिन निर्यात की तरफ रूझान रखने वाले इन नकदी फसलों का उत्पादन यूरोपीय उद्यम और राज्य के द्वारा हासिल समर्थन से ही सम्भव था। इन फसलों ने किसान-उत्पादक को बहुत सीमित मुनाफे के अवसर प्रदान किये। यह बाद नील और अफीम के बारे में पूरी तरह सच थी जहाँ इसके खरीददार कुछ हद तक किसानों के उपर दबाव डालकर बलपूर्वक उनके उत्पाद को खरीद कर मंडियों में एक प्रकार का एकाधिकार नियंतत्र कायत कर चुके थे। इसके विपरीत 19वीं सदी के उत्तरार्ध में फैलते हुए विदेशी निर्यात बाजार की वजह से जिन मोटे कृषि के उत्पादों को बढ़ावा दिया उनकी जड़े कृषक-अर्थव्यवस्था में ही निहित थी। धीरे-धीरे नील और अफीम मे निर्यात में गिरावट आई और उसकी जगह जूट, खाद्यान फसलों (गेहूँ और चावल), तिलहन, मूंगफली, चाय आदि ने ली। इनमें चाय, का उत्पादन यूरोपीय पूँजी द्वारा विकसित वर्गों पर निर्भर करता था लेकिन बाकी नकदी फसलों का किसान अपने फसल चक्रक के जरिये पैदा की गई। 1880 तक आते-आते बंगाल का कच्चा जूट, बम्बई प्रेजीडैन्सी की कपास और मद्रास की मूंगफलियाँ कृषि-उत्पादन की मुख्य नकदी फसलें थी।

नोट

11.1 प्रस्तावना

कृषि के वाणिज्यीकरण का सीधा अर्थ उस स्थिति से लिया जाता है जिसमें किसान-परिवार स्वंय अपने परिवार के उपयोग की बजाय फसलों का उत्पादन बाजार और मंडियों के लिए करता है। किसान उस फसल का उत्पादन ज्यादा करेगा जिसे बेच कर वह नकद रकम और मुद्रा अर्जित कर सके। इसमें किसान यह भी देखेगा कि बाजार में अलग-अलग फसलों के दाम कितने हैं और कौन सी जमीन किस फसल के उत्पादन के लिए ज्यादा उपयोगी हो सकती है। इस तरह कृषि का वाणिज्यीकरण फसलों के विशिष्टीकरण को भी जन्म देता है। अब अलग-अलग इलाकों में अलग-अलग फसलें उगाई जाने लगती है और किसान खाद्यानों और स्व-उपभोग के लिए फसलों का उत्पादन न करके नकदी फसलों (जैसे कपास, जूट, मूंगफली, गन्ना, सरसों आदि) का उत्पादन अधिक करने लगता है। अंग्रजी-शासन भू-राजस्व में भारी बढ़ोतरी के कारण हिन्दुस्तान में कृषि का लक्ष्य ही बदल गया और किसान फसल उगाने का निर्णय उपभोग की नीति जरूरतों के बजाय बाजार की जरूरतों के अनुसार ज्यादा करने लगा। इसी के अनुसार अलग-अलग नकदी फसलों का उत्पादन बढ़ गया। नियोत-बाजार में कृषि उत्पादन का आना इस वाणिज्यीकरण की प्रक्रिया को दर्शाता है उदाहरण के लिये निर्वाह के लिए खेती की जगह श्व्यवसायीश फसलों को अपनाने का काम उन इलाकों में ज्यादा हुआ जहाँ निर्यात क लिए फसलें उगाई जाती थी जैसे बर्मा का चावल-क्षेत्र, पंजाब का गेहूँ क्षेत्र, पूर्वी बंगाल का जूट क्षेत्र और दक्कन का कपास क्षेत्र। इससे फसलों के ढाँचे में भी बदलाव आना शुरू हो गया। खाद्यान्नों की बजाय नकदी क्षेत्रों के अन्तर्गत आने वाले कृषि क क्षेत्रफल में वृद्धि होती है। 1913-14 में हिन्दुस्तान उत्पादित कपास का 56%, अलसी का 73%, कच्चे जूट का 51%, मूंगफली का 35%, और गेहूँ की उपज का 14% भाग निर्यात कर रहा था। लेकिन कृषि के वाणिज्यीकरण का अर्थ केवल कृषि-उत्पाद का बाजार में बेचने से नहीं बल्कि कृषि के में निवेश के तमाम घटक जैसे भूमि, श्रम, बीज, ऋण और उधार पर लिया जाने वाला पैसा (Credit) सभी बाजार में बिक्री के लिए आने लगे और उत्पादन के इन घटकों की गतिशीलता बढ़ती है।

11.2 वाणिज्यकरण का विस्तार

हालांकि हमारे पास ऐसे आँकड़ें नहीं है जिनसे यह पता चले कि खाद्यान्नों का कितना हिस्सा मंडियों में पहुँचता था। सरकारी आँकड़ों के अनुसार, नकदी फसलों के उत्पादन का अन्दाजा लगया जा सकता है। ब्रिटिश, भारत में (बर्मा को छोड़कर) 1901-37 के बीच खाद्यान्नों का उत्पादन (यानि चावल, गेहूँ, ज्वार, बाजरा, मक्का आदि) करने वाले खेती के इलाकों को क्षेत्रफल केवल 16% बढ़ा जबकि इसकी तुलना में नकदी फसलों की खेती के अन्तर्गत आने वाले क्षेत्रफल का तेजी से विकास हुआ- ईख (69%), रूई (59%) और सरसों (36%) वृद्धि दर्ज करती हैं। पटसन की खेती का क्षेत्रफल नहीं बढ़ा-यह 1900-37 के बीच केवल 14% ही बढ़ा। इसका कारण यह था कि पटसन की खेती के लिए बंगाल के कुछ जिलों की जमीन और जलवायु ही ज्यादा उपयुक्त थे। जार्ज ब्लिन द्वारा दिये गये आँकड़ें (नकदी फसलों के कुल उत्पादन वृद्धि और प्रति एकड उत्पादन में बढ़ोतरी) इस विस्तार की कहानी दिखाते हैं।

ब्रिटिश भारत में औसत वार्षिक वृद्धि दर (% के अनुसार) : 1891-1946

जनसंख्या	0.67
कुल फसलों का क्षेत्रफल	0.40
कुल फसलों का उत्पादन	0.37
खाद्यान्नों का उत्पादन	0.11
नकदी फसलों का उत्पादन	1.31
खाद्यान्नों का प्रति एकड़ उत्पादन	0.18
नकदी फसलों का प्रति एकड़ उत्पादन	0.86

(स्रोत : जार्ज ब्लिन, Agricultural Trends in India, 1891-1946)

नोट

इस प्रकार वाणिज्यीकरण का विस्तार भारतीय किसानों और कृषि-उत्पादकों को विश्व की बड़ी-बड़ी मंडियों से जोड़ रहा था और इसमें किसानों के उद्यम और परिस्थितियों के अनुकूल अपने आर्थिक-जवन को ढाँलने का महत्वपूर्ण हाथ था। 1850 से पहले भारतीय किसान छोटे रेशे की कपास का उत्पादन चीन की मंडियों के लिए कर रहे थे लेकिन यह कपास इंग्लैण्ड की लंकाशायर की मिलों के लिए ज्यादा उपयुक्त नहीं थी। 1840-60 के बीच अंग्रेजी सरकार ने अमरीकी कृषि-विशेषज्ञ बुलाकर किसानों को बड़े-रेशे की कपास उगाने का प्रोत्साहन दिया लेकिन इसका कोई खास असर नहीं हुआ। लेकिन 1861-65 के बीच जब अमरीकी गृह-युद्ध की वजह से अमरीकी कपास जब लंकाशायर की मिलों में आनी बंद हो गयी और मंडियों में कपास के दाम तेजी से बढ़े तो दक्कन के किसानों ने बड़े व्यापक पैमाने पर नये संकर बीजों खासकर धारवाड़-अमेरीकरन किस्म को अपनाकर बड़े रेशे की रूई का उत्पादन अपनाया। हालाकि 1860-65 का यह समृद्धि का काल अस्थायी और छोटी अवधि के लिए ही था लेकिन इसने 1870 के दशक में महाद्विपीय यूरोप में भारत की रूई के लिए एक स्थायी बाजार तैयार करने में मदद की क्योंकि यहाँ मंडियों का संरचना और मिलों की तकनीकी लंकाशायर मुकाबले भारतीय किसान उत्पादों के पक्ष में ज्यादा थी। 1900 के बाद जापान का कपड़ा उद्योग भारतीय कपास की माँग का एक अन्य महत्वपूर्ण स्रोत बन गया।

19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में कई अन्य नकदी फसलों का निर्यात के लिए उत्पादन तेजी से बढ़ा खास तौर से जूट, गेहूँ, तिलहन और चाय भू-मण्डल में सुधर रहे संचार और यातायात के कारण अंर्तराष्ट्रीय मंडियों में अपेक्षाकृत आसीन से जगह बनाने में कामयाब रहे। इस समय बर्मा के चावल के निर्यात में तेजी से बढ़ोतरी होती है। यह एक दम अलहदा विषय है कि बर्मा के इस चावल उत्पादन में भारतीय-व्यापारियों की पूँजी और हिन्दुस्तानी श्रम की ही अहम भूमिका रही थी। 1869 में स्वेज नहर के निर्माण से एशिया और यूरोप के बीच का भारी खाद्यान्नों और कृषि-उत्पाद का निर्यात और ज्यादा आसान हो गया। भारतीय गेहूँ और तिलहनों के निर्यात को इससे काफी फायदा पहुँचा। 1870-1900 के बीच यूरोप की स्वर्ण-मुद्रा की तुलना में भारतीय चाँदी की मुद्रा का अवमूल्यन भी हो रहा था और इससे भारतीय कृषि-उत्पाद को निर्यात की मंडियों में प्रतियोगिता करने में कोई विशेष कठिनाई नहीं हो रही थी। 1900 से 1920 के बीच अंर्तराष्ट्रीय मंडियों में भारतीय कच्चे जूट की माँग भी काफी रही और यह निर्यात की जाने वाली एक महत्वपूर्ण फसल थी। भारतीय के गेहूँ की माँग में अकसर उतार-चढ़ाव देखने को मिलता है क्योंकि आंतरिक यातायात की समस्याओं और अन्य लागतों के कारण भारतीय गेहूँ

नोट

के दाम अंर्तराष्ट्रीय मंडियों में अपेक्षाकृत अधिक ही रहते थे लेकिन जब दूसरे गेहूँ-उत्पादकों की फसल ठीक नहीं होती थी तब भारत के गेहूँ की माँग बढ़ जाती थी। 1902 और 1913 के बीच इंग्लैण्ड के कुल गेहूँ के आयात में भारतीय गेहूँ का हिस्सा करीब 18% था। अंग्रेजी सरकार ने प्रथम विश्व युद्ध में अन्न की उपलब्धता से चिंतित होकर भारत से अन्न के निर्यात पर पूरा प्रतिबंध लगा दिया। बाद में 19201914 के दशक में अंर्तराष्ट्रीय बाजार अन्न से भरे पड़े थे और अन्न के निर्यात-व्यापार को जिंदा नहीं किया जा सका। तिलहन के निर्यात में परिस्थितियाँ भारत के ज्यादा अनुकूल थी और 1914 तक आते-आते भारत रेपसीड और मूंगफल के सबसे बड़ा निर्यातक देश बन चुका था। घरेलू आंतरिक बाजार के विस्तार और यातायात के साधनों के विकास ने खासकर रेलवे निर्माण की 1850 के बाद विस्तार की प्रक्रिया ने भी भारतीय निर्यात-व्यापार को प्रोत्साहन दिया। रेलवे के माध्यम से भाड़े पर 1871 में 3.6 मिलियन टन सामान ढोया गया, 1901 में 42.6 मिलियन टन, 1929-30 में 116 मिलियन टन माल और 1945-46 में 143.6 मिलियन टन। इन सभी कारणों से हम पाते हैं कि घरेलू और अंर्तराष्ट्रीय मंडियों में बेचने के लिए फसलों के उत्पादन का तेजी से विस्तार होता है और यह वाणिज्यीकरण ग्रामीण अर्थव्यवस्था के विभिन्न पहलुओं- जैसे कृषि-सम्बंधों, ग्रामीण वर्ग-संरचना, मंडियों की संरचना आदि पर गहारा असर छोड़ता है।

11.3 वाणिज्यीकरण के प्रभाव

भारत की कृषि व्यवस्था पर वाणिज्यीकरण के बहुआयामी प्रभाव पड़े। इसने कृषि के क्षेत्र में क्षेत्रीय विशिष्टकरण को जन्म दिया। जो किसान अपने अपने जीवन यापन के लिए सभी के कृषि-उत्पाद पैदा करता था। अब उसी फसल का अधिक उत्पादन करने लगा जिसे मंडियों में बेचकर वह नकद रकम हासिल कर सकता था। इस प्रकार से किसान कृषि उत्पादों का खरीददार और विक्रेता दोनो ही बन चुका था। इस प्रक्रिया में किसान को लाभ मिलने की बजाय साहूकार-महाजनों को अधिक लाभ प्राप्त हुआ। निर्यात-व्यापार में व्यापारियों में व्यापारियों को ही ज्यादा लाभ मिला। किसान के भू-राजस्व की भारी माँग, साहूकार-महाजन की ब्याज की रकम और मंडियों के आढत्तियों-बिचौलियों को फसल का एक हिस्सा देने के बाद इतने पर्याप्त साधन नहीं थे कि वे कृषि में कोई बड़ा तकनीकी सुधार आदि करके उत्पादकता बढ़ा पाते। ज्यादातर किसान छोटे काश्तकार थे और पूरी तरह असुरक्षित थे। ज्यादातर छोटे किसानों के पास अपनी जरूरतों को पूरा करने के बाद बाजार में बिक्री के लिए कोई अतिरिक्त कृषि उत्पाद नहीं बचता था। इसलिए एक तरफ तेजी से कृषि-उत्पाद की मंडियों में माँग बढ़ रही थी तो दूसरी ओर कृषि-उत्पादकता में जड़ता की स्थिति बनी हुई थी।

कृषि के वाणिज्यकरण के चूँकि खाद्यान्नों की अपेक्षा नकदी फसलों के उत्पादन का चलन बढ़ा दिया इसलिए देश में खाद्यान्नों की आपूर्ति पर बुरा असर पड़ा। खाद्यान्नों का उत्पादन जनसंख्या के अनुपात में नहीं बढ़ पा रहा था और दूसरी तरफ खाद्यान्नों का निर्यात भी तेजी से किया जा रहा था। इस सबसे प्रति-व्यक्ति खाद्यान्न की उपलब्धता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। वाणिज्यीकरण की तरफ बढ़ते रूझान ने खाद्यान्न के संग्रहण (storage) की देशी पद्धतियों को भी तहस नहस कर दिया और अकालों की भीषणता के रूप में इसका असर देखने को मिला। खाद्यान्नों की जगह नकदी फसलों क उत्पादन के कारण भारतीय किसान अंर्तराष्ट्रीय मंडियों से जुड़ चुका था। इसमें यातायात और संचार के साधनों के अलावा, आधुनिक बंदरगाह-शहरों के विकास, विनिमय बैंकों और आयात-निर्यात कम्पनियों और उनक

दलाल भारतीय साहूकार-महाजनों ने पुल का काम किया। इसका सीधा अर्थ था कि अंर्तराष्ट्रीय मंडियों में होने वाली उथल-पुथल का सीधा असर भारतीय किसानों पर पड़ने लगा। 1929 की महान विश्व-स्तर की आर्थिक मंदी ने भारतीय कृषि-व्यवस्था को काफी कमजोर किया और निर्यात-आधारित कृषि उत्पादन जो 1860 के बाद से ही पनप रहा था- उसने पूँजी और श्रम के बाजारों को भी ध्वस्त कर दिया। मंदी के दौरान बहुत से छोटे किसान और काश्तकारों को अपने घरों के गहने आदि बेचकर गुजारा करना पड़ा। समुद्ध धनी किसानों ने नगदी-फसलों का उत्पादन पूरी तरह बंद नहीं किया लेकिन वे कम श्रम का इस्तेमाल करने वाली फसलों की तरफ रूख कर रहे थे। इसके साथ-साथ वे बाहर के मजदूरों की बजाय परिवार के श्रम का उत्पादन में ज्यादा इस्तेमाल करने लगे। परिणामस्वरूप, 1929-31 के बीच खेतीहर मजदूरों की आर्थिक दशा दयनीय बना दी वहीं कुछ इलाकों विशेषकर बंगाल में इनसे बटाईदारों की संख्या में भारी वृद्धि की।

नोट

हालांकि वाणिज्यीकरण का असर नकारात्मक ही रहा हो ऐसा नहीं था लेकिन एक बाद साफ है कि इसका असर सभी वर्गों के किसानों के लिए एक जैसा नहीं रहा। नयी नकदी फसलों के उत्पादन में किसानों को नये बीज, ज्यादा सिंचाई और श्रम तथा खाद आदि के रूप में ज्यादा लागत लगानी पड़ती थी। ज्यादातर छोटे-छोटे किसानों के पास संसाधनों की भारी कमी थी और ये उत्पादन के लिए महाजन-साहूकारों पर निर्भर होते जा रहे थे। धनी और समृद्ध किसानों के पास अपने साधन भी उप्लब्ध थे और अगर उन्हें साहूकार-महाजनों से उधार लेना पड़ता तब भी प्रति एकड़ कर्ज का बोझ उन पर कम ही पड़ता था और ब्याज की दरें भी गरीब और छोटे काश्तकारों की बजाय कम ही होती थी। चूँकि धनी और समृद्ध किसानों की जोतों का आकार बड़ा होता था इसलिये वे मंडियों में बेचने योग्य कृषि-उत्पाद की ज्यादा मात्रा लाकर अधि कि लाभ कमा सकते थे। बढ़ते हुए वाणिज्यीकरण का असर मंडियों और बाजारों की संरचना पर भी पड़ा। ज्यादातर इलाकों इलाकों में किसान और मंडी के बीच आढ़तियों और दूसरे बिचौलियों एजेन्टों की एक कतार खड़ी हो चुकी थी। इस बिचौलियों की कतार ही लाभ के अवसरों का फायता उठा रही थी। किसान को अगर वाणिज्यीकरण से जो संभावित लाभ हासिल हो सकता था, उसे या तो सरकार बढ़े हुए भू-राजस्व के रूप में हड़प लेती थी या लगान भोगी (Rentier) वर्ग या साहूकार-महाजनों का सूद या फिर मंडियों में आढ़तिये आदि बिचौलिये। निसंदेह 1860-1930 के बीच की ख अवधि में कई इलाकों में नकदी फसलों के उत्पादन ने किसानों के लिए लाभकारी अवसर प्रदान किये । दक्कन और खानदेश में कपास का उत्पादन, बंगाल में जूट और मद्रास में मूंगफली का उत्पादन दूसरे मुख्य उदाहरण थे लेकिन यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि बाजार केन्द्रित ये अवसर जहाँ मौजूद थे, वे कई प्रकार के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और प्राकृतिक परिस्थितियों के माध्यम में ही काम कर रहे थे। ये लाभकारी अवसर सीमित तथा कुछ सिंचित इलाकों तक ही सीमित थे। औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था में बाजार केन्द्रित लाभ के अवसर के अलावा ऐसे संस्थामूलक (institutional) पहलू भी मौजूद थे जो ग्रामीण अर्थव्यवस्था को अल्प-उपभोग और अल्प-निवेश की तरफ ढकेलते थे। ब्रिटिश सरकार ने अपनी भू-राजस्व, काश्तकारी कानून नीति और अन्य आर्थिक नीतियों के माध्यम से एक शक्तिशाली धनी, समुद्ध कुलीन वर्ग को पैदा कर दिया था जो वाणिज्यीकरण के लाभ के अवसर भी प्राप्त करता है।

कृषि-उत्पादन में वाणिज्य का विकास किसानों के लिए महत्वपूर्ण था। वेरा एन्सेटे और अन्य अर्थशास्त्री मानते थे कि साधारणतया भारतीय किसन अशिक्षित और रूढ़िवादी नजरिये

नोट

से जकड़ा होने के कारण तर्कसंगत आर्थिक निर्णय नहीं ले सकता था। 19वीं सदी में होने वाले वाणिज्यीकरण से यह बात साफ तौर पर पता चलती है कि भारतीय किसान अशिक्षा के बावजूद आर्थिक अवसरों के अनुसार अपने फैसले कर सकता था। अब यह साफ तौर से प्रमाणित है कि विभिन्न फसलों के दाम उठने और गिरने के साथ किसान के जमीन के उपयोग का गहरा रिश्ता था यानि किसी फसल के दाम अगर बढ़ते थे तो किसानों का रूझान उस फसल की खेती की तरफ होता था और उसके उल्टे फसल के दाम गिरने पर किसान उस फसल की खेती कम कर देते थे। दूसरे शब्दों में कृषि बाजार की गति के अनुसार चल रही थी। हालांकि इस बात पर विवाद है कि किस हद तक किसान स्वतंत्र रूप से अपने फैसलों के लिए जिम्मेदार थे और किस हद तक किसान स्वतंत्र रूप से अपने फैसले ले सकता था।

विद्वान में इस बात को लेकर भी बहस चली है कि वाणिज्यीकरण के अलावा किस हद तक भारतीय कृषि में पूँजीवादी तत्वों का रूझान बढ़ता है। एस०सी० गुप्ता ने कृषि-वाणिज्य के प्रसार को ही कृषि में पूँजीवादी बदलाव का लक्षण मान लिया था लेकिन डैनियल थार्नर ने 1969 में पूँजीवादी तरीके से खतेती की परिभाषा अलग तरह से की- उनके अनुसार वेतन देकर मजदूरी करवाना, बाजार और मुनाफे के ध्यान में रखकर कृषि उत्पादन करना और कृशि-उत्पादन की बिक्री से प्राप्त मुनाफे के पैसे को पूँजी के रूप में खेती में निवेश करके उत्पादन बढ़ाना ये सब पूँजीवीद कृषि-व्यवस्था को परिभाषित करते हैं। 1970 में अशोग रूद्र ने इस परिभाषा का और अधिक व्यापक किया। उनके अनुसार- किसान अगर किसी और को स्वामित्व न देकर जमीन अपने अधीन रखता है और परिवार के श्रम के मुकाबले अगर भाड़े के मजदूरों का उत्पादन में ज्यादा उपयोग करता है, खेती के लिए मशीनों का प्रयोग करता है और उत्पादन का बड़ा हिस्सा बाजार में बेच कर प्राप्त मुनाफे का दुबारा खेती में निवेश करके उत्पादन बढ़ाता है तभी माना जायेगा कि खेती पूँजीवादी तरीके से हो रही है। वाणिज्यीकरण के प्रसार से अंग्रेजी काल में भारतीय कृषि में बदलाव में आते हैं-जैसे अपने उपयोग के लिए उत्पादन की प्रकृति और प्रगति पर बाजार की कीमतों का असर पड़ने लगता है, किसानों के बीच वर्ग-विभेद बढ़ जाते हैं। और पैसे की लेन-देन बढ़ने से महाजन-साहूकारों के हाथों में किसानों की जमीन का हस्तांतरण होने लगता है जिससे कुछ हद तक किसानों में भूमिहीन और खेत-मजदूर जैसी स्थिति पैदा हो जाती है। लेकिन इन वाणिज्यवादी प्रवृतियों के बावजूद अंग्रेजी काल में भारतीय खेती आधुनिक पूँजीवादी दिशा में बढ़ती नहीं दिखाई देती। इसका एक कारण है कि अंग्रेजी सरकार पूँजीवादी अर्थव्यवस्था को कानूनी रूप से मान्यता दे देती है लेकिन उत्पादन के ढाँचे में अर्धसामंती कृषि-सम्बंधी को बचाये रखती है। एक कारण यह भी हो सकता है कि वाणिज्यीकरण तो हुआ लेकिन उसके जरिये किसानों के पास पूँजी का संचय नहीं हो पाया। कृषि-उत्पाद के बाजार की वृद्धि का वास्तविक लाभ किसानों के पास पहुँचा ही नहीं। इसका कुछ हिस्सा भू-राजस्व के रूप में सरकार के पास पहुँचा, एक हिस्सा महाजन-साहूकारों के पास सूद के रूप में और कुछ मंडियों के बिचौलियों ने हथिया लिया। जो लोग वाणिज्यीकरण का लाभ उठाते हैं वे मुख्यतया। सूदखोर ही थे। चूँकि महाजनी कारोबार में पैसा लगाने से कृषि-उत्पादन की प्रगति की बजाय ज्यादा मुनाफा कमाया जा सकता था। इस कारणों से भारतीय कृषि पिछड़ी हुई ही रही।

इस बात को लेकर कोई दो मत नहीं है कि वाणिज्यीकरण के कारण भारतीय कृषि में तेजी से महाजनी पूँजी (Usury capital) का प्रसार होता है। मार्क्सवादी लेखकों ने विशेषकर रजनीपाम दत्त की (India Today) और एस.जे. पटेल की कृषि (Agricultural

Labourers in Modern India and Pakistan) में ग्रामीण वर्ग संरचना पर इसका एक खास प्रभावप दिखाने की कोशिश की है। इस विद्वानों का मानना है कि वाणिज्यीकरण के कारण साहूकार-महाजनों ने बड़े पैमाने पर किसानों की जमीनों पर कब्जा जमाना शुरू कर दिया जिससे वे बड़ी संख्या में भूमिहीन होते चले गये और उन्होंने खेतिहर मजदूरों की श्रेणी का संख्यात्मक विस्तार किया। इसके लिए एस.जे. पटेल जनगणना के आँकड़ें भी प्रस्तुत करते हैं लेकिन जैसा कि डैनियल थौर्नर दिखा चुके हैं कि जनगणना में खेतिहर मजदूर, बटाईदार, सामान्य मजदूर और काश्तकार श्रेणियों में विभाजन ज्यादा साफ नहीं है और इस आँकड़ों के आधार पर किसी साफ निष्कर्ष पर पहुँचना मुश्किल है। दूसरी तरफ जान ब्रेमान और धर्मा कुमार जैसे लेखकों के विचार में मार्क्सवादी खेतिहर मजदूरों की संख्या को बढ़ा-चढ़ा कर दिखा रहे हैं और भारत में परम्परागत जाति-विन्यास की वजह से पूर्व-औपनिवेशिक काल में भी खेतिहर-भूमिविहिन मजदूरों की काफी बड़ी तादाद मौजूद थी। इसे केवल वाणिज्यीकरण का परिणाम नहीं माना जा सकता। पूर्व-औपनिवेशिक काल में एक तरह से बंधे हुए मजदूर (Attached labourers) के होने के भी सबूत मिलते हैं। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि वाणिज्यीकरण ने खेतिहर मजदूरों की स्थिति को प्रभावित न किया हो। सम्भवतया उनकी संख्या में बढ़ौतरी हुई लेकिन इसका सही-सही अनुमान लगाना मुश्किल है। उनको परम्परा से बंधे बंधनों से आजादी तो मिली लेकिन वाणिज्यीकरण के कारण उनकी वास्तविक वेतन (real wages) में कोई बढ़ौतरी 19वीं सदी में नहीं दिखाई देती। हॉलाकि इसमें क्षेत्र के अनुसार अंतर हो सकता है। इसको इस नजर से देखा जाये कि 19वीं सदी में कृषि से प्राप्त वास्तविक आय में वृद्धि हो रही है तो साफ लगता है गैर-वेतन आय (non-wage income) में बढ़ोतरी हो रही है और इसमें मुख्यतया छोटे-छोटे किसान की आय भी सम्मिलित थी। यानि कि वाणिज्यीकरण के कारण नगदी फसलें उगाकर छोटे-छोटे किसान भी उसका लाभ उठा रहे थे चाहे भले ही यह लाभ धनी समृद्ध किसानों को ज्यादा मिल रहा हो। धनी-समृद्ध किसानों के पास भू-सम्पतियाँ काफी थी और मजदूरों का उपयोग करके वे बड़े पैमाने पर मंडियों के लिए उत्पादन कर रहे थे। वे आसानी से साख (credit) की सुविधा जुटा सकते थे और अनेक जगहों पर स्वंय उधार पर पैसा देते थे। यानि कि धनी किसानों की आय में मुनाफे, लगान और सूद सभी शामिल होते थे। अधिकांश छोटे किसानों ने वाणिज्यीकरण के कारण जो लाभ कमाया वह उन्हें 19वीं सदी के बीच में आये महाभंयकर अकालों में गवाँना पड़ा जबकि खेतिहर मजदूरों की वास्तविक मजदूरी में अकालों के समय में काफी गिरावट दिखाई पड़ती है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि कृषि के वाणिज्यीकरण के प्रभाव वर्ग, क्षेत्र आदि पर निर्भर करते थे और एक समान नहीं थे।

नोट

11.4 बलपूर्वक लादे गये वाणिज्यीकरण (Forced Commercialization) की धारणा

1875 और 1900 के बीच अनेक अंग्रेज अधिकारियों का मानना था कि भारतीय किसान कों के बोझ से इतने दब चुके हैं कि वे गाँवों में बाहर क्षेत्रों से आये साहूकारों के हाथों अपनी भू-सम्पतियों का नियंत्रण और स्वामित्व खोते जा रहे हैं। इस प्रकार ये किसान काश्तकार और मजदूर बनते जा रहे हैं। इन विचारों के पीछे 1875 में पूना और अहमदनगर जिलों हए किसान विद्रोह की अहम भूमिका थी। इस विद्रोह में कोई जाने नहीं गयी थी केवल मारवाड़ी और गुजराती (किसी मराठा ब्राह्मण साहूकार पर नहीं) साहूकारों की सम्पति और बही खाते ही इसमें जलाये गये थे। लेकिन विद्रोह ने अंग्रेज अधिकारियों के दिमाग पर गहरा असर छोड़ा। रवीन्द्र कुमार के अनुसार 1875 के दक्कन विद्रोह की मुख्य वजह साहूकारों की बढ़ती

नोट

आर्थिक और राजनैतिक सत्ता थी और किसानों को अपनी जमीनें खो देने का डर। पंजाब में भी ब्रिटिश नौकरशाही का भी विश्वास था कि ग्रामीण अंचलों में साहूकार किसानों की जमीनें बड़े पैमाने पर हड़पने जा रहे हैं। वास्तव में 19वीं सदी के अंतिम दौर में उत्तरी और पश्चिमी भारत में साहूकारों के खिलाफ किसानों में काफी आक्रोश फैला हुआ था। भूमि के स्वामित्व के हस्तांतरण से असमानता बढ़ सकती है और किसानों में असंतोष फैल सकता है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के वामपंथी-राष्ट्रवादी इतिहास लेखन ने इसमें यह विचार भी जोड़ दिया कि साहूकार कृषि के विकास में बाधक बन रहे थे। इस मत के मुख्य तर्क इस प्रकार है कि 19वीं सदी में अत्याधिक ज्यादा भू-राजस्व होने से किसानों को खाद्यान्नों का उत्पादन छोड़ कर पूरे भारत में पैसे के रूप में राजस्व और लगान की रकम देने के लिए नकदी फसलों के उत्पादन की तरफ अपना रूख करना पड़ा। लेकिन नकदी फसलों का उत्पादन ज्यादा लाभप्रद सौदा साबित नहीं हुआ और किसानों को पैसा उधार लेना पड़ा यह पैसा पाने के लिए उन्होंने भू-सम्पति की सुरक्षा का सहारा लेकर अपनी जमीनों को गिरवी रखना शुरू कर दिया। इससे किसान कर्ज के जाल में फँस गये और किसानों की जमीनों का बड़े पैमाने पर हस्तांतरण शुरू हो गया। चूंकि साहूकारों की कृषि की दशा सुधारने में कोई रूचि नहीं थी इसलिए इसलिए कृषि में पिछड़ा पन बना रहा।

अमित भदुडी ने यह दिखाने की कोशिश की कि साहूकार कृषि में उत्पादक निवेश क्यों नहीं करते। साहूकार जब भू-सम्पति का मालिक बन जाता है तो व भूमिहीन काश्तकार से इस पर खेती करवाता है और कृषि उत्पादन का दोनों में बँटवारा तय हो जाता है। साहूकार किसानों को कर्ज देकर भी पैसा कमाता है। अगर साहूकार कृषि और भूमि में उत्पादक निवेश करेगा तो भूमि का कुल उत्पादन बढ़ जायेगा और किसान को भी ज्यादा आय होने लगेगी! उस हालत में किसान को साहूकार से पैसा उधार नहीं लेना पड़ेगा और उसे ब्याज से मिलने वाले आमदनी का नुकसान उठान पड़ेगा। इस आमदनी के खो देने के डर से साहूकार कभी कृषि में उत्पादक निवेश नहीं करेगा। इसका उल्टा तर्क दिया जा सकता है कि क्या साहूकार उस स्थिति में भी उत्पादक-निवेश नहीं करेगा जबकि इससे होन वाला मुनाफा ब्याज ब्याज के यप में खोई गयी आमदनी से ज्यादा हो। लेकिन सैद्धांतिक तर्क छोड़कर यह देखने की जरूरत है कि क्या किसानों के ऋण कृषि के विकास में बाधा पहुंचाते हैं या नहीं? इसमें संदेह नहीं है कि औपनिवेशिक काल में किसानों पर कर्ज बढ़ता है लेकिन यह किसान की पूँजी की जरूरतें पूरी करने के लिए जरूरी हो सकता है और उधार लिया गया पैसा उनकी समृद्धि की निशानी भी हो सकता है। इस विषय पर कई जरूरी सवालों का जवाब तलाशना पड़ेगा जैसे:

(i) क्या वाणिज्यीकरण किसानों पर राजस्व और लगान की माँग के कारण लादा गया?

(ii) क्या किसानों ने ऋण केवल राजस्व और लगान की भुगतान के लिए लिये?

(iii) क्या हिन्दुस्तान में 'साहूकारों' का एक अलग वर्ग था?

(iv) क्या किसान बड़े पैमाने पर भूमियों से बेदखल हुए? और

(v) क्या साहूकारों के भू-स्वामित्व से कृषि में जड़ता जन्म लेती है?

क्या वाणिज्यीकरण किसानों पर बलपूर्वक लादा गया या स्वेच्छा से उन्होंने इसे अपनाया? ऐसा लगता है कि 1800-1860 के बीच ब्रिटिश नीति द्वारा फसलों के उत्पादन का चुनाव

सीधा प्रभावित किया गया और 1860 से पहले रैयतवाड़ी क्षेत्रों में कुछ हद तक भू-राजस्व के दबाव में भी किसानों ने नकदी फसलों की पैदावार शुरू की लेकिन 1860 से पहले भी नकदी फसलों के उत्पाद में मुनाफे कमाने का मकसद शामिल था। इसके अलावा ब्रिटिश-शासन से पहले भी भू-राजस्व को मुद्रा के रूप में वसूल करने की परम्परा मौजूद थी और किसान खाद्यान्न और नकदी फसलों का उत्पाद एक साथ कर रहे थे। लेकिन इस दबावों के कारण उस स्तर का वाणिज्यीकरण नहीं हुआ था जैसे हमें 19वीं सदी के मध्य भाग में दिखाई देता है। इसका मतलब साफ है कि मुनाफे कमाने के लिए नकदी फसलों का उत्पादन शुरू किया गया होगा। बी0बी0 चौधरी ने पूर्वी भारत में दिखाया है कि 1800-1860 में भी नील, अफीम और जूट जैसी फसलों के उत्पादन में बल प्रयोग नहीं किया गया। वाणिज्यीकरण के कारण कों का बोझ सब जगह एक जैसा नहीं था और कर्ज हमेशा बुराई की जगह बहुदा किसानों की कार्यशील पूँजी की जरूरत को ही पूरा करते थे।

नोट

1860 के बाद वाणिज्यीकरण का दूसरा और ज्यादा सशक्त दौर शुरू होता है। इस समय भू-राजस्व की दरें नरम की जा रही थी। इस समय फसलों के उत्पादन के फैसले और चुनाव पर मुनाफे का असर ज्यादा दिखता है। नकदी फसलों का उत्पादन केवल भू-राजस्व अदा करने के लिए नहीं किया जा रहा था। यह तर्क किया जा सकता है कि धनी और समृद्ध किसान जो नकद फसलें उगाकर मुनाफे कमा रहे थे उन्होंने छोटे किसान और काश्तकारों को भी नकदी फसलें उगाने पर मजबूर कर दिया हो। लेकिन ऐसा करके हम धनी समृद्ध किसानों के उत्पादन में भूमिका को बढ़ा-चढ़ाकर आँक रहे हैं। यह भी एक अहम सवाल है कि क्या 19वीं सदी महाजन-साहूकारों को एक अलग वर्ग के रूप में देखा जा सकता है? यह सही है कि 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में देश के विभिन्न इलाकों में मारवाड़ी, बनिया, चोट्टियार और खत्री जैसे व्यापारी-महाजन सक्रिय थे। वे व्यापार को नियमित कर ही रहे थे कुछ हद तक भू-सम्पतियों क भी मालिक थे। लेकिन बाद में धीरे-धीरे साहूकारों की एक अलग वर्ग के रूप में पहचान और भूमि पर उनकी सत्ता धीरे-धीरे कम होती जाती है और हम पाते हैं कि कृषि से जुड़े भू-स्वामी या उच्च-अधिकार वाले कृषक ही स्वंय किसानों को कर्ज देने का काम बड़े पैमाने पर कर रहे हैं। वाणिज्यीकरण ने धनी समृद्ध किसान वर्ग को पैदा किया था और प्रभुत्वशाली किसानों की स्थिति सुदृढ़ की। यह वर्ग ही, ना कि साहूकार, अब ग्रामीण साख (rural credit) पर कब्जा जमा चुके थे।

साहूकारों द्वारा किसानों की जमीनें भी इतने बड़े पैमान पर हथियाई गयी हो ऐसा नहीं जान पड़ता। साहूकार ने कभी भी कृषि योग्य भूमियों का 10% से ज्यादा भाग कब्जे में नहीं लिया। देश के कई हिस्सों में वैसे भी इस प्रकार के कानून थे जो साहूकारों के हाथों में किसानों की जमीन के हस्तांतरण पर कई तरह के अंकुश लगा रहे थे। इन कानूनों में 1879 का दक्कन एग्रीकल्चरीस्ट रिलिफ एक्ट और 1901 का पंजाब लैंड एलिनेशन एक्ट प्रमुख थे। अगर साहूकारों की कोई अलग श्रेणी नहीं थी और उनके पास ज्यादा जमीनें नहीं थी तो यह कहना भी सच नहीं होगा कि वे कृषि-व्यवस्था की जड़ता के लिए जिम्मेदार थे। धनी किसान जो वाणिज्यीकरण के कारण विकसित हुए, वे अर्जित मुनाफे कर्ज पर भी छोटे किसानों को देते थे और नकदी फसलों के उत्पादन में हम देख चुके हैं कि उत्पादकता ज्यादा तेजी से बढ़ती है। ऐसा लगता है कि ग्रामीण भारत भारत में व्यापारिक फसलों का उत्पादन, साख, असमानता और विकास इन सबका घनिष्ठ सम्बंध था।

11.5 वित्त की संस्थायें और ग्रामीण ऋणग्रस्तता:

नोट

1. वाणिजयीकरण और साख का विस्तार : औपनिवेशिक काल में साख की लेन-देन ग्रामीण अंचलों में बढ़ती है लेकिन यह रूझान एक दम सपाट और सीधा नहीं था। यह लंबी अवधि के व्यापारिक गतिविधियों के चक्र और फसलों के उत्पादन में होने वाले उतार-चढ़ाव से प्रभावित होती है। बढ़ते हुए कृषि के वाणिज्यीकरण ने कार्यशी पूँजी के लिए जरूरी किसानों की साख (credit) की माँग को बढ़ावा दिया। फसलों के विशिष्टीकरण के कारण किसानों की उपभोग के लिए ऋण की जरूरते भी तेजी से बढ़ती है। इसके कई कारण थे। अपने स्वयं के निर्वाह के लिए उत्पादन की जगह जब किसानों ने नकदी फसलों का बाजारों के लिए उत्पादन शुरू किया, तो निर्यात की बड़ी मण्डियों के लिए उत्पादन का स्तर बढ़ गया और इस व्यापारिक उत्पादन के लिए किसानों को ज्यादा पूँजी के निवेश की जरूरत पड़ने लगी। गैर-खद्यान्न फसलों का उत्पादन करने का फैसला जब किसानों ने लिया तो हित से किसान-परिवार खाद्यानों के लिये भी बाजार पर निर्भर हो गये। फसलों से पहले खाद्यानों की खरीदारी करने के लिए किसानों को पैसा उधार लेना पड़ता था। इसके अलावा चूंकि किसान को भू-राजस्व और लगान की रकम पैसे के रूप में अदा करनी पड़ती थी इसलिए कई बार इसके भुगतान के लिए भी किसान को कर्ज लेना पड़ता था। नकदी फसलों को बाजारों में ले जाने पर भी खर्चे बढ़ गये थे और किसान को इसके लिए भी कई बार नकदी की जरूरत पड़ती थी। और सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि वाणीज्यीकरण ने अपेक्षाकृत उच्च लागत वाले कृषि के निवेशों (inputs) की माँग में काफी बढ़ोतरी की। गन्ना, कपास और तम्बाकू को ज्यादा सिंचाई और खादों की जरूरत पड़ती थी। उनमें जमीन को बुवाई के लिए तैयार करने में ज्यादा जुताईए और जमीन को एकसार करने के लिये ज्यादा पशु-धन और औजारों की जरूरत पड़ती थी। दक्कन की काली मिट्टियों पर कपास की खेती के लिए ज्यादा सिंचाई की जरूरत नहीं पड़ती थी लेकिन इनकी जुताई के लिए भारी हलों और कई बैलों की जरूरत पड़ती थी। इस प्रकार की नकदी फसलों के पैदा करने में न केवल ज्यादा पेसा लगता था बल्कि उनके तैयार होने में भी अक्सर ज्यादा वक्त भी लगता था। ये सब साख की माँग (demand) के पहलू थे।

दूसरी तरफ साख की आपूर्ति (supply) भी कई कारणों से माँग की तरह ही बढ़ती है। रेलवे के विस्तार, नयें मंडियों और शहरों का विकास तथा मुनाफे कमाने के अनेक नये अवसरों से व्यापारी-साहूकार जातियों की गतिशीलता, एक स्थान छोड़ कर दूसरे स्थान पर बसने और उस जगह अपना उद्यम जमाने की कोशिशें भी तेजी से बढ़ से बढ़ रही थी। इसी तरह से भू-सम्पति के मिल्कियत के अधिकार की शुरूआत और सिंचाई में निवेश बढ़ जाने से जमीन का ऋणाधार (collateral security) भी बढ़ता है योनि किसान भूमि की गारन्टी देकर आसानी से कर्ज पा सकते थे। नये कानून बनाये जाने से साख के सौदे ओर अधिक सुरक्षित हो गये क्योंकि अब कर्ज की रकम आसानी से वसूल की जा सकती थी। पहले इस तरह के कर्ज की वसूली प्रथा, गाँव के अधिकारियों और पंचायतों या कर्जदार किसानों और साहूकार के बीच शक्ति-संतुलन पर निर्भर करती थी लेकिन अब ब्रिटिश न्याय-व्यवस्था में कानून और अदालतों ने कर्ज की रकम की अदायगी को एक कानूनी बाध्यता बना दिया। इसके अलावा, स्थायी बंदोबस्त क्षेत्रों में और कुछ हद तक अन्य इलाकों में भी आय के रूप में लगाान का महत्त्व कम होता जा रहा है। इसलिए लगान भोगी वर्ग की कोशिश थी कि वह लगान से प्राप्त

आमदनी के साथ साहूकार के रूप में सूद से भी आमदनी अर्जित करें। इसलिए हम पाते है कि कृषि-उत्पाद और साख के बाजार एक दूसरे पर पारस्परिक रूप से निर्भर करते हैं। इनका विकास साथ-साथ होता है। हालाकि आधुनिक भारत के आर्थिक इतिहास-लेखन में साख को शोषण के प्रतीक के रूप में ही पेश किया गया है। निस्संदेह साख का विस्तार धनी लोगों की धनी बनाता है। पैसे के अभाव वाली अर्थ व्यवस्था में पैसे के साख जैसे नये उपयोग बढ़ते हैं लेकिन यह कहना मुश्किल है कि साख के कारण कृषि-व्यवस्था में गड़बड़ फैलती है या यह कृषि की जड़ता को जन्म देता है। साख के बाजार ग्रामीण अंचलों में हमेशा मुद्रा के लेन-देन के आधार पर नहीं चलते थे। कई बार साख खाद्यान्न के रूप में भी दिया था और इस प्रकार के 'खाद्यान्न-ऋण' अन्न के व्यापार से जुड़े हुये थे।

नोट

2. ग्रामीण साख की संस्थायें : ग्रामीण अंचलों में साख का कारोबार अंसगठित आध ार पर साहूकार-महाजनों के परिवारों के द्वारा ही चलाया जा रहा था। ये अपने कारोबार में व्यापार आदि में भी संलग्न थे। हम इनकी तुलना 18वीं सदी के इंग्लैण्ड के ग्रामीण बैंकरों से कर सकते हैं लेकिन इंग्लैण्ड के बैंकरो की तरह ये प्रचलन के इस्तेमाल किये जा रहे नोट जारी नहीं करते थे। साहूकार और भारत के देशी बैंकरों के बीच में भेद कर पाना भी कठिन हे लेकिन आर्थिक इतिहासकारों का मानना है कि देशी बैंकर या सर्राफ ऋण देने के साथ-साथ जमा करने के लिए पैसे भी लेते थे और देशी विनिमय-पत्र या हँडिया जारी करने का काम भी करते थे। इसके विपरित साहूकार-महाजन केवल कर्ज देते थे ना तो ये लोगों का पैसा जमा करते थे और न ही हुंडी जारी करने का काम करते थे। लेकिन देशी बंकर और साहूकारों में एक समानता यह थी कि दोनों ही अपने स्वयं के परिवार की पूँजी के आधार पर अपना कारोबार चलाते थे। ये साहूकार द्रव्य के रूप में जैसे बीज के लिए या खाद्यान्न का उपभोग के लिए कर्ज भी देते थे। इनमें से अधिकांश किसी खास क्षेत्रीय और जाति-समूह से सम्बंध रखते थे। जैसे राजस्थान के जयपुर जोधपुर क्षेत्र के मारवाड़ी, पंजाब और यूनाइटेड प्रॉविन्स के खत्री, सिंध के गुजराती, मलतानी और शिकारपूरी, तमिलनाडु के नाटुकोट्टहि चेट्टयार आदि । एक और खास बात यह थी कि इस्लाम में सूदखारी के उपर प्रतिबंध होने के बावजूद इसमें मुसलमान साहूकार भी शामिल थे जैसे अफगानिस्तान और नार्थ-वैस्ट फर्नटियर प्रॉविन्स के पठान, हैदराबार में बसे अरब और दशिण में त्रिरिचिनोपल्ली जिले के घुमक्कड़ मुसलमान व्यापारी और सौदागर। इसके अलावा धनी समृद्ध किसान परिवार भी साहूकारी का कारोबार करने लगे थे और इनके कर्ज देने की शर्ते व्यवसायिक साहकारी से अलग बिल्कुल नहीं थी। हालाकि हमें साहूकारी के मोटे-मोटे लक्षण सब पता हैं लेकिन उनके क्रिया-कलापों और कार्य-विधियों की गहरी जानकारी नहीं है। क्योंकि इनका कारोबार गुप्त तरीके से, बिना अपने काम का पूरा विस्तृत लेखा-जोखा लिखे कानूनी बाध्यता से बाहर चलात रहता था।

इस गैर-संस्थामूलक क्षेत्र का आकार, कारोबार करने वाले व्यक्तियों की संख्या कारोबार की मात्रा या आंतरिक-व्यापार में इनके वित्त का हिस्सा-इस सबका केवल अंदाज ही लगाया जा सकता है। टुटे-फूटे सबूतों के आधार पर इस असंगठित देशी बैंकरों और साहूकारों के भारत में ऐतिहासिक विकास की तस्वीर खींच पाना मुश्किल है। यह काई अचरज की बात नहीं है कि 19वीं सदी के उत्तरार्ध और 20वीं सदी के शुरू में ब्रिटिश सरकार द्वारा स्थापित सरकारी कमीशनों या जाँच कमेटियों में, जो बैंकिंग और वित्त के समस्योओं की जाँच के लिए बनाई गयी, असंगठित बैंकरों और साहूकारों की सुव्यवस्थित जानकारी नहीं मिलती। 1929 में सेन्ट्रल बैंकिंग इन्क्यारी कमेटी और इससे जुड़ी प्रतीय जाँच कमेटियों में भी असंगठित वित्त सरकारी

नोट

चिंता का मुद्दा बनता है। ऐतिहासिक दृष्टि से, साहूकार और देशी बैंकरों की गतिविधियाँ काफी पुरानी थी और ये बहु-आयामी था। जैसे थेक और खुदरा व्यापार, जमा-राशि करना, वयक्ति, संस्थाओं और राज्य को कर्ज देना, एक जगह से दूसरी जगह रकम भेजना, हुंडी या विनियम-पत्र जारी करना या कमीशन लेकर उनका भुगतान करना, सरकारी टकसालों के मालिक होना, मुद्रा का विनिमय करना या सरकार के लिए राजस्व की वसूली। समय-समय पर आर्थिक-राजनैतिक परिवर्तन इनके कारोबार को प्रभावित करता था जैसे 1778 में देशी एजेन्सी के माध्यम से राजस्व वसूली बंद करने से इनके कारोबार पर असर पड़ा। इसी तरह 1835 में पूरे देश में रूपये के एक जैसे समान सिक्के जारी किये जाने से इनका मुद्ररअरें के विनियम करने का लाभप्रद कारोबार बुरी तरह प्रभावित हुआ। लेकिन इसके बावजूद इन साहूकार-महाजनों का मुख्य कारोबार-जा कृषि और व्यापार के लिए लघुकालीन और मध्यम-काल के ऋण की सुविधायें मुहैया कराना था-उसका महत्त्व या आकार कभी कम नही हुआ। अगर हम केन्द्रीय बैंकिकग इन्कवायरी कमेटी (1929) का विशवास करें तो उस समय भी भारत में असंगठित मुद्रा बाजार देश के आंतरिक व्यापार का 90% भाग को वित्त की सुविधा प्रदान कर रहा था। इसी प्रकार मद्रास बैंकिंग इन्क्वायरी, कमेटी ने पाया कि दक्षिण भारत में किसानों 75% कर्ज साहूकारों से ही प्राप्त किये थे। हालाकि असंगठित क्षेत्र का आंतरिक व्यापार में कितना हिस्सा था-यह विवाद का मुददा हो सकता है लेकिन इसमें कोई शक नहीं है कि 1858-1947 के बीच मोटे तौर पर इसके ही द्वारा देश के आंतरिक व्यापार और कृषि-उत्पादन को वित्त की सुविधा उपलब्ध कराई जा रही थी।

3. महाजनी पूँजी और औपनिवेशि राज्य का रवैया : भारत की मुद्रा-प्रणाली और वित्तिय कार्य-प्रणाली के इतिहास की एक विशेषता यह थी इसमें सर्वव्यापी साहूकार का उच्च सूद की दर जो अक्सर 50% से अधिक होती थी और उससे जुड़ी तमामा बुराइयों के बावजूद, वह ग्रामीण-साख की आध पार शिला का काम कर रही थी। प्रांतीय सरकारों द्वारा उठाये गये कर्ज के निपटारे और समझौते के कदमों में कानून के माध्यम से परिस्थितियों में सुधार करना प्रमुख था। कुषि प्रांतीय सरकारों का ही विषय था। 1879 में Deccan Agriculturists Relief Act पास किया गया। इस कानून ने अदालातों को वास्तविक ऋणग्रस्तता निर्धारित करने का अधिकार दिया और स्पष्ट गिरवी को छोड़कर अदालत को हद से जयादा अमर्यादित ब्याज की दर की भुगतान और किसान की जमीन की कर्ज के लिए बिक्री पर रोग लगाने को अधिकार और सत्ता दी गई। इसी तर्ज के लैड एलिनेशन एक्ट पंजाब, यू. पी. सेन्ट्रल प्रॉबिन्स आदि में पास किय गये। 1918 के Usurious Loans Act के माध्यम से राज्य ने कर्जदार किसानों को राहत देने की कोशिशश की। इस कानून के द्वारा अदालतें दामदुपट के नियम को लागू कर सकती थी। इस नियम के अनुसार कोई भी कर्जदार मूलधन से ज्यादा मात्रा में ब्याज देने के लिए बाध्य नहीं था। इसके अलावा अदालतें अपनी पहल पर पुराने मुकदमें दुबारा खेल कर ऋण की शर्ते न्यायसंगत तरीके से लागू करवा सकती थी। लेकिन ये कानूनी कदम संचित औरी विरासत न्यायसंगत तरीके से लोगू करीवा सकती थी। लेकिन ये कानूनील कदम संचित और विरासत में मिली ग्रामीण ऋणग्रस्तता की स्थिति को सुधारने में नाकामयाब रहे क्योंकि केन्द्रीय बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी के अनुमान के मुताबिक, भारत के किसानों के उपर 90 बिलियन रूपये के कर्ज को बोझ था। 1929 की विश्व स्तरीय मंदी के कारण जिस तेजी से कृषि-उत्पाद के दाम गिरते है उससे ऋण और कर्ज की समस्या और भी विकट हो गयी। किसानों की कर्ज चुकाने में नाकामयाबी के कारण इस समय बड़े पैमाने पर किसानों की जमीन हड़पने के लिए साहूकारों ने अदालतों में मुकदमें दर्ज किये। सरकार के द्वारा इस

नोट

परिस्थिति से निपटने के लिए यू०पी०, पंजाब, सेन्ट्रल प्रॉविन्स, बेराड़ और मद्रास में अदालतों के आदेशे पर प्रतिबन्ध लगाने वाली अधिसूचनायें जारी की। इसी प्रकार 1999–1936 के बीच कई प्रांतों ने Debt Conciliation Acts पास किये। इन कानूनों के द्वारा नीजि साहूकारों द्वारा किसानों को दिये कों का निपटारा करने के लिए, उन्हें किसंगत स्तर पर निश्चित करने उन कों को आसानी से किश्तों में चुकाने की व्यवस्था की गई। इन कर्जा में सरकार, सहकारी समितियों और बैंकों द्वारा दिये गये कर्ज शामिल नहीं किये गये थे।

इस अवधि में कई अन्य किस्म के कानूनी कदम भी सरकारों के द्वारा उठाये गये। शुरू में 1930 में पंजाब सरकार ने साहूकारों की गतिविधियों पर अंकुश लगाने के लिउ पंजाब रैगूलेशन ऑफ एकाऊन्टस एक्ट पास किया। इस तरह के साहूकारों पर नियंत्रण रखने वाले कानून कई दूसरी प्रांमतीय सरकारों ने भी पास किये। सामान्यतया इन कानूनों में, जो एक समान नहीं थे, साहूकारों के अनिवार्य पंजीकरण और उन्हें लायसेन्स देने की व्यवस्थ लागू की गई इसके अलावा इनमें साहूकारों अपने लेन–देने और हिसाब का उचित लेखा–जोखा रखने और कर्जदारों को उनके द्वारा चुकाये गये ब्याज और मूलधन की रकम की रसीदें देने का भी प्रावधान रखा गया था। 1918 के यूजूरियस लोन–एक्ट में कई प्रांतीय सरकारों ने साहूकारों द्वारा लिये जा रहे बेशुमार ब्याज की जगह ब्याज की अधिकतम हद तय करने की कोशिश की थी लेकिन यह सबसे प्रभावहीन कानूनी कदम साबित हुआ था। साहूकार–विरोधी कानूनों के नाकामयाब होने की एक वजह यह भी थी कि कर्जदार किसान साहूकारों के खिलाफ, जो उनके लिए साख के अकेले स्रोत थे, अदालतों में मुकदमें ही लड़ना नहीं चाहते थे। अदालतो में मुकदमें ही लड़ना नहीं चाहते थे। केवल कानूनी खामियाँ ही इन कानूनों की असफलता का कारण नहीं था।

यह एक महत्त्वपूर्ण सवाल है कि भारत में सार्वजनिक नीति पर उपयोगितावादी दर्शन का प्रभाव होने के बावजूद, ब्याज की दर पर अधिकतम कानूनी सीमा को खत्म नहीं किया गया। विलियम बैन्टिक ने हॉल्ट मैकनजी को आगाह किया था कि सरकार की इस तरह की तरफदारी और पूर्वाग्रह के बारे में हम कह सकते हैं कि भारत जैसे परम्परागत देश में महाजनी पूँजी और सूदखोरी सम्बंधी कानून के मनोविज्ञानिक और सामाजिक भय दिखाने वाले प्रभावों को पूरी तरह नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता था। इसके साथ जुड़ी हुई यह दिक्कत भी थी कि हिन्दूस्तान में व्यवसायिक साहूकारों को अलग से पहचान पाना की मुश्किल था क्योंकि ये ज्यादातर सूदखोरी को व्यापार आदि अन्य व्यवसाय के साथ–साथ ही चला रहे थे। केन्द्रीय बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी, इन्ही कारणों से साहूकारों के अनिवार्य या स्वेच्छा से पंजीकरण के खिलाफ थी और इसके बजाये उसने यह सिफारिश की कि सहकारी साख की सोसायटियाँ और संयुक्त पूँजी बैंकों के विस्तार से अत्यधिक ज्यादा ब्याज के दरें कम करने मे मदद हासिल की जाये और किसानों ने शिक्षा का प्रसार किया जाये। इस कमेटी ने यह सुझाव भी दिया कि साहूकारों को सहकारिता अभियान के दायरे में लाया जाय और इनकी गतिविधियों को एजेन्ट और पार्टनर के रूप में संगठित बैंकों से जोड़ दिया जाये। इसके प्रकार के सहयोग के लिए कमेटी का एक अन्य सुझाव था कि यह जर्मनी की 'कोमनदित' जैसी प्राणाली पर आधारित हो जहाँ बैंक ग्रामीण इलाकों में अपनी खाखा खोलने के स्थान पर स्थानीय साहूकार का ही पार्टनर बन जाता था। इससे बैंक साखा खोलने के ऊपर–खर्ची से बच सकता था और वह साहूकार के स्थानीय ज्ञान और जानकारी के साथ–साथ उसके असीमित उत्तरदायित्व का लाभ भी उठा सकता था।

नोट

यहाँ सहकारिता-साख (Co-operative-Credit) का उल्लेख करना भी उचित होगां सहकारिता संस्थाओं की वास्तविक उपलब्धियाँ बहुत ही निराशाजनक थी। लेकिन सरकारी अधिकारियों ने उनके विकास पर हुत बल दिया और उन्हें ग्रामीण ऋणग्रस्तता और ऊँची ब्याज की दरों से लड़ने का और गाँव में साहूकारों के दबदबे को कम करने का साधन माना। भारत में सहकारिता आंदोलन का ऐतिहासिक महत्व इसलिए भी है कि पश्चिमी देशों के बाहर इस दिशा में प्रयोग करने वाला पहला देश भारत ही था। हालाकि 19वीं सदी के अंत में हिन्दुस्तन में कुछ सहकारिता संस्थाओं का पंजीकरण कम्पनी एक्ट के तहत हो चुका था लेकिन इनके विकास के लिए विधि-सम्मत ढाँचा 1904 में कॉपरेटिव सोसायटीज एक्ट ने तैयार किया। इसने 18 साल की उमर से ज्यादा के 10 या अधिक लोगों को क्रेडिट और थ्रफ्ट सहकारी संस्थायें गठन करने का रास्ता साफ कर दिया। ग्रामीण सहकारिता संस्थाओं के लिए सदस्यों के असीमित उत्तरदायित्व का नियम अपनाया गया। ये संस्थायें सरकार के जाँच-पड़ताल के दायरे में थी लेकिन इन्हें आयकर, स्टाम्प कर और पंजगीकरण फीस से मुक्त रखा गया था। 1915 में सहकारिता संस्थाओं के ऊपर मैकलागन कमेटी की सिारिश पर लगभग सभी प्रांतों में 1930 तक प्रातीय कॉपरेटिव बैंकों की स्थापना की गई। सहकारिता समितियों की, संस्थान की दृष्टि से, तेजी से प्रगति हुई लेकिन व्यापारिक बैंकों के कारोबार की तुलना में और ग्रमीण-आश्रित जनसंख्या के केवल 5% ही थी। खराब प्रबंध, सरकारी पर निर्भर होना तथा धनी समृद्ध किसानों का दबदबा होना इन कॉपरेटिव संस्थाओं की कुछ मुख्य कमजोरियाँ थी और यही कारण था कि कॉपरेटिव संस्थायें व्यवसायिक साहूकारों या खेती करने वाले धनी किसान-साहूकारी को कोई निर्णायक चुनौती दे पाने में असमर्थ रही। कॉपरेटिव संस्थाओं की एक ओर मुख्य कमजोरी रही कि ये किसानों को उपभोग की जरूरतों के लिए कर्ज नहीं देती थी और इस क्षेत्र में व्यवसायिक साहूकार किसानों की जरूरतों को पूरा करते रहे।

4. ग्रामीण-साख के कुछ अन्य पहलू : ब्रिटिश अधिकारियों के लिए बाहरी, शहरी साहूकारों को ग्रामीण अर्थव्यवस्थ के मुख्य भक्षक के रूप में प्रस्तुत करके 1870-1900 के बीच के किसान असंतोष को समझना जरूरी था। वे कृषि उत्पादन में समय-समय आने वाली गिरावट का कारण भी जानना चाहते थे। लेकिन निवेश और उपभोग के लिए साख के बाजार का निमार्ण केवल 19वीं सदी के औपनिवेशिक प्रभावों का ही नतीजा नहीं था। साहूकारों के कृषि और किसान के जीवन पर प्रभाव को बढ़ा-चढ़ा कर आँकने की पूरी गुंजाइश थी। यहाँ तक कि निश्चित रूप से वाणिज्यीकरण के कारण किसानों की जमीनों का महाजन-साहूकारों के हाथों में कितना हस्तंतरण हो रहा था, यह कहना मुश्किल है। बम्बई प्रेजेडैन्सी में जहाँ दक्कन एग्रीकल्चरीस्ट रिलिफ एक्ट के तहत भूमि के गैर-कृषि वर्गों के हाथों में हस्तांतरण को दर्ज करना जरूरी, वहाँ 1875 और 1910 के बीच साहूकारों के हाथों में किसानों की भूमि का हिस्सा 6% से बढ़कर 10% के लगभग ही हुआ था। महाजन-साहूकारों के लिए इस तरह की जमीनों को प्रबंधन करना और उन पर उतपादन करवाना इतना आसान नहीं था।

यह देखा जा सकता हे कि 1870-1930 के बीख ग्रामीण-साख का मुख्य साधन और स्रोत साहूकार न होकर गाँव में बसे और कारोबार कर रहे वे धनी भू-स्वामी थे जो निर्यात-प्रेरित नकदी फसलों के उत्पादन से लाभ कमा रहे थे। एक पूरी तरह आत्म निर्भर किसान परिवारों की तस्वीर जो शहरी साहूकारों और सूदखोरों के हथकण्डों का शिकार बन गये, जिस तस्वी के बारे में ब्रिटिश शासक, राष्ट्रीयवादी और वामपंथी इतिहासकार एकमत नजर आते हैं- वह 1850-1947 के बीच की भारत की राजनैतिक अर्थव्यवस्था और कृषि के विनिमय और

उत्पादन की सही तस्वीर नहीं दिखाई पड़ती। 1930 के दशक में साहूकार-महाजन विराधी कानून बनने से केवल वे साख की पूर्ति करने वाले भू-स्वामी ही लाभ उठा सकते थे जो गाँव में भू-सम्पत्ति की भी नियतंत्र कर रहे थे। ये लोग भी उनके ऋणों का भुगतान भू-सेवाओं के रूप में करने पर मजबूर कर सकते थे। यही वजह थी कि बंबाल में 1930 के दशक में बटाईदारों (Share-croppers) की संख्या तेजी से बढी। यह सब 1935 के साहूकार-विरोधी कानून में ऋण-भुगतान बोर्डो की स्थापना के माध्यम से तेज गति से बढ़ रहा हे जिनमें स्थानीय जोतदार मुख्य भूमिका निभ रहे थे। जोतदार ही वे भू-स्वामी थे जो खेती का निरिक्षण कर सकते थे तथा बटाईदारों से श्रम-सेवाओं या द्रव्य-रूप में कृषि-उत्पाद हासिल कर सकते थे। इस वर्ग ने अपनी स्थिति सुदृढ़ करते हुए व्यापार पर निर्भर साहूकार-महाजनों की जगह साख की आपूर्ति करने वाले वर्ग की जगह प्राप्त कर ली थी।

नोट

हालांकि ग्रामीण ऋणग्रस्तता के बारे में विद्धानों ने किसानों के आर्थिक जीवन पर अलग-अलग तरीके से असर देखने की कोशिश की है लेकिन एक बात साफ तौर से दिखाई पड़ती है कि कई महत्वपूर्ण कारणों से ऋणों का लेन-देन और सूदखोरी का कारोबार अंग्रजी-राज के दौरान पनपता है। यह प्रक्रिया इस कारण से भी बढ़ी कि किसान कर्ज पाने की दृष्टि से ज्यादा समर्थ हो गया और इसलिए भी कि बाजार-केन्द्रित कृषि-प्रणाली विकसित होने के कारण इसने किसानों को कर्ज लेने के लिए प्ररित, विवश और बाध्य किया। हम कह चुके हैं कि अंग्रेजी-राज की उदारवादी (liberal) विचारधारा में भू-स्वामित्व पर बल दिया। इसी के कारण किसान आसानी से जमीन की गारन्टी देकर साहूकार-महाजन या दूसरे भू-स्वामी से कर्ज प्राप्त कर सकता था। अंग्रजी राज की न्यायियक-व्यवस्था और कानेनों को ढ़ाँचा भी इस तरह का बना कि यह अनुबंध की पवित्रता (sanctity of contract) पर आधारित यानि कर्जदार को कर्ज चुकाने की जिम्मेदारी निभानी पड़ती थी और ऋण देने वाला साहूकार मूलधन और ब्याज पाने का हकदार था और अगर कर्जदार असमर्थ होता तो उसके सम्पति के दूसरे साधनों से इसकी रकम वसूल की जा सकती थी। इस काल में किसानों को उधार लेने के लिए प्ररित करने वाले अनेक कारण थे। कम्पनी शासन के शुरू के वर्षों में, बंदोबस्त चाहे जिस प्रकार का रहा हो, सभी में भू-राजस्व की मात्रा में अभूतपूर्व वृद्धि होती है। भू-राजस्व की दरों का बोझ 1850 तक अत्याधिक जयादा था चाहे बाद में इसे तर्कसंगत बनाने की कोशिश की गई। 19वीं सदी के शुरू में जब कृषि-उत्पाद के मूल्य भू-राजस्व की उल्टी दिशा में गतिमान थे, किसानों के लिए ऋण ले रहे हो ऐसा नहीं था। 19वीं सदी में अनेक बार देश के अलग-अलग हिस्सों में भयंकर अकाल और प्रकृतिक आपदाओं का सामना किसानों को करना पड़ता है। उत्पादन कार्य और कृषि में निवेश के लिए किसान को साख की सबसे अधिक जरूरत पड़ती थी लेकिन अंग्रेज अधिकारियों ने अक्सर यह तस्वीर पेश करने की कोशिश की कि भारतीय किसान विवाह-शादी आदि में ओर अंधविश्वासों के कारण धार्मिक तथा त्योहार आदि के अवसरों पर बहुत ज्यादा उधार लेता था। कई बार सुधारकों ने भी जैसे महाराष्ट्र के ब्राह्मणवाद-विरोधी सतय-शोधकों ने ब्राह्मणों - सेठों के धार्मिक रीति-रिवाज और अनुष्ठानों को किसान-कनबी और निम्न जातियों-शूद्र-अति-शूद्र की ऋणग्रस्त का जिम्मेदार माना। राष्ट्रचसी जसे अंग्रेजी-राज की आर्थिक आलोचना कर रहे थे उन्होंने इस मत का खण्डन किया कि भारतीय किसान सामाजिक और धार्मिक अनुष्ठानों के कारण कर्जदार बन रहे थे। कई अध्ययनों में यह पाया गया कि किसान द्वारा उत्पादन के लिए लिये कों का अनुपात अन्य सभी प्रकार की वजहों से लिये गये कर्जा से ज्यादा था।

नोट

5. ग्रामीण ऋणग्रस्ता की मात्रा : जैसा कि हम कह चुके हैं कि अंग्रेजी राज के दौरान अनेक कारणों से किसानों पर कों को बोझ बढ़ा और ब्याज की दरें भी बहुत अधिक होती चली गई। यूरोपीय व्यापारियों के द्वारा भारत के आंतरिक व्यापार पर कब्जा करने और बड़े व्यापारी वर्ग को अपने अधीनस्त रखकर काम करवाने के कारण कुछ हद तक व्यापारिक पूँजी महाजनी पूँजी में तबदील हो गयी। कुल ग्रामीण ऋणग्रस्तता के बारे में कोई ठीक-ठीक आँकड़े तो उपलब्ध नहीं है लेकिन अनेक कमीशन जाँच समितियाँ (सरकारी और गैर-सरकारी) के द्वारा समय-समय पर अलग-अलग क्षेत्रों के लिए दिये गये अनुमानों और गुणात्मक सबूतों से इसके विसतार के बारे में संदेह की गुंजाईश नहीं रहती। 1880 के अकाल कमीशन की जाँच में यह बात कही गई कि सभी प्रांतों में किसान कर्ज के बोझ से दबे पड़े थे। 1880 के अकाल कमीशन ने एक मोटा सा अनुमान लगाते हुए कहा कि भू-स्वामी कृषकों में 1/3वां भाग गम्भीर और बुरे तरीके से कर्ज में डूबा हुआ था और लगीग इतने ही किसान हल्के कर्ज का बोझ ढ़ो रहे थे अर्थात् 2/3 किसान किसी न किसी रूप में कर्जदार बने हुए थे। 1928 के रॉयल एग्रीकल्चर आयोग ने भी अपनी रिपोर्ट में इस बात को माना कि ग्रामीण कों में काफी बढ़ोतरी हुई थी। 1929 की महान आर्थिक मंदी ने ऋणग्रस्तता की समस्या को और अधिक भयावाह बना दिया। 1930 में सेन्ट्रल बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी की रिपोर्ट के अनुसार हिन्दूस्तन में किसानों के उपर 900 करोड़ रूपये के कर्ज थे सम्भवतया 1930 के दशक में इनमें और अधिक बृद्धि हुई होगी क्योंकि इस समय कृषि-उत्पाद के दाम तेजी से गिरने के कारण किसानों के जीवन-निर्वाह काफी मुश्किल हो रहा था। ब्रिटिश काल में काफी किसान अपने खेतों को गिरवी रख रहे थे। एम0 एल0 डार्लिंग ने अपने पंजाब के किसानों के बारे में अध्ययन, "दि पंजाब पीजेन्ट इन प्रोस्पेरिटी डेट" (जेम च्नदरंइ च्मेंदज पद च्तवेचमतपजल दंक क्मइज) में पंजाब प्राप्त किसानों पर बढ़ते जा रहे कर्ज का उल्लेख किया। उनके अनुमान के अनुसार पंजाब में 1878 तक लगभग 7% ही कर्ज से मुक्त थे और औसत कर्ज की राशि कम से कम 463 रूपये या जमीन की मालगुजारी की रकम से 12 गुणा ज्यादा थी। कई गाँव-स्तर के अध्ययनों ने यह बात भी साफ की कि छोटे किसान और काश्तकारों पर यह कों का बोझ (प्रति एकड़ भूमि के अनुसार और ब्याज की दर के अनुसार आकलन करने पर) ज्यादा भारी साबित हो रहा था।

11.6 उद्योगों पर प्रभाव एवं औद्योगिक नीति

औपनिवेशिक भारत की अर्थयवस्था मुख्यतया एक निजी पूँजी के प्रतिष्ठानों की ही अर्थव्यवस्था थी। इस अर्थव्यवस्था में वित्तीय तथा अन्य संसाधनों के आबंटन का निर्णय नीजि क्षेत्र के द्वारा ही किया जाता था। राज्य का राष्ट्रीय आय के निर्माण में 1872-1942 के बीच औसत हिस्सा 10% से ज्यादा नहीं था लेकिन आधुनिक भारत के आर्थिक इतिहास को हम ब्रिटिश औपनिवेशिक राज्य की नीतियों को समझने बिना समझ नहीं सकते। सम्पत्ति के प्रति राज्य का दृष्टिकोण, इसके सार्वजनिक निर्माण कार्यो पर खर्च करने की नीति, राज्य की मौद्रिक तथा वित्तीय नीतियाँ, सीमा-शुल्क नीति आदि सभी का प्रभाव औद्योगिकरण पर पड़ता है। राज्य की संस्थाओं, समाज की संरचना, आर्थिक अवसरों के बँटवारे तथा उद्योग तथा व्यापार और औद्योगिक उत्पादों के लिए मडियाँ सभी राज्य के संस्थामूलक विकासों से जुड़े हुए थे। सिद्धांत रूप से सरकार ने अहस्तक्षेप की नीति का अनुसरण करने का फैसला किया लेकिन बहुत से आर्थिक क्रिया-कलापों पर राज्य का प्रत्यक्ष हस्तक्षेप झलकता था। ब्रिटिश महानगरीय

पूंजी या प्रवासी अंग्रेज व्यापारी और प्रशासकों ने राज्य के आर्थिक संस्था मूलक ढांचे में कुछ हद तक भागीदारी की। इनमें सार्वजनिक सेवाओं जैसे सुरक्षा संबंधी साजो-समान की आपूर्ति तथा रेलवे के स्टोरो (माल गोदामों)को समान की आपूर्ति करने वाले ठेकेदार आदि शामिल थे। इसी प्रकार लंदन स्थित विनियम बैकों का 1890-1925 के बीच ब्रिटिश मुद्रा के विनियम पर पूरा नियंत्रण था। सार्वजनिक निर्माण कार्यो को नीजि पूंजी के एकाधिकारी कंपनियों को सौंप देने की व्यवस्था 19वीं सदी और 20 सदी के प्रारंभ में औपनिवेशिक पूंजीवाद की एक मुख्य विशेषता थी। 1860 से 1920 तक, विशेषकर पूर्वी भारत में, बड़े पैमाने के उद्योग, विदेश व्यापार, वित्त के संस्थान जैसे बैंक आदि सब पर युरोपीय (विशेष कर ब्रिटिश) पूंजी का ही आधिपत्य बना हुआ था और उनका औपनिवेशिक प्रशासन से गहरा सामाजिक सम्बन्ध था। प्रशासन का रवैया आर्थिक संगठन और नीतियों के उस समूह को प्रोत्साहन देने का था जिससे भारत का व्यापक औद्योगिकरण नहीं हो सकता था।

नोट

11.7 अंग्रेज सरकार की नीति एवं दृष्टिकोण

भारत के औद्योगिक पिछड़ेपन का सर्वाधिक प्रमुख कारण तत्कालीन सरकार की भेदभावपूर्ण एवं उपेक्षापूर्ण नीति ही था। ईस्ट इण्डिया कंपनी के शासन के प्रारम्भिक दिनों में तो इसने भारतीय उद्योगों को सहायता देना अनुचित नहीं माना और उसके अनुसार यह समय-समय पर उनको वित्तीय एवं संगठनात्मक सहायता प्रदान करती भी रहती थी। इसका कारण यह था कि ईस्ट इण्डिया कंपनी तो मूलत: एक व्यापारिक कंपनी थी। अत: भारत से जिन वस्तुओं का निर्यात होता था उन वस्तुओं का उत्पादन करने वाले उद्योगों को सहायता देने में ह अपना लाभ ही देखती थी किन्तु कंपनी की इस नीति का ब्रिटिश निर्माताओं पर विपरीत प्रभा पड़ रहा था। अत: इंग्लैण्ड में विभिन्न वस्तुओं के निर्माताओं ने संगठित होकर इसका विरोध करना शुरू कर दिया और उन्होंने कंपनी शासन पर भारतीय उद्योगों को सहाया न देने का दबाव डाला तभी से अंग्रेज सरकार की नीति भारतीय उद्योगों के प्रति एकदम बदल गई। 1858 में भारत का शासन जब कंपनी से ब्रिटिश सम्राट के हाथों में आया तब भी सरकार भारतीय उद्योगों के विकास के प्रति घोर उपेक्षा की नीति ही बरतती रही।

अंग्रेज सरकार ने अपनी वाणिज्य, राजकोषीय एवं मौद्रिक नीतियों को भारत की बजाय ब्रिटिश हितों को ध्यान में रखकर ही बनाया और लागू किया था। प्रथम विश्व युद्ध तक भारत की वाणिज्य व राकोषीय नीति बहुत कुछ लंकाशयर मिल उद्योग के हितों से प्रभावित होती रही। वस्तुत: 1914 तक ब्रिटिश साम्राज्यवाद भारत का खुले तौर पर और साफ-साफ विरोध करता रहा। किन्तु इस बीच भी यदा-कदा देश के परम्परागत हस्तशिल्प उद्योगों के नष्ट हो जाने के कारण खेती पर जनसंख्या के लगातार बढ़ते हुए दबाव को देखकर उद्योगों के विकास की बात उठती रहती थी किन्तु इसके बावजूद सरकार का रवैया लापरवाही का ही रहा। इससे अनेकों उदाहरण देखें जा सकते हैं। 1880 के अकाल आयोग ने भारत में औद्योगिक विकास की सम्भावनाओं और सीमा की ओर सरकार का ध्यान आकृष्ट किया था किन्तु इसे देश का दुर्भाग्य ही कहा जाएगा कि सरकार ने अकाल आयोग के सुझावों के इस पहलू की ओर कोई विशेष ध्यान नही दिया।

अकाल आयोग के सुझावों से प्रेरित होकर मद्रास सरकार ने कुछ काम अवश्य प्रारम्भ किए थे। 1905 में लार्ड कर्जन की पहल पर वाणिज्य उद्योग विभाग की स्थापना हुई और 1908 में मद्रास सरकार द्वारा उद्योग विभाग के लिए डायरेक्टर की नियुक्ति की गई, किन्तु मद्रास के

नोट

उद्योग विभाग के कार्यो का स्थानीय युरोपीय व्यापारिक समुदाय ने यह कहकर विरोध करना शुरू दिया कि वह निजी उद्योग के लिए गंभीर खतरा हैऔर राज्य सरकार द्वारा सरकार के दायरे से बाहर के क्षेत्र में किया गया अनुचित हस्तक्षेप है। इसी प्रकार जब भारत सरकार के सैक्रटरी ऑफ स्टेट ने लार्ड मारले से उद्योग के लिए स्थाई विभाग के लिए इजाजत मांगी तो उसने साफ मना कर दिया।

भारत औद्योगिक विकास कोक हतोत्साहित करने के लिए अंग्रेज सरकार ने अपनी सीमा शुल्क नीति भी उसी के अनुसार तैयार की थी। उन्नीसीं सदी के सातवें और आठवें दशक में जब भारतीय कपड़ा उद्योग अपनी कमजोर स्थिति से कुछ तरक्की करने लगा तो तत्काल इंग्लैण्ड में इस बात के लिए आंदोलन शुरू हो गया कि इंग्लैण्ड से आयत किए जाने वाले सूती कपड़े पर लगने वाले चुंगी समाप्त की जाए। 1874 में मैनचेस्टर के चैम्बर ऑफ कामर्स ने इस आशय का ज्ञापन दिया और 1877 में हाउस आफ कामन्स ने एक प्रस्ताव पारित किया। तद्नुसार 1879 में मोटे सूती कपड़ों पर आयात शुल्क समाप्त कर दिया गया। वास्तव में यहाँ यह बात विशेष ध्यान की है कि ये आयात शुल्क उस समय समाप्त किए गए जब अकालों के कारण भारत की वित्तीय स्थिति बहुत ही खराब अवस्था में थी। इससे यह साफ जाहित होता है कि सरकार के सामने भारत की बजाय ब्रिटेन का हित ही प्रमुख था। इससे भी अधिक दु:ख की बात यह है कि जब 1894 में सरकार को अपनी वित्तीय जरूरतों के कारण भारत में ब्रिटिश कपड़े के आयात पर 5 प्रतिशत की दर से आयात शुल्क लगाना पड़ा तो भारतीय कपड़ा निर्माताओं को इससे मिलने वाले लाभ को निरस्त करने के लिए उन पर भी 5 प्रतिशत की दर से उत्पादन शुल्क का भार लाद दिया गया। शायद ही सभ्य संसार में ऐसा कोई अन्य उदाहरण मिलेगा। वास्तव में कपड़ा शुल्क नीति के इस सवाल पर यही तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड नार्थ बुक ने सैक्रेटरी ऑफ स्टेट लॉर्ड साल्सबरी के साथ मतभेद हो जाने के कारण 1874 में त्याग पत्र दे दिया था। नार्थ ब्रुक का यह कहना था कि भारत की शुल्क नीति का निर्धारण भारत की सरकार को करना चाहिए न कि लन्दन की सरकार को। किन्तु साल्सबरी ने उसकी इस बात को मानने से बिल्कुल इन्कार कर दिया।

इस प्रकार बम्बई के कपड़ा उद्योग को सरकार से सहायता व प्रोत्साहन मिलना तो दूर रहा उसे तो उत्पादन शुल्कों के बोझ से पूरी तरह दबा दिया गया।

इन परिस्थितियों में 1914 तक भारत का औद्योगिक विकास बेहद धीमा रहा। इसके बाद जब प्रथम विश्व युद्ध शुरू हो गया तो सरकार को मजबूर होकर अपनी नीति में परिवर्तन करना पड़ा और उसमें भारतीय औद्योगिक विकास की इच्छा जागी। शायद यह विश्व युद्ध से उत्पन्न परिस्थिति का ही तकाजा था कि सरकार ने 1916 में एक औद्योगिक आयोग की नियुक्ति की घोषणा की और उसे निम्नलिखित विषयों के संदर्भ में सुझाव देने का काम सौंपा गया–

1. क्या भारतीय पूंजी को वाणिज्य एवं उद्योगों में लाभप्रद लगाने की दृष्टि से कुछ नये काम शुरू किए जा सकते हैं।
2. और यदि यह सम्भव है तो सरकार औद्योगिक विकास को किस तरह अच्छी प्रकार और प्रत्यक्ष रूप से प्रोत्साहित कर सकती है।

इस औद्योगिक आयोग ने 1918 में प्रस्तुत अपनी रिपोर्ट में भारत सरकार की भावी औद्योगिक विकास नीति के बारे में दो प्रमुख बातें कही। प्रथम, सरकार को औद्योगिक विकास

में पिछले समय की तुलना में भविष्य में अधिक सक्रिय भुमिका अदा करने की बातें कही। प्रथम, सरकार को औद्योगिक विकास में पिछले समय की तुलना में भविष्य में अधिक सक्रिय भुमिका अदा करने की आवश्यकता है और द्वितीय, यदि सरकार देश के आर्थिक विकास में समुचित भूमिका अदा करना चाहती है तो उसे आगे आने वाले वर्षो में एक योग्य प्रकार का प्रशासनिक ढांचा तैयार करना होगा। औद्योगिक विकास की इस रिपोर्ट के बाद कुछ मात्रा में तो अवश्य ही सरकार ने देश में कुछ उद्योग-धन्धों के विकास में मदद की किन्तु फिर भी कुल मिलाकर यह मदद ऐसी नहीं थी जिससे कि देश में तेजी से औद्योगिक विकास को पर्याप्त प्रेरणा और प्रोत्साहन मिल पाता।

नोट

उद्योग-धन्धों के विकास के किलए जो साधन जरूरी हो हैं वे काफी मात्रा में भारत में विद्यमान थे। भारत में लोहा और कोयला जैसी प्रमुख खनिज सम्पदा के पर्याप्त भण्डार थे। इनके अलावा और भी विभिन्न प्रकार के खनिज पदार्थ काफी अच्छी मात्रा में पाये जाते थे। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह थी कि भारत में जल शक्ति के पर्याप्त साधन उपलब्ध थे जिनका उपयोग करके सारे देश में बिजली के तारों का जाल फैलाया जा सकता था। किन्तु ब्रिटिश सरकार देश के औद्योगिक विकास के लिए इन प्राकृतिक साधनों का उपयोग करने के बारे में बराबर उदासीन बनी रही। उसका सारा ध्यान तो भारत के प्राकृतिक साधनों का ब्रिटेन के उद्योगों के लिए उपयोग करने पर ही लगा रहा। इसीलिए तो प्राकृतिक साधनों की दृष्टि से सम्पन्न होते हुए भी भारत अपने औद्योगिक विकास से वंचित रह गया।

सरकार की और से कई ऐसी नीतियां थी जिनसे भी यही स्पष्ट होता है कि अंग्रेज सरकार का रूख भारत के उद्योगों के प्रति सहयोग, संरक्षण व समर्थन का न होकर विद्वेष का ही था। इसका एक बहुत बड़ा सबूत उनकी भण्डार क्रय नीति (Store Purchase Policy) में देखा जा सकता है। सरकार की अपने स्टोर्स के लिए सामान खरीदने की नीति भी भारतीय उद्योगो के विरूद्ध और ब्रिटिश निर्माताओं को लाभ पहुंचाने वाली ही थी। सरकार अपने स्टोर्स तथा रेलों के लिए विभिन्न प्रकार के साज-सामान भारतीय उद्योगों से न खरीदकर ब्रिटेन के उद्योगों मेमं से माल को खरीदती थी। उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान पश्चिमी यूरोप, जापान और अमेरिका आदि सभी देशों में अपने-अपने घरेलू उद्योगों को प्रोत्साहन देने के लिए उनमें बने सामान को सरकारी खरीद में प्राथमिकता देने की ही नीति अपनायी गई थी। किन्तु इसके ठीक विपरीत भारत में तो सरकार ने अपनी खरीद के लिए भारत की बजाय ब्रिटेन के उद्योगों में बने माल को ही प्राथमिकता दी थी। ऐसी स्थिति में भला क्योंकर भारतीय उद्योग पनप पाते।

सरकार की इस क्रय नीति की देश के अन्दर काफी तीव्र आलोचना हो रही थी और सरकार भारतीय उद्योगों में बने मालको प्राथमिकता देने के लिए बराबर दबाव डाला जा रहा था। अत: दिसम्बर 1919 में स्टोर परचेज कमेटी की नियुक्ति करके भारत में सरकारी स्टोर्स की खरीद को प्रोत्साहित करने की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम उठाया गया । इस कमेटी का एक सुझाव यह था कि सरकारी खरीद के लिए भारत के उद्योग को एक न्युनतम आर्डर की गारंटी दी जाए। इस कदम से युद्ध के बाद के दिनों में लोहा व इस्पात उद्योग के विकास को काफी सहाया मिली। इसी समय बहुत से ब्रिटिश एं युरोपीय उद्योग भी भारतीय बाजार में अपने कम होने केआधार को फिर से प्राप्त करने की कोशिश कर रहे थे। वे सरकारी खरीद के लिए कई बार उत्पादन लागत से भी कम कीमत पर माल सप्लाई करने के लिए तैयार रहते थे। 1922 में सरकार की स्टोर्स क्रय नीति के बारे में फिर से जांच करने के लिए जो कमेटी बनाई गई उसने स्पष्ट तौर पर यह कह दिया था कि भारत में नये-नये स्थापित उद्योगों को

नोट

युरोप में पुराने उद्योगों के साथ कीमत के आधार पर खुली प्रतियोगिता करने के लिए कहना अनुपयुक्त व अन्यायपूर्ण है। अत: कमेटी ने भारतीय उद्योगों को प्राथमिकता देने की नीति जारी रखने की ही सिफारिश की। इस प्रकार बाद के वर्षो में सरकार की क्रय नीति में अवश्य ही कुछ बड़ी मात्रा में भारतीय उद्योगों के पक्ष में बदलाव आया था।

अंग्रेज सरकार ने भारत उद्योग को भी जानबूझकर समाप्त कर देने की नीति अपनायी और जब भारतीय जहाजों में ब्रिटेन कोक माल जाने लगा तो ब्रिटेन के जहाज निर्माता चिल्ला उठे और उन्होंने ब्रिटेन और भारत के बीच व्यापार के लिए भारतीय जहाजों के प्रयोग पर प्रतिबंध लगाने की मांग की और सरकार ने यह प्रतिबंध लगा दिया।

यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि भारत में औद्योगिक विकास का काम एकदम उल्टे क्रम से शुरू हुआ। भारत के उद्योगों का विकास कपड़ा व जूट जैसे उपभोक्ता सामान के उद्योगों से शुरू होता है। वास्तव में किसी भी देश के औद्योगिक विकास की दृष्टि से ऐसे उद्योगों का विकास निर्णायक महत्व का नहीं होगा। इसके लिए तो आवश्यक था कि लोहा व इस्पात तथा मशीनरी व इंजीनियरिंग जैसे आधारभूत उद्योगों का विकास पहले शुरू होता। जब भारी व आधारभूत उद्योगों का विकास हो जाता है तो अन्य उद्योगों का विकास तो अपने आप ही होने लगता है। परन्तु भारत में औद्योगिक विकास के इन आधारभूत सिद्धां की पूर्णतया उपेक्षा की गई थी। इसका कारण यह था कि अंग्रेजी शासक भारत में कोई स्थायी एवं दीर्घकालीन औद्योगिक विकास नहीं चाहते थे। वे तो भारत का औद्योगिकरण भी उसी हद तक करना चाहते थे जहां तक उनके शोषण का कार्य चलता रहे।

इन सब परिस्थियों के बीच बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में भारत ने जो थोड़ी औद्योगिक प्रगति की उसका एक कारण देशी पूंजीपतियों और ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के बीच निहित स्वार्थो का तालमेल भी था। प्रथम विश्व युद्ध के बाद भारत ने आजादी की मांग जोर पकड़ने लगी थी और देश का राजनैतिक वातारण काफी अशांत हो चुका था। ऐसी स्थिति में भारत पर अपना शोषण जारी रखने के लिए अंग्रेजों ने यह जरूरी समझा कि भारत के ही एक वर्ग को अपने इस काम में शामिल कर लिया जाए। इसी बात को ध्यान में रखकर उन्होंने भारत के पंजीपति वर्ग का सहयोग प्राप् करने की नीति बनायी। इस सहयोग को प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक था कि इन पूंजीपतियों को कुछ आर्थिक और राजनैतिक सुविधाएं दी जाए। अत: बीसवीं शताब्दी में भारत में जो कुछ कल-कारखाने खुले उनका मुख्य उद्देश्य भारत का औद्योगिक विकास करना नहीं था बल्कि कुछ लोगों को भागीदार बनाकर शोषण की प्रक्रिया को जारी रखना था।

इस प्रकार विश्व युद्ध के दौरान भारत के औद्योगिक क्षेत्र में जो थोड़ी-बहुत हलचल हुई, वह कोई अंग्रेज सरकार की सकारात्मक नीति के कारण नहीं हुई। वह तो युद्धजनित मजबूरी थी। इस बारे में सर वेलेंटाइन किरोल ने 2 अप्रैल 1922 के आब्जर्वर में प्रकाशित अपने एक लेख में स्पष्ट तौर पर स्वीकार करते हुए लिखा था कि भारतीय औद्योगिक विकास के बारे में अतीत के हमारे कार्य हमेशा कोई बहुत सराहनीय नहीं रहे हैं और यह युद्ध के कारण पड़ने वाला दबाव ही था जिसने विशुद्ध भारतीय उद्योग के प्रति यदि ईर्ष्या नहीं तो अलगाव की पुरानी प्रवृत्ति को त्यागने के लिए मजबूर किया यदि ध्यान से देखा जाए तो युद्ध की इस नाजुक घड़ी में भी साम्राज्यवादियों की औद्योगिक नीति में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं आया। युद्धकाल में औद्योगिक कारोबार में तेजी अवश्य आई पर इसका कारण कुद दूसरा ही था। जैसा

नोट

कि फेडरेशन ऑफ इंडियन चैम्बर ऑफ कामर्स एण्ड इण्डस्ट्री के अध्यक्ष बद्रीदास गोयनका ने कहा था युद्धकाल में भारत के उत्पादन में जो कुछ भी उन्नति हुई वह मौजूदा कलकारखानों और मशीनों को अंधाधुंध चलाकर और मजदूरों से कई-कई पालियों में काम कराके हुई है। युद्ध में शामिल दूसरे देशों में जिस तरह नए कारखाने खोलकर उत्पादन बढ़ाया गया। उस तरह हमारे यहां नहीं हुआ। हमारे यहां यह चीज नहीं के बराबर हुई। इस प्रकार वास्तविक तो यह थी कि युद्ध के दौरान भी भारत के वास्तविक औद्योगिक विका के लिए ईमानदारी से प्रयास नहीं किए गऐ। इसके विपरीत, इस काल में भारत का जैया भयंकर शोषण हुआ वैसा ब्रिटिश शासन के पूरे इतिहास में कभी नहीं हुआ । भारत के औद्योगिक विकास के प्रति अंग्रेज सरकार का रवैया कितना उपेक्षापूर्ण था, इसके बारे में कलकत्ता के दैनिक स्टेटसमैन के सम्पादक सर एलफ्रेड वाट्सन ने 1933 में रायल एम्पायर सोसायटी की एक बैठक में चेतावनी देते हुए कहा था- 'यद्यपि भारत में एक महान औद्योगिक देश बनने के लिए सभी आवश्य तत्व पर्याप्त रूप से मौजूद है, फिर भी आज वह आर्थिक दृष्टि से दुनिया का एक पिछड़ा हुआ देश है और उद्योग-धन्धों की दृष्टि से तो बहुत ही पीछे है।

भारत ने उद्योग-धन्धों का विकास करने की क्षमता असन्दिग्ध रूप से मौजूद है, लेकिन हमने इस समस्या को हल करने की कोई गम्भीर कोशिश नहीं की है। यदि आने वाले वर्षो में भारत अपनी विशाल आबादी की बढ़ी हुई मांग के आधार पर एक अभूतपूर्व ढंग से अपना औद्योगिक विकास नहीं कर सका तो देश के जीवन-निर्वाह का स्तर, जो आज भी हद दर्ज का नीचा है, भूखो मरने के स्तर से भी नीचे गिर जाएगा।

अंग्रेज सरकार की विद्वेष एवं उपेक्षापूर्ण नीतियों ने भारत के औद्योगिक विकास को कितना नुकसान पहुंचाया था और इसके कारण भारत औद्योगिक जगत में कैसे पिछड़ गया था, इसको समझने के लिए राज्य के सक्रिय सहयोग से उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में जापान के औद्योगिक विकास का उदाहरण दिया जाता है। इसी अवधि के दौरान जहां जापान ने तेजी से औद्योगिक प्रगति की वहां भारत में औद्योगिक विकास की गति बहुत ही निराशाजनक रही। जब हम भारत और जापान की तुलना करते है तो पाते है कि पूर्व के देशों में शायद भारत पहला देश था जिसने औद्योगिकरण के प्रभाव को सबसे पहले महसूस किया किन्तु फिर भी वह परिवर्तन व संक्रमण अवस्था को पूरा नहीं कर सका। जापान अपनी आवश्यकता के 90 प्रतिशत कच्चे तेल 88 प्रतिशत अयस्क लोहे और 11 प्रतिशत कोयले का आयात ही करता रहा। जापान में कपड़ा उद्योग काफी समय से प्रमुख उद्योग होते हुए भी उसे कच्चा माल बाहर से ही मंगाना पड़ता था। इसके विपरीत भारत इन सभी चीजों के मामले में काफी लाभप्रद स्थिति में था। परिवहन के साधनों की दृष्टि से जापान भारत की तुलना में अधिक अच्छी स्थिति में नहीं था। परिवहन के साधनों की दृष्टि से जापान भारत की तुलना ने अधिक अच्छी स्थिति में नहीं था अठारहवीं शताब्दी तक भारत के हस्तशिल्प उद्योग काफी विकसित अवस्था में रहे थे, अतः तकनीकी कौशल की दृष्टि से भारत पूरी तौर पर कोरा नहीं था। 1880 तक तो जापान औद्योगिक प्रगति की। प्राकृतिक साधनों की कमी और सामन्ती राजनीतिक परम्परा वाला पश्चिम से अलग-अलग देश जापान एशिया को औद्योगिक नेतृत्व प्रदान करेगा इसकी शायद ही किसी ने कल्पना की होगी। दूसरी और प्राकृतिक साधन सम्पदा से युक्त तथा सम्पन्न औद्योगिक परम्परा वाला भारत औद्योगिक क्षेत्र में इतना पिछड़ जाएगा। यह भी शायद ही किसी ने सोचा होगा। तो फिर यह क्योंकर हुआ। जब इस प्रश्न का विचार किया जाता है तो स्पष्ट हो जाता है कि इसका सबसचे प्रमुख कारण यह रहा कि जापान में तो सरकार की सहयोग व समर्थन

नोट

की सक्रिय व सकारात्मक भूमिका रही और वहां के उद्योग-धन्धों पर सदैव ही सरकार का वरदहस्त बना रहा। किन्तु दूसरी ओर भारत में सरकार की भूमिका सदैव नकारात्मक ही रही। औद्योगिक विकास को प्रेरित व प्रोत्साहित करना तो दूर रहा बल्कि उसने यहां के औद्योगिक विकास के मार्ग में तरह-तरह की बाधाएं ही खड़ी की। अत: सच तो यही है कि अंग्रेजी शासन काल में भारत औद्योगिक विकास के क्षेत्र में जो पिछड़ गया उसका मुख्य कारण अंग्रेज सरकार की दुर्भावनापूर्ण नीतियां व पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण ही था।

उन्नीसवीं शताब्दी में भारत के औद्योगिक विकास मी जानबूझकर उपेक्षा भारत और ब्रिटेन के सम्बधों के इतिहास का सबसे काला अध्याय है। भारत के परम्परागत हस्तशिल्प उद्योग, जो सदियों से देश के एक बहुत बड़े भाग को रोजगार देते रहे थे, नष्टप्राय कर दिए गए थे। इन हस्तशिल्प उद्योगों के स्थान पर न तो कोई नए उद्योग ही स्थापित किए गए और न हीं जापान की तरह हस्तशिल्प की इस पुरानी प्रणाली को नयी औद्योगिक रचना के साथ मिश्रित किया गया। इंग्लैण्ड के हितों को ध्यान में रखते हुए नये मशीनी उद्योगों को विकसित होने की भी खुली इजाजत नहीं दी गई। वस्तुत: अंग्रेजों की नीति के कारण भारतीय अर्थव्यवस्था को दोहरा नुकसान हुआ। व्यवसायों की विविधता को, जो जनसंख्या विस्फोट का सामना कर सकती थी, कठोरता से नियंत्रित कर दिया गया; शीघ्र व ऊंचे लाभ कमाने वाले पूंजी उद्योगों को जन्म ही नहीं लेने दिया गया और इस प्रकार मध्य युगीन दरिद्रता के साम्राज्य का ही अनावश्यक रूप से विस्तार होने दिया गया। अंग्रेजी शासन काल में व्यापार तो तेजी से बढ़ा किन्तु औद्योगीकरण के अभाव में उसने उपनिवेशवादी अर्थव्यवस्था के दुर्गुण ाों को हर बढ़ावा दिया।

भारत में वाणिज्य के विकास ने यूरोप की तरह औद्योगीकरण को बढ़ावा नहीं दिया। विदेशी पूंजी का निवेश मुख्यत: रेलवे, बागान, खनिज, बैंकिंग, बीमा और सार्वजनिक ऋण के लिए ही हुआ किन्तु इसने चाय बागानों, खनिज और जूट मिलों को छोड़कर भारत में अन्य किसी आधुनिक उद्योग के विकास को प्रेरित नहीं किया। किंग्स्ले डेविस ने जर्मनी और जापान की तुलना में भारत में औद्योगिकरण की धीमी प्रगति के लिए सरकार की कुछ नीतियों को ही जिम्मेवार ठहराया था। उसने इसके लिए प्रमुख रूप से जिन नीतियों को जिम्मेवार माना था वे थीं: राष्ट्रीय हित के विपरीत प्राकृतिक साधनों का दोहन करने वाला विदेशी उद्यमों को प्राथमिकता देना तथा भारत के कच्चे माल के प्रयोग के लिए देश के उत्पादकों की तुलना में विदेशी उद्यमियों का प्राथमिकता देना; सेना, नागरिक प्रशासन और रेलवे के लिए सामान की खरीद भारतीय फर्मो की बजाय ब्रिटिश फर्मो से करने की नीति; करेन्सी नियंत्रण एवं बैंकिंग क्रियाकलापों को भारतीय हितों के खिलाफ संचालित करना आदि।

11.8 रेल निर्माण का औद्योगिकरण पर प्रभाव

अंग्रेजी शासन काल के दौरान भारत में रेलों का निर्माण एक काफी बड़ी आर्थिक घटना थी। ऊपरी तौर पर लग सकता है कि यह कदम भारत के विकास में मदद देने वाला था किन्तु गहराई से अध्ययन करने पर यह बात साफ हो जाती है कि इसने भी भारत में शोषण की प्रक्रिया को बढ़ाने में ही मदद की।

भारत में रेलवे निर्माण की दृष्टि से सबसे पहले 1845 में जिन दो कंपनियों की स्थापना की गई वे थी ईस्ट इंडिया रेलवे कम्पनी और ग्रेट इंडियन पेनिसुला रेलवे कम्पनी।बाद में

कुछ और भी प्राइवेट कम्पनियों को काम सौंपा गया। रेलवे निर्माण का काम भारत में वस्तुत: 1848 में ही शुरू हो सका था। 1853 में भारत में केवल 20 मील लम्बी ही रेलवे लाईन थी। यह बढ़कर 1901 में 25 हजार 3 सौ तिहत्तर मील हो गई थी। जब क भारत में ईस्ट इंडिया कम्पनी का शासन रहा तब तक रेलवे निर्माण का काम सरकार ने इंग्लैण्ड की प्राइवेट कम्पनियों को सौंपा। रेल निर्माण के लिए इन कम्पनियों के साथ जो समझौतो हुआ था उसके अनुसार इनके द्वारा खर्च पर 5 प्रतिशत अथवा साढ़े चार प्रतिशत वार्षिक दर की लाभ की गारण्टी दी गई थी। उदाहरण के लिए यदि किसी कम्पनी को अपनी लगाई हुई पूंजी पर रेलवे ट्रैफिक से 4 प्रतिशत की आय होती थी तो सरकार उसे एक प्रतिशत अपनी ओर से दे देती थी। दूसरी ओर यदि कम्पनी को 5 प्रतिशत से अधिक आय होती थी तो इस अतिरिक्त आय का आधा भाग उस कम्पनी को मिलता था और आधा भाग भारत सरकार को देना होता था। इस न्यूनतम लाभ की गारण्टी प्रणाली का नुकसान यह हुआ कि इन कंपनियों ने रेलवे निर्माण कार्य में काफी लापरवाही बरती और उसके कारण उनकी फिजूल खर्ची बढ़ती चली गई। यह एक स्वाभाविक- सी बात थी कि जब कम्पनियों को न्यूनतम लाभ की गारण्टी मिल गई तो उन्होंने मितव्ययता बरतना बन्द कर दिया। उनको पता था कि वे चाहे जितनी लापरवाही बरते अथवा चाहे जितनी गलतियाँ करें उन्हें अपने पूंजी निवेश पर एक बहुत अच्छा अवसर मिल गया किन्तु दूसरी और इसका भारतीय अर्थव्यवस्था पर बहुत बोझ पड़ा। कम्पनियों की लापरवाही के कारण साधनों का तो अपव्यय हुआ कि किन्तु साथ-ही-साथ इन कम्पनियों को न्यूनतम लाभ की रकम देने के लिए भारतीय करदाताओं को ऊंचे करों का बोझ भी सहन करना पड़ा। इस प्रकार रेलों का निर्माण भारत को एक घाटे का ही सौदा था।

नोट

सरकार की रेल निर्माण नीति का एक बहुत बड़ा दोष यह भी था कि रेलों के निर्माण के लिए देश में उपलब्ध लोहा आदि साधनों का उपयोग नहीं किया गया। चूँकि प्रारम्भ में रेल यातायात से सम्बन्धित लगभग सारी सामग्री इंग्लैण्ड से ही आयात की जाती रही। अत: भारतीय रेलों के विकास ने भारत की बजाय इंग्लैण्ड के लोहा व इस्पात आदि के उद्योग के लिए अधिक मदद की। उन्नीसवीं शताब्दी का इतिहास यह बताता है कि पश्चिमी यूरोप, जापान और अमरीका आदि लगभग सभी देशों में रेलवे निर्माण ने इन देशों के औद्योगिकरण को काफी कुछ गति प्रदान की थी। ये देश अपने यहां लोहा व इस्पात तथा अन्य आधारभूत उद्योगों का इसलिए विकास कर पाए कि रेलवे निर्माण के कारण इन उद्योगों के उत्पादन की मांग की जाती रही। किन्तु भारत के पास संसार के लोहे का काफी बड़ा भण्डार होने के बावजूद यहाँ रेलवे निर्माण का काम औद्योगीकरण की प्रक्रिया को गति नहीं दे सका। इसे वास्तव में संसार का आश्चर्य ही कहा जाएगा। वास्तव में अंग्रेज सरकार ने न तो स्वयं ही आगे होकर लोहा उद्योग प्रारम्भ किया और न ही किसी को प्रारम्भ करने की अनुमति दी। 1880 के दौरान प्रसिद्ध उद्योगपति जे.एन.टाटा को संयुक्त प्रान्त में लोहा उद्योग लगाने की अनुमति नहीं दी गई थी। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत लौह साधन अविकसित ही पड़े रहे और काफी समय तक देश में औद्योगिकरण प्रारम्भ ही नहीं हो सका।

अंग्रेजों ने भारत में रेलों का निर्माण मुख्य रूप से भारत के विभिन्न भागों से अनाज व कच्चा माल ब्रिटेन भेजने के लिए बन्दरगाहों तक पहुंचाने तथा ब्रिटेन से आए तैयार माल को देश के विभिन्न भागों तक पहुंचाने के उद्देश्य से किया गया। अंग्रेज कारखानेदार ने इसी उद्देश्य को सामने रखकर भारत में रेलवें बनवा रहे थे इसके माध्यम से वे कम खर्च में कपास

नोट

और दूसरा कच्चा माल अपने उद्योग धन्धे के लिए आसानी से निकाल सकेंगे। इस प्रकार रेलवे का प्रयोग भी भारत के शोषण के लिए ही किया गया था। 1857 के प्रथम स्वाधीनता संग्राम के दौरान अंग्रेजों को यह आभास होने लग गया था कि अब भारत में जगह-जगह पर स्वाधीनता की चिंगारी सुलग चुकी है और वह कभी भी कहीं पर भी विद्रोह का रूप ले सकती है। भारतीय राजनीति की इस परिस्थिति को ध्यान में रखकर भी अंग्रेजों ने रेलों का निर्माण व विकास किया। वे रेलों के माध्यम से देश के विभिन्न इलाकों को इसलिए जोड़ देना चाहते थे जिससे कि किसी भी भाग में विद्रोह होने पर तुरन्त सेना भेजकर दबाया जा सके। इस प्रकार भारत में रेलों के विस्तार के पीछे अंग्रेज सरकार की राजनैतिक व प्रशासनिक मजबूरी भी एक कारण रहीं थी। कुछ विद्वानों का यह भी कहना है कि रेलों पर खर्च की गई धनराशि को उस समय यदि हम सिंचाई सुविधाओं पर लगाते तो वह भारत के लिए शायद ज्यादा लाभप्रद हुआ होता। किन्तु जब एक बार देश में रेलों का निर्माण कार्य शुरू हो गया और देश के विभिन्न भाग रेलवे लाइन से जुड़ गये तो इससे होने वाले लाभों से भी देश को वंचित नहीं रखा जा सकता था। यह संभव नहीं था कि देश में रेलवे लाइनों का जाल तो बिछता चला जाए किन्तु रेल यातायात की आवश्यकताओं में से उत्पन्न औद्योगिक प्रक्रियाओं को प्रारम्भ होने से रोक रखा जाए। अत: इस रेल निर्माण से देश को कुछ लाभ भी हुए जैसे अकालों पर नियंत्रण, राष्ट्रीय एकता को प्रोत्साहन, छुआछूत में कमी, आन्तरिक व्यापार में तरक्की, आवागमन की सुविधा आदि। इनके अलावा रेल परिवहन के विकास ने भारत में औद्योगिकरण की प्रक्रिया को भी कुछ-न-कुछ आगे बढ़ाने में अवश्य मदद की है। इस प्रकार रेलवे निर्माण से भारतीय अर्थव्यवस्था को कुछ मात्रा में लाभी अवश्य ही हुए हैं किन्तु अंग्रेज सरकार का उद्देश्य लाभ पहुंचाना नहीं था। उन्होंने तो रेलों का निर्माण अपनी प्रशासनिक पहाड़ मजबूत करने और औपनिवेशिक शोषण की प्रक्रिया को जारी रखेत हुए भारत में औद्योगिकरण की प्रक्रिया को गति न पकड़ने देने के उद्देश्य से ही किया था।

11.9 विभेदकारी संरक्षण एवं औद्योगीकरण

प्रथम विश्व युद्ध के बाद भारतीय उद्योगों के प्रति सरकार की नीति में कुछ परिवर्तन आया। सरकार ने भारतीय उद्योगों को एक सीमा तक संरक्षण देना स्वीकार किया और इसके लिए सरकार ने विभेदकारी राजकोषीय संरक्षण की नीति अपनाई। ऊपर से तो यह ब्रिटिश उद्योगों के मुकाबले भारत के नए-नए ही शुरू हुए उद्योगों को संरक्षण सहाया देने के लिए अपनाई गई थी किन्तु इस नीति को भी अंग्रेज सरकार ने जिस चालाकी और आधे-अधूरे मन से लागू किया उससे भारतीय उद्योगों को संरक्षण देने के नाम पर उसके लाभ ब्रिटिश पूंजीपतियों को ही मिले। इस प्रकार संरक्षण की इस नीति कोभी भारत की बजाय ब्रिटिश हितों को पूरा करने वाली ही बना लिया गया। अत: यहां हमे अंग्रेजी की इस संरक्षण नीति की गहराई में जाकर जांच करना होगा और यह समझना होगा कि इसने भारत में औद्योगिकरण की प्रक्रिया को कैसे और कहां तक प्रभावित किया।

1918 में भारतीय औद्योगिक आयोजन ने भारत में आधुनिक उद्योगों के विकास के लिए संरक्षण की नीति अपनाने का सुझाव दिया था। कुछ वर्षो से देश के राष्ट्रवादी नेता एवं भारतीय उद्योगपति भी संरक्षण की मांग कर रहे थे। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए काफी सोच-विचार के बाद सरकार ने अक्टूबर 1921 में प्रथम राजकोषीय आयोग नियुक्त किया। इस आयोग ने अपने विकास के प्रारम्भिक चरणों में अथा अनुचि विदेशी प्रतियोगिता

के दबावों से बचाने के लिए कुछ उद्योगों को राजकोषीय संरक्षण देने के नीति बनाई। इस संरक्षण की नीति में यह कहा गया कि जो उद्योग निम्नलिखित तीन कसौटियों को पूरा करेंगे उन्हें संरक्षण दिया जाएगा।

नोट

1. उद्योग को पर्याप्त प्राकृतिक लाभ प्राप्त होने चाहिए जैसे कच्चे माल की पर्याप्त पूर्ति, सस्ती बिजली, श्रम की पर्याप्त पूर्ति और एक बड़ा विस्तृत घरेलू बाजार
2. यह उद्योग ऐसा हो जिसके लिए संरक्षण के बिना बिल्कुल भी विकसित हो पाना सम्भव न हो अथाव उतनी तेजी से विकसित हो पाना सम्भव न हो जितना देश के हित में आवश्यक है।
3. यह उद्योग ऐसा भी होना चाहिए जो अन्ततोगत्वा संरक्षण के बिना ही विश्व प्रतियो. गिता का मुकाबला कर सकने की क्षमता रख सकता हो।

इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि राजकोषीय आयोग द्वारा संरक्षण के लिए बताई गई ये तीनों कसौटियां तर्क संगत है और काफी आवश्यक है। ऐसे किसी भी उद्योग को संरक्षण देना जिसमें विकास की क्षमता ही न हो और जो संरक्षण दे देने के बाद भी विश्व प्रतियोगिा में टिक पाने की क्षमता न रखना हो,आर्थिक दृष्टि से गलत ही कहा जाएगा। किन्तु इस त्रिसूत्री सिद्धांत में इस बात की ओर ध्यान नहीं रखा गया कि कभी-कभी कुछ मामलों में आर्थिक तर्को की भी अनदेखी करनी पड़ती है। उदाहरण के लिए ऐसे उद्योग को कभी-कभी काफी लम्बे समय के लिए भी संरक्षण देना पड़ता है जो या तो देश की सुरक्षा की दृष्टि से आवश्यक है अथवा जो एक ऐसा आधारभूत उद्योग है जिसका राष्ट्रीय हित की दृष्टि से देश के भीतर ही विकास करना होता है। इसके अलावा जब देश में काफी बड़ी मात्रा में बेरोजगारी अथवा अल्प रोजगार की स्थिति हो तब भी केवल योग्य उद्योगों को ही संरक्षण देने के तर्क से चिपका नहीं रहा जा सकता।

विभेदकारी संरक्षणकारी नीति के विरोध में ऊपर दिए गए सामान्य तर्को के अलावा भारत सरकार की 1923-39 के बीच संरक्षण की नीति की इसलिए भी आलोचना की गई कि उसने राजकोषीय आयोग द्वारा बताई गई कसौटियों को बहुत की कठोर और असहानुभूति तरीके से लागू किया। उदाहरण के लिए उसने किसी उद्योग को केवल इसलिए संरक्षण देने से मना कर दिया क्योंकि उसके पास उसके लिए आवश्यक अनेकों प्रकार के कच्चे माल में से केवल एक कच्चा माल उपलब्ध नहीं था जबकि दूसरी और उन्हीं दिनों जापान में ऐसे उद्योगों को संरक्षण दिया गया और उन्होंने सफलतापूर्ण काम भी किया जो अपना सारा कच्चा माल बाहर से आयात करते थे। वास्तव में राजकोषीय आयोग की मंशा यह नहीं थी कि उसके प्राकृतिक लाभों वाले प्रथम सिद्धांत की इतनी कठोर और शाब्दिक व्याख्या की जाए, किन्तु भारत सरकार ने तो बहुत छोटे-छोटे बहाने बनाकर अनेकों उद्योगों की संरक्षण की प्रार्थना को अस्वीकार कर इस नीति की वास्तविक मंशा को ही समाप्त कर दिया।

संरक्षण प्रदान करने के लिए अधिकारियों ने जो तरीका अपनाया वह भी काफी असन्तोषजनक था। राजकोषीय आयोग ने तो संरक्षण प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले उद्योगों के प्रार्थना पत्रों पर विचार करने के लिए एक स्थाई प्रशुल्क मण्डल बनाने की सलाह दी थी किन्तु सरकार तो अस्थाई प्रशुल्क बोर्ड ही बनाती थी जो किसी उद्योग विशेष के संरक्षण के मामले पर विचार करने के बाद भंग कर दिया जाता था। इससे एक ओर तो प्रशुल्क बोर्ड की मशीनरी ठीक से काम नहीं कर पाती थी दूसरी ओर प्रशुल्क बोर्ड में काम करने वाले

नोट

कर्मचारियों के पिछले अनुभवों का पूरा-पूरा लाभ भी नहीं मिल पाता था, क्योंकि अलग-अलग उद्योग के लिए अलग-अलग प्रशुल्क बोर्ड बनता था। अत: यह विभिन्न उद्योगों के बीच ठीक से तालमेल भी नहीं बिठा पाता था। इस नीति के परिणामस्वरूप औद्योगिक क्षेत्र में अधूरा, असंतुलित और विकृत विकास हुआ। इसके अलावा किसी में उद्योग को संरक्षण तब दिया जाता था जब वह संरक्षण पाने के लिए स्वयं आगे होकर प्रार्थना पत्र देता था। सरकार ने स्वयं कभी भी देश की औद्योगिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए किसी भी उद्योग को संरक्षण देने की पहल नहीं की।

संरक्षण प्रदान करने के लिए अधिकारियों ने जो तरीका अपनाया वह भी काफी असन्तोषजनक था। राजकोषीय आयोग ने तो संरक्षण प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले उद्योग के प्रार्थना पत्र पर विचार करने के लिए एक स्थाई प्रशुल्क मण्डल बनाने की सलाह दी थी किन्तु सरकार तो अस्थाई प्रशुल्क बोर्ड ही बनाती थी जो किसी उद्योग विशेष के संरक्षण के मामले पर विचार करने के बाद भंग कर दिया जाता था। इससे एक ओर तो प्रशुल्क बोर्ड की मशीनरी ठीक से काम नहीं कर पाती थी दूसरी ओर प्रशुल्क बोर्ड में काम करने वाले कर्मचारियों को पिछले अनुभवों का पूरा-पूरा लाभ भी नहीं मिल पाता था, क्योंकि अलग-अलग उद्योग के लिए अलग-अलग प्रशुल्क बोर्ड बनता था। अत: यह विभिन्न उद्योगों के बीच ठीक से तालमेल भी नहीं बिठा पाता था। इस नीति के परिणामस्वरूप औद्योगिक क्षेत्र में अधूरा, असंतुलित और विकृत विकास हुआ। इसके अलावा किसी उद्योग को संरक्षण तब दिया जाता था जब वह संरक्षण पाने के लिए स्वयं आगे होकर प्रार्थना पत्र देता था। सरकार ने स्वयं कभी भी देश की औद्योगिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए किसी भी उद्योग को संरक्षण देने की पहल नहीं की।

इन सब सीमाओं के बावजूद सरकार की विभेदकारी संरक्षण की नीति से निश्चित ही औद्योगिक विकास को आगे बढ़ाने में कुछ मदद की। संरक्षण की इस नीति के तहत सबसे पहले लोहा व इस्पात उद्योग को 1924 में संरक्षण दिया गया था। इसके बाद तो अनेकों उद्योगों को संरक्षण दिया गया जैसे 1925 में कागज उद्योग को, 1926 व 1930 में सूती वस्त्र उद्योग को, 1928 में माचिस उद्योग को, 1931 में भारी रसायन उद्योग को, 1932 में चीनी उद्योग को और 1934 में सिल्क उद्योग को संरक्षण दिया गया। कुछ ऐसे भी महत्वपूर्ण उद्योग रहे जिन्हें संरक्षण दिया जाना चाहिए था किन्तु नहीं दिया गया जैसे सीमेंट, शीशा एवं पैट्रोलियम उद्योग। यहां यह बात ध्यान देने की है कि 1924 में लोहा उद्योग को संरक्षण मिल जाने के बाद कई अन्य उद्योगों ने भी संरक्षण के लिए प्रार्थना पत्र दिये। अधिकांश मामलों में इन आवेदनों को मंजूर नहीं किया। क्या यह बात आश्चर्य जनक नहीं है कि सीमेंट और पैट्रोलियम जैसे उद्योगों के आवेदनों को तो नामंजूर कर दिया गया और माचिस उद्योग के आवेदन को स्वीकार कर लिया गया। वास्तविकता यह थी कि भारत के माचिस उद्योग में अधिकांश विदेशी पूंजी लगी हुई थी। अत: इस उद्योग को संरक्षण देकर सरकार ने एक तरह से विदेशी पूंजी को ही संरक्षण दिया था। इसमें भारत का हित कम विदेशी हित की अधिक था।

उन दिनों भारत सरकार की राजकोषीय की नीति से सम्बन्धित जो एक महत्वपूर्ण मुद्दा सामने आया वह था शाही साम्राज्य से आने-जाने वाले सामानों को रियायत देनेका मुद्दा। भारत की जनता तो इस मत की थी कि सभी सामानों पर एक जैसे दर से ही आयात व निर्यात कर लगे चाहे वे फिर किसी भी देश से आये अथवा किसी भी देश को जाये। किन्तु अंग्रेजी की शाही रियायत की नीति के अनुसार ब्रिटेन तथा ब्रिटेन के अधिकार क्षेत्र के देशों से आने

नोट

अथवा उनको जाने वाले सामान को खास प्राथमिकता दी जानी चाहिए थी। 1920 में शाही रियायत की इस नीति को एक छोटे-से रूप से पहले से ही लागू किया जा चुका था जबकि ब्रिटेन एवं ब्रिटिश क्षेत्रों को हड्डियां व खालों के निर्यात पर अन्य देशों की तुलना में कम दर से शुल्क लगता था। जब राजकोषीय आयोग ने भारत के लिए संरक्षणात्मक प्रशुल्क नीति का सुझाच दिया तो शाही रियायत का यह प्रश्न और अधिक महत्वपूर्ण बन गया। ब्रिटेन से आने वाले आयातों को रियायत देने की नीति का भारत के लोगों ने इस आधार पर विरोध किया कि ऐसा करने पर तो संरक्षण की नीति की प्रभोत्पादकता ही समाप्त हो जायेगी और यह तो भारतीय उपभोक्ताओं की लागत पर ब्रिटिश उत्पादकों की सहायता करने जैसा होगा। आस्ट्रेलिया और दक्षिणी अफ्रीका जैसे ब्रिटिश आधिपत्य वाले देशों से आयातों को विशेष रियायत देने का तो राजनीतिक आधार पर भी विरोध किया गया। उनका कहना था कि जब तक ये देश अप्रवास एवं निवासी बनने के मामले में एशिया विरोधी दृष्टिकोण रखते हैं तब तक भारत भी उनके निर्यातों के मामले में उदार नहीं हो सकतां किन्तु इन सब विरोधों के बावजूद भारत सरकार ने 1924-25 के दौरान देश के प्रशुल्क कानूनों में शाही रियायतों के उपायों को शामिल कर दिया। जब 1924 में स्टील के आयात पर संरक्षणात्मक शुल्क लगाया गया था तब गेर ब्रिटिश देशों के मुकाबले ब्रिटेन के आयात पर शुल्क की दर कम रखी गयी थी। इसी प्रकार सूती कपड़े के मामले में ब्रिटेन से आने वाले आयातों को शुल्क में विशेष रियायतें दी गई थी।

1932 में ओटावा में जो समझौते हुए उन्होंने तो शाही रियायतों की इस नीति को ओर भी अधिक पक्का कर दिया। ओटावा समझौते के अनुसार ब्रिटिश बाजारों में ब्रिटिश साम्राज्य के देशों की वस्तुओं को प्रवेश करने देने की सुविधा प्राप्त की गई थी और उसके बदले ब्रिटिश वस्तुओं के आयातों को रियायतें दी गई थी। भारत और ब्रिटेन के प्रतिनिधियों के बीच 20 अगस्त 1932 को यह समझौता हुआ था। इस समझौते के अनुसार ब्रिटिश बाजारों में भारत की निम्नलिखित वस्तुओं को बिना शुल्क के प्रवेश करने की इजाजत मिली, कपड़े व जूट से बनी वस्तुएं, कमायी गयी हड्डियों व खाले, चावल, चाय, कॉफी, मूंगफली, मैगनीज, मैग्नेशियम क्लोराइड, गैर जरूरी वनस्पति तेल आदि। इसके बदले भारत के ब्रिटेन से मोटर वाहनों के आयात पर 7 1/2 प्रतिशत तथा अन्य अनेकों प्रकार की वस्तुओं के आयात पर 10 प्रतिशत की दर से रियायत देना स्वीकार कर लिया। ब्रिटेन से आने वाली सूती कपड़े तथा लोहा व इस्पात की वस्तुओं को रियायत देने का भी इस समझौते में प्रावधान किया गया था। इस समझौते के पक्ष में यह तर्क दिया गया था कि विश्व्यापी महामंदी से उत्पन्न जबरदस्त प्रतियोगिता के वातावरण में केवल इस प्रकार के द्विपक्षीय समझौतों के माध्यम से ही भारतीय निर्यातों को बनाये रख पाना सम्भव हो सकता था। ब्रिटेन द्वारा भारतीय सामानों के आयात में वृद्धि हुई और 1931-32 में वह 35.5 प्रतिशत से बढ़कर 1934-35 में 40.6 प्रतिशत हो गई। जापान तथा ब्रिटेन के अलावा अन्य देशों के सूती सामान पर शुल्क 50 प्रतिशत तक बढ़ा दिया गया। 1933 में जबरदस्त व्यापारिक होड़ दौरान एक समय तो इसे बढ़ाकर 75 प्रतिशत तक कर दिया गया था। दूसरी ओर, ब्रिटेन के सूती सामानों पर शुल्क घटाकर 20 प्रतिशत कर दिया गया। 1933 में शुल्क बोर्ड की रिर्पोट ने शाही सामानों के प्रति बरती जाने वाली रियायत के विरूद्ध अपना मत व्यक्त किया था लेकिन सरकार ने इसकी अवहेलना कर दी और रियायत की नीति जारी रखी। कुल मिलाकर ओटावा समझौते के तहत चलने वाली शाही सामानों की रियायत की नीति भारत के लिए संतोषजनक साबित नहीं हुई। इस नीति के कारण भारत में ब्रिटेन के नियात तो बहुत तेजी से बझे जबकि ब्रिटेन को भारत के लिए संतोषजनक साबित

नोट

नहीं हुई। इस नीति के कारण भारत में ब्रिटेन के निर्यात तो बहुत तेजी से बझे जबकि ब्रिटेन को भारत के निर्यातों में बहुत थोड़ी-सी ही वृद्धि हुई। इस समझौते के कारण भारत के साथ व्यापार में सहयोगी यूरोप एवं उत्तरी अमरीका के देशों के मन में असंतोष उत्पन्न हो गया। वस्तुतः इस समझौते ने भारतीय अर्थव्यवस्था के बजाय ब्रिटिश उद्योगों को ही अधिक लाभ पहुंचाया था। जब 1936 में इस समझौते की नवीनीकरण के लिए रखा गया तो भारतीय के विरोध के बावजूद मार्च, 1939 में एक नया भारत-ब्रिटिश समझौता कर लिया गया। यद्यपि इस समझौते में ब्रिटिश आयातों को दी जाने वाली रियायतों के क्षेत्र को काफी कर दिया गया था किन्तु उस समय के राजनीतिक वातावरण में भारतीय जनता ऐसे किसी समझौते को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थी जो गेर ब्रिटिश देशों की तुलना में ब्रिटिश आयातों को कुछ भी विशेष रियायत देता हो।

द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान 1923-39 वाली राजकोषीय नीतियां ही जारी रही। विदेशी से आयात बन्द हो जाने के कारण भारत में कई नये उद्योग शुरू होते जा रहे थे। इन उद्योगो को प्रोत्साहित करने के लिए सरकार ने जून 1940 में राजकोषीय नीति में उदारता बरतने की घोषणा की। नये उद्योगों को इस बात का आश्वासन दिया गया कि यदि वे सृदृढ़ धरातल पर काम करते रहेंगे तो उनकी विदेशी प्रतियोगिता से रक्षा की जायेगी। यह युद्ध से पहले नीति में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन था। किन्तु एक अर्थ में यह आश्वासन कोई बहुत अधिक ठोस धरातल पर आधारित नहीं था क्योंकि युद्ध के दिनों के बहुत से उद्योग तो उस समय की परिस्थितियों में काम चलाने के लिए ही शुरू किये गये थे और और उन्हें युद्ध के बाद भी कृत्रिम ढंग से चालू रखने के प्रयास अनार्थिक ही साबित होने वाले थे।

भारत सरकार ने अप्रैल 1945 में युद्ध के दौरान अस्तित्व में आये उद्योगों को संरक्षण देने के मामलों की जांच करने के लिए एक विशेष प्रशुल्क मण्डल का गठन किया। इस प्रशुल्क मण्डल के मार्गदर्शन के लिए सरकार ने निम्नलिखित दो मार्ग दर्शक सिद्धान्त बनाये-

1. जिस उद्योग की सहायता की जानी हो वह ठोस व्यवसायिक आधारों पर स्थापित हुआ हो और काम कर रहा हो , तथा
2. (क) या तो वह उद्योग उसे प्राप्त प्राकृतिक एवं आर्थिक लाभों तथा उसकी वावस्तविक व संभावित लागतों को ध्यान में रखते हुए एक उचित समय-सीमा के भीतर संरक्षण अथवा सरकारी सहायता के बिना सफलतापूर्वक अपना काम चलाने में समर्थ हो।

   (ख) अथवा वह ऐसा उद्योग हो जिसे राष्ट्रीय हित में संरक्षण या सहायता देना वांछनीय हो और इस प्रकार के संरक्षण या सहायता का संभावित भार समान पर बहुत अधिक न होता हो।

जिन लोगों ने 1922-23 की संरक्षण नीति का यह कहकर विरोध किया था कि यह कठोर है उन्हें संतुष्ट करने के लिए ही उपधारा (ख) पर्याप्त उदार बनाया गया था। यहां संरक्षण के आधार को तो विस्तृत कर दिया गया था किन्तु प्रशुल्क मण्डल को तीन वर्ष से अधिक समय के लिए संरक्षण स्वीकृत करने का अधिकार नहीं दिया गया था। अतः इसे अपर्याप्त माना गया क्योंकि युद्ध के समय के उद्योगों को युद्धोत्तर प्रतियोगिता का मुकाबला करने के लिए बड़ी मात्रा में निवेश करना जरूरी था और इसके कि लिए उन्हें लम्बे समय के संरक्षण की आवश्यकता थी। संरक्षण की नीति के तहत भारत में जिस प्रकार की शुल्क

प्रणाली लागू की गई उसने भारतीय उद्योगों के विकास को प्रभावित करने के साथ-साथ विदेशी हितों को भी फायदा पहुंचाया और इन विदेशी हितों में सबसे ज्यादा ब्रिटिश हित ही थे। इस संरक्षणात्मक प्रणाली का खुलकर लाभ-उठाते हुए बड़े विदेशी इजारेदारों ने भारत में अपने उप व्यवसाय स्थापित कर लिये और भारत के औद्योगिक विकास के लिए गंभीर खतरा बन गये। जब भारतीय उद्योगों को संरक्षण दिया गया तो इसमें इन उद्योगों को भी संरक्षण मिल गया तो ब्रिटिश पूंजीपतियों ने भारत में स्थापितकिये थे। इसके अलावा, भारत सरकार ने शाही रियायतों की जो प्रशुल्क नीति लागू की थी उसके माध्यम से ब्रिटिश पूंजीपति भारत के बाजारों को गैर ब्रिटिश प्रतियोगियों के आक्रमण से बचाने में सफल हो गये और इसे परिणामस्वरूप भारत के बाजारों में उनका वर्चस्व कायम रहा। इस प्रकार इस संरक्षण की नीति का भी बहुत कुछ लाभ ब्रिटिश पूंजीपतियों व उद्योगपतियों ने उठा लिया।

नोट

11.10 सारांश

भारत की विभेदकारी संरक्षण की नीति की ओर भीकई आधारों पर आलोचना की जाती रही है। कुछ लोगों का कहना है कि संरक्षण की नीति जिस समय लागू की गई उस समय भारत के उद्योगों को इससे विशेष लाभ हो ही नहीं सकता था। यदि यहीं संरक्षण प्रथम विश्व युद्ध से पहले दिया जाता तो भारत के औद्योगिक किास को भी काफी अच्छा बढ़ावा मिल सकता था। 1924 में जब लोहा व इस्पात उद्योग को संरक्षण दिया गया तब तक रेलवे निर्माण का काफी बड़ा भाग पूरा किया जा चुका था, अत: इसका देश को पूरा लाभ नहीं मिल पाया। इसके अलावा भारत में संरक्षण की नीति को पूरी ईमानदारी से भी लागू नहीं किया गया। सरकार ने संरक्षण देने खानापूर्ति ज्यादा की, वास्तव में सहायता कम। किन्तु जो कुछ भी संरक्षण दिया गया उसका उद्योगों को अवश्य ही लाभ हुआ। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि यदि भारत में समय पर, पर्याप्त मात्रा में और पूरी ईमानदारी के साथ संरक्षण की नीति को लागू कर दिया गया होता तो भारत भी दूनिया के औद्योगिक क्षेत्र में एक ताकत बनकर खड़ा हो गया होता। किसी भी विकासशील देश की सरकार संरक्षण की नीति के माध्यम से ही अपने देश के उद्योगों के विकास में मदद कर सकती थी। आज के लगभग सभी विकसित देशों की सरकारों ने अपने विकास के प्रारम्भिक चरणों में ऐसा किया भी था यह तो एक वह न्यूनतम काम है जो किसी भी सरकार को करना नहीं चाहिए। किन्तु भारत की अंग्रेज सरकार ने तो अपने इस न्यूनतम दायित्व को भी ईमानदारी से नहीं निभाया।

11.11 अभ्यास प्रश्न

1. कृषि के वाणिज्यीकरण से क्या अभिप्राय है?
2. भारतीय अर्थव्यवस्था पर बलपूर्वक लादे गए वाणिज्यीकरण की धारणा को स्पष्ट करें।
3. अंग्रेजी काल में वित्त की संस्थाएँ एवं ग्रामीण ऋणग्रस्तता का संबंधों की चर्चा करें।
4. ब्रिटिश काल में अपनाये गए औद्योगिक नीति का भारतीय अर्थव्यवस्था पर प्रभाव की विवेचना करें।

इकाई-12 देशी रियासतों में ब्रिटिश संप्रभुता का विकास

पाठ-संरचना

नोट

12.0 उद्देश्य

12.1 प्रस्तावना

12.2 देशी रियासतों की उत्पत्ति

12.3 ब्रिटिश सम्प्रभुता से तात्पर्य

12.4 देशी रियासतें और कम्पनी सरकार

12.4.1 प्रथम काल (1757 से 1813 ई. तक)

12.4.2 द्वितीय काल (1813 से 1858 ई. तक)

12.4.3 तृतीय काल (1858 से 1947 ई. तक)

12.5 ब्रिटिश सम्प्रभुता का देशी रियासतों से सम्बन्ध

12.6 नरेश-मण्डल

12.7 भारत में संघीय व्यवस्था और देशी रियासतें

12.8 गोलमेज सम्मेलन

12.9 भारतीय स्वतंत्रता और ब्रिटिश सम्प्रभुता की समाप्ति

12.10 सारांश

12.11 अभ्यास प्रश्न

12.0 उद्देश्य

इस इकाई में आप अध्ययन करेगें :

- भारत में कितनी देशी रियासतें थी? इनके प्रशासनिक स्वरूप का उल्लेख किया जाएगा।
- भारतीय रियासतों के अस्तित्व में आने के कारणों पर प्रकाश डाला जायेगा।
- ब्रिटिश सम्प्रभुता का तात्पर्य स्पष्ट करते हुए यह बतलाया जायेगा कि 1757 तक ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी जो मात्र एक व्यापारिक संस्था थी उसने किन माध्यमों से इस रियासतों से संधियाँ कर उन्हें अपने नियंत्रण में किया।
- ब्रिटिश सम्प्रभुता की स्थापना के प्रशासनिक स्वरूप में आये परिवर्तन का विवरण प्रस्तुत करना।
- देशी रियासतों व ब्रिटिश सम्प्रभुता के मध्य सम्बन्धों की जानकारी देना और, यह बतलाना कि देशी नरेशों द्वारा ब्रिटिश सर्वोच्चता को समय-समय पर दी गई चुनौतियों को स्पष्ट करना। नरेश-मण्डल की स्थापना के कारण एवं कार्य पद्धति पर प्रकाश।

- भारतीय संघीय अव्यवस्था और देशी नरेशों की स्थिति में आये परिवर्तन को स्पष्ट करना एवं विभिन्न गोलमेज सम्मेलनों में रियासतों के सम्बन्ध में लिये गये निर्णयों पर प्रकाश डालना।

1947 में भारतीय स्वतंत्रता के साथ ही ब्रिटिश सम्प्रभुता के अन्त की कहानी।

नोट

12.1 प्रस्तावना

1740 ई. से पूर्व कम्पनी एक व्यापारिक संस्था थी और उसकी कोई राजनैतिक आकांक्षाएं नहीं थी। ये आकांक्षाएं 1740 ई. के पश्चात् जाग्रत हुई जब डुप्ले ने भारतीय रियासतों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करके भारत में राजनैतिक सत्ता प्राप्त करने का प्रयास किया। अंग्रेजों ने अपने व्यापारिक हितों की रक्षार्थ डुप्ले की नीति का अनुसरण किया। प्रथम 1751 ई. में अकार्ट का घेरा डालकर अंग्रेजों ने अपनी राजनैतिक सत्ता को सिद्ध करने की कोशिश की। 1757 ई. में इन्होंने प्लासी का युद्ध जीता इसके बाद अंग्रेजों ने बंगाल के नवाब को अपनी कठपुतली बना लिया। सन् 1765 ई. में सम्राट शाह आलम ने कम्पनी को बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी दे दी। इस प्रकार फ्रांस की शक्ति को समाप्त कर व बक्सर युद्ध में विजय प्राप्त करने के पश्चात् कम्पनी को भारतीय रियासतों के साथ संधि कर राज्य को अपने साम्राज्य में मिलाने का अधिकार प्राप्त हो गया। इसके साथ ही कम्पनी और देशी रियासतों के आपसी सम्बन्धों की कहानी आरम्भ होती है।

स्वतंत्रता से पूर्व भारत में रियासतों की संख्या कुल 62 थी और उनके अधीन 7,12,508 वर्ग मील का क्षेत्र था। इन रियासतों में कुछ बड़े आकार की जैसे, हैदराबाद, ट्रावनकोर व जयपुर आदि गिनाई जा सकती है। कुछ इतनी छोटी थी कि जिनकी जनसंख्या बहुत ही कम बतलाई जाती है। उदाहरणार्थ बिल बारी रियासत जिसकी जनसंख्या मात्र 27 थी और वार्षिक आय 8 रुपये। अनुमानत: 202 रियासतें ऐसी थी, जिनमें प्रत्येक का क्षेत्रफल 10 वर्ग मील से कम और 70 ऐसी थीं, जिनका क्षेत्रफल 1 वर्गमील से अधिक नहीं था। प्राय: ये रियासतें भारत के प्रायद्वीप में अल्प उर्वर और दुर्गम प्रदेश में थी।

12.2 देशी रियासतों की उत्पत्ति

मुगल सम्राट औरंगजेब की मृत्यु के साथ ही मुगल साम्राज्य का पतन आरम्भ हो गया था। केन्द्रीय शासन की निर्बलता ने प्रान्तपतियों और नवाबों को स्वतंत्र होने का अवसर दिया। वे अवसर देखकर अपने स्वतंत्र राज्य स्थापित करने लगे। उनके इन कार्यों के परिणामस्वरूप भारत में अनेक स्वतंत्र राज्यों का उदय हुआ। भारत में अंग्रेजों ने अपनी राजनीतिक विजय दक्षिण के इन छोटे स्वतंत्र राज्यों की विजय से शुरू की थी। लॉर्ड वेलेजली के कार्यकाल में इस दिशा में कम्पनी सरकार अधिक सक्रिय हुई और लॉर्ड डलहौजी के कार्यकाल तक कम्पनी सरकार का यह कार्य अपनी चरम-सीमा पर पहुँच गया। लॉर्ड डलहौजी ने उचित अनुचित की परवाह किये बिना सभी साधनों का उपयोग करते हुए देशी रियासतों को कम्पनी के राज्य में मिला लिया। कम्पनी सरकार के इन क्रिया कलापों से देशी नरेश असन्तुष्ट थे। परन्तु सहायकसंधि स्वीकार करने के उपरान्त वे अपनी सत्ता से हाथ धो बैठे थे। उनका यह विरोध 1857 ई. की क्रान्ति के समय स्पष्ट परिलक्षित हुआ था। अधिकांश इतिहासकारों की यही मान्यता है कि 1857 का स्वतंत्रता संग्राम इसी असंतोष का परिणाम था। इस प्रकार भारतीय रियासतों के अस्तित्व

में आने के मुख्य कारण वही थे जिनके कारण ईस्ट इण्डिया कम्पनी शक्तिशाली बनी। अनेक भारतीय रियासते स्वतंत्रता प्राप्त अथवा अर्द्ध मान्यता प्राप्त इकाईयों के रुप में उत्तर काल मुगल में अस्तित्व में आयी। कम्पनी ने भी उन्ही शासकों की दुर्बलता का लाभ उठाया।

नोट

12.3 ब्रिटिश सम्प्रभुता से तात्पर्य

आधुनिक भारत के इतिहास के दो रोचक विषय हैं।

1. भारतीय नरेशों की शक्ति का अंत।

2. भारतीय नरेशों के ब्रिटिश सरकार के साथ सम्बन्ध।

कालान्तर में शक्तिहीन रियासतें अपनी सुरक्षा एवं अपने अस्तित्व की दृष्टि से अंग्रेजी सरकार सरकार के शरणागत होती चली गई। जब से कम्पनी सरकार के साथ भारतीय रियासतों का सम्पर्क स्थापित हुआ तभी से विशेषकर उन्नीसवीं सदी से दे अपनी सत्ता खोती चली गई। अब केवल वे उसी शक्ति का प्रयोग कर सकती थी जो उन्हें कम्पनी सरकार से प्राप्त थी। 1858 ई. के पश्चात् भारत की देशी रियासतें प्रत्यक्ष रूप से ब्रिटिश सरकार के अधीन हो गई। तब से लेकर 1947 ई. तक वे उसी सत्ता का प्रयोग करती रही, जो ब्रिटिश सरकार से उन्हें प्राप्त थी। इसी राजनैतिक सम्बन्ध को भारतीय इतिहास में ब्रिटिश सम्प्रभुता अथवा ब्रिटिश सर्वोच्चता के नाम से जाना जाता है। इस शब्द का सीधा सा तात्पर्य है- एक शक्ति का नियंत्रण और दूसरी शक्ति की अधीनता। सर्वोच्च सत्ता सर्वोपरि मानी जाती है। इसी शक्ति का प्रयोग भारत सरकार ने देशी रियासतों एवं नरेशों के प्रति किया। लॉर्ड कैनिंग ने 1858 में इस प्रकार घोषणा की - ''इंग्लैण्ड का साम्राज्य सम्पूर्ण भारत में एक ऐसा शासन है, जिसके सम्बन्ध में कोई किसी प्रकार का प्रश्न नहीं किया जा सकता तथा जो सम्पूर्ण भारत में प्रमुखशाली शक्ति है। इंग्लैण्ड के प्रभुत्व में एक वास्तविकता है, जो पहले कभी विद्यमान नहीं रही तथा जिसके सम्बन्ध में अनुभव नहीं किया जा सकता किन्तु जिसे राजा लोग उत्सुकतापूर्वक स्वीकार करते हैं।'' इसी प्रकार के वक्तव्य लॉर्ड मेयो, लॉर्ड लिटन, लॉर्ड लैसडाउन, लॉर्ड मिण्टो तथा लॉर्ड रीडिंग आदि ने दिये।

सर्वश्रेष्ठ साम्राज्य तथा भारतीय रियासतों के मध्य सम्बन्ध के विषय में बटलर-कमेटी ने कहा कि ''वह एक जीवित विकासशील ऐसा सम्बन्ध है जिसे परिस्थितियों ने बनाय तथा जो इतिहास, कल्पना तथा वर्तमान तथ्यों का मिश्रण है।'' 1877 ई. की एक अधिकृत घोषणा में कहा गया कि- ''प्रभुत्व एक धीरे-धीरे विकासशील वस्तु है- ''जिसका रूप आंशिक रूप से विजय, आंशिक रूप से संधि तथा आंशिक रूप से व्यवहार से बनता है।''

भारत सरकार ने अपने प्रभुत्व के सम्बन्ध में अनेक अवसरों पर बल दिया। उदाहरण के लिए, 1876 ई. में साम्राज्ञी विक्टोरिया ने अन्तिम मुगल बादशाह की मृत्यु के पश्चात् 'कैसरे-हिन्द' की उपाधि धारण की। उस अवसर पर लॉर्ड लिटन ने दिल्ली में एक दरबार का आयोजन किया ओर सभी भारतीय रियासतों के शासकों को उसमें सम्मिलित होना पड़ा। ऐसा कहा जाता है कि बड़ी रियासतों के शासकों ने इस बात का विरोध किया कि उनका स्तर तथा प्रतिष्ठा गिराई गई है किन्तु उन्हें विवश किया गया कि वे ब्रिटिश सम्राट के प्रति पूर्ण आज्ञाकारिता की शपथ लें तथा कम्पनी के द्वारा की गई संधियों तथा समझौतों के अनुसार व्यवहार किये जाने वाले दावे को छोड़ दें अथवा भूल जाएं।

नोट

इस प्रकार भारतीय रियासतों के संदर्भ में दो बातें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कही जा सकती हैं :

- सभी भारतीय रियासतें एक श्रेणी में नहीं रखी जा सकती हैं। महान इतिहासकार के. एम. पन्निकर ने इन्हें तीन श्रेणियों में विभाजित किया है। जैसे –
  1. ऐसी रियासतें जिन्हें संधियों के द्वारा अपने राज्य में पूर्ण तथा अखण्ड प्रभुसत्ता का अधिकार उपलब्ध था।
  2. ऐसी रियासतें जो संधिगत होते हुए भी केवल ब्रिटिश सरकार की देख-रेख में ही फौजदारी और नागरिक अधिकारों और विधि-निर्माण के अधिकार का उपयोग करती थी।
  3. ऐसी रियासतें जिनके अधिकार दान-पत्र और सनद पर आधारित थे।
- कुछ परिस्थितियों वश भारतीय रियासतों में परिवर्तन किये गये। इन रियासतों के प्रति नीति का विकास ईस्ट इण्डिया कम्पनी के सरकारी स्वरूप और कुछ गवर्नर जनरलों के विचारों और महत्वाकांक्षाओं के परिणामस्वरूप हुआ।

इस नीति के विकास के पीछे आपसी विश्वास की भावना कार्य कर रही थी। इस भावना में वेलेजली के काल में वृद्धि हुई जो स्वतंत्रता प्राप्ति तक चलती रही। इन तीनों प्रकार की रियासतों का वर्गमूल असमान था और उनकी शासन प्रणाली भी भिन्न थी। इतना ही नहीं वे विभिन्न वंशीय नरेशों द्वारा शासित होती थीं। यहाँ तक की दक्षिण भारत तो उत्तरी भारत से सर्वथा अलग हो गया था, परन्तु इतिहासकारों की धारणा है कि विशाल भारत की इन विभिन्न इकाईयों को अंग्रेजी शासन ने एकता के सूत्र में पिरों दिया था। सम्पूर्ण भारतीय प्रशासन एक से कानूनों के तहत एक रूप में संचालित होने लगा था। प्रोफेसर मून ने ठीक ही लिखा है कि ''भारतीय समाज में अनेक अन्तर्विरोधों के होते हुए भी ब्रिटिश साम्राज्य ने भारत को एक तीसरी शक्ति की अधीनता में राजनीतिक एकता प्रदान की थी।'' यह तीसरी शक्ति अंग्रेज ही थे।

12.4 देशी रियासतें और कम्पनी सरकार

जैसा कि हमें ज्ञात है, सन् 1661 ई. तक ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारत में एक व्यापारिक कम्पनी बनी रही। 1765 ई. में इलाहाबाद की संधि हो जाने के उपरान्त कम्पनी राजनीतिक प्रभुसत्ता में आ गई। 1669 ई. के चार्टर के माध्यम से कम्पनी को बम्बई का प्रदेश प्राप्त हुआ था। इस उपलब्धि के साथ ही कम्पनी सरकार व रियासतों के मध्य सम्पर्क स्थापित होने लगा। भारतीय राज्यों के साथ अंग्रेजों के सम्बन्धों के संदर्भ में सर विलियम ली वार्नर ने अपनी पुस्तक 'दी नेटिव स्टेट्स ऑफ इण्डिया' में इनके आपसी सम्बन्धों को तीन भागों में विभाजित किया है जिनका वृत्तान्त निम्न प्रकार है–

12.4.1 प्रथम काल (1757 से 1813 ई. तक)

रिंग-फेन्स नीति 1757-1813 (Ring-Fence Policy) : ली वार्नर के मतानुसार इस प्रथम काल में अंग्रेजों का यथासम्भव प्रयत्न रहा कि वे अपने मर्यादित घेरे में रहते हुए नरेशों के साथ आपसी परस्पर सम्बन्धों में टालमटोल करते रहे। इस समय तक ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी अधिक शक्तिशाली नहीं थी। वह इस स्थिति में भी नहीं थी, कि भारतीय रियासतों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप कर सके। उसके पास इतनी शक्ति और साधन भी नहीं थे

नोट

कि वह भारतीय रियासतों को पराजित कर सकें। हाँ, वह केवल भारत में स्थित महत्वपूर्ण शक्तियों में से एक थी। इस समय तक अन्य शक्तियाँ मराठा, फ्राँसीसी, निजाम एवं मैसूर का सुल्तान थे। यही कारण था कि जब कभी कम्पनी किसी रियासत के साथ संधि में प्रविष्ठ होती तब वह समता तथा परस्पर कार्य के आधार पर ऐसा करती थी। कुल मिलाकर इस नीति के अन्तर्गत कम्पनी ने रियासतों के विषय में अहस्तक्षेप की नीति का अनुसरण किया। पिट्स इण्डिया एक्ट में भी यह स्पष्ट था कि ब्रिटिश सरकार भारत स्थित अपने अधिकारियों के द्वारा भारतीय रियासतों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप को पसन्द नहीं करती थी। इतने पर भी कुछ मामलों में कम्पनी को भारतीय रियासतों की आन्तरिक स्थितियों में हस्तक्षेप करना पड़ा। इस प्रकार वॉरेन हेस्टिंग्ज ने प्रथम मराठा युद्ध तथा द्वितीय मैसूर युद्ध लड़े। इसी प्रकार लॉर्ड कॉर्नवालिस ने तृतीय मैसूर युद्ध लड़ा और उसके आये प्रदेश को अपने राज्य में मिला लिया। लॉर्ड वेलेजली को चौथा-मैसूर-युद्ध तथा द्वितीय मराठा-युद्ध लड़ने पड़े। उसने हैदराबाद तथा अवध को विवश किया कि वह कम्पनी के साथ सहायक-संधि में सम्मिलित हो जाए। लॉर्ड मिण्टों ने 1809 ई. में महाराजा रणजीतसिंह के साथ 'अमृतसर की संधि' की। इस संधि का उद्देश्य सिख-सतलुज रियासतों को सुरक्षा प्रदान करना था जिनका अस्तित्व महाराजा रणजीतसिंह के कारण खतरे में था।

इस युग के सम्बन्ध में के.एम. पन्नीकर महोदय ने अपनी पुस्तक 'ब्रिटिश पॉलिसी टुवर्ड्स इण्डियन स्टेट्स' में इस काल की दो विशेषताएँ बतलाई-

(अ) प्रथम - मैसूर को छोड़कर कम्पनी ने समस्त संधियाँ समानता के आधार पर की थीं। कम्पनी ने कहीं भी अपने बड़पन्न अथवा साम्राज्यवादी अधिकार का दावा नहीं किया।

(ब) दूसरा इन संधियों द्वारा इस बात पर विशेष ध्यान दिया गया था कि शासक का अपनी प्रजा पर पूर्ण अधिकार बना रहे और उसके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न लिया जाय।

1798 ई. में लॉर्ड वेलेजली भारत का गवर्नर बनकर आया। उसके आने से कम्पनी के भारतीय रियासतों के साथ सम्बन्धों में परिवर्तन आया। वेलेजली का उद्देश्य भारतीय रियासतों को अपनी रक्षार्थ कम्पनी पर निर्भर करने के लिए बाध्य करना था। उसने भारतीय रियासतों को अंग्रेजी राजनैतिक और सैनिक रक्षा के घेरे में लाने का प्रयत्न किया और जुलाई, 1803 ई. में जॉर्ज वार्लो ने स्पष्ट किया कि, ''कोई भारतीय रियासत ऐसी नहीं रहनी चाहिए जो अंग्रेज शक्ति पर निर्भर न हो अथवा जिसका राजनैतिक आचरण इसके पूर्णतया अधीन न हो।'' इस नीति को घेरे की नीति (Ring-Fence Policy) का विस्तार भी कह सकते हैं। वेलेजली का अभिप्राय केवल रक्षात्मक था। वह फ्राँस जी चालों से अंग्रेजी प्रदेशों को बचाना चाहता था। इसी उद्देश्य से उसने सहायक संधि प्रथा (SubsidiaryAlliance System) आरम्भ की। हैदराबाद, मैसूर, अवध और अन्य छोटी-छोटी रियासतो को इसमें सम्मिलित करते हुए 1803 ई. में मराठों को और 1805 ई. में होल्कर को पराजित कर उसने अंग्रेजी प्रभुता स्थापित कर ली।

12.4.2 द्वितीय काल (1813 से 1858 ई. तक)

अधीन अलगाव नीति 1813-1858 (Policy of Subordinate Isolation) : इस काल में कम्पनी ने सभी भारतीय रियासतों को अधीन बनाते हुए उन्हें सहायक-संधि स्वीकार करने के लिए बाध्य किया। भारतीय रियासतों को देश में कम्पनी को सबसे बड़ी शक्ति

स्वीकार करने पर विवश किया गया। इस नीति का पोषक लॉर्ड हेस्टिंग्ज था परन्तु उसने शीघ्र ही अनुमान लगा लिया कि देश की स्थिति ऐसी है, कि पूर्ण रूप से इस नीति पर आचरण करना कठिन है। अत: उसने अपने पूर्ववर्ती गवर्नर जनरलों की अहस्तक्षेप की नीति पर ही आचरण करना उचित समझा। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि देश में चारों तरफ अशान्ति के बादल मंडराने लगे। देशी रियासतों में षड्यंत्र रचे जाने लगे। इन परिस्थितियों में लॉर्ड हेस्टिंग्ज ने अग्रगामी नीति अपनाना ही उचित समझा।

1813 ई. मं लॉर्ड हेस्टिंग्ज भारत का गवर्नर जनरल बनकर आया। इस समय तक कम्पनी की शक्ति में अपार वृद्धि हो चुकी थी। सैनिक दृष्टि से भी वह शक्तिशाली थी। उसने अन्य यूरोपीय शक्तियों पर भी विजय प्राप्त कर ली थी। इतना ही नहीं कम्पनी की सैनिक शक्ति किसी भी भारतीय शक्ति को दबाने में सक्षम थी। उसे किसी भारतीय देशी राज्यों से सैनिक सहायता लेने की आवश्यकता नहीं थी। लॉर्ड हेस्टिंग्ज कम्पनी की इस शक्ति का लाभ उठाना चाहता था। वैसे भी साम्राज्यवादी प्रवृत्ति का होने के कारण उसे अहस्तक्षेप एवं घेरा डालने की नीति पसन्द नहीं थी। उसने देशी राज्यों पर कम्पनी की सम्प्रभुता स्थापित करने का प्रयास किया। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उसने पडौसी देशी राज्यों में परस्पर फूट डाल कर उन्हें आपस में लड़ाने की नीति अपनाई। जिसके कम्पनी को दो लाभ हुए :

1. देशी रियासतें कम्पनी सरकार के विरुद्ध संगठित नहीं हो सकी।
2. ये देशी राज्य एक दूसरे से अलग बने रहे। इनमें संगठन का अभाव रहा।

इसलिए इसे 'अधीनस्थ अलगाव' (Policy of Subordinate) की नीति कहा गया। इस नीति पर आचरण करते हुए कम्पनी ने देशी राज्यों को समानता का दर्जा देना समाप्त कर दिया और अब वे देशी राज्यों पर राजनीतिक सर्वोच्चता स्थापित करने का प्रयास करने लगी। लॉर्ड हेस्टिंग्ज द्वारा अपनाई गई इस नवीन नीति की दो विशेषताएँ परिलक्षित होती है :

1. भारतीय देशी रियासतों को सहायक-संधि स्वीकार करते हुए अंग्रेजों की राजनीतिक शक्ति की सर्वोच्चता स्वीकार करनी पड़ती थी। आपसी झगड़ों में उन्हें कम्पनी सरकार को मध्यस्थ बनाना पड़ता था।
2. देशी राज्यों के विदेशी मामलों पर नियंत्रण लगाते हुए उनकी विदेश नीति का निर्धारण कम्पनी सरकार की देश-रेख में किया जाता था। अभी तक आन्तरिक मामलों में राज्य सरकारों की सार्वभौमिकता को ही स्वीकार किया गया था।

लॉर्ड हेस्टिंग्ज ने अपनी अग्रगामी नीति के अनुकूल अवसर प्राप्त होने पर अनेक राज्यों को कम्पनी के प्रभुत्व में ले लिया। कूटनीति का सहारा लेकर लॉर्ड हेस्टिंग्ज ने मराठा-संघ की शक्तियों को छिन्न-भिन्न कर उन्हें कम्पनी के अधीन बनाने का दृढ़ निश्चय किया। इस प्रकार पंजाब व सिंध को छोड़कर समस्त भारत पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी का प्रत्यक्ष आधिपत्य स्थापित हो गया। स्पष्ट है लॉर्ड हेस्टिंग्ज देशी रियासतों को पूर्णरूपेण कम्पनी के अधीन अवश्य करना चाहता था परन्तु वह उन्हें कम्पनी के राज्य में मिलाने का पक्षधर नहीं था। जबकि उसके विपरीत लॉर्ड डलहौजी उन राज्यों को कम्पनी राज्य में सम्मिलित करने का इच्छुक था। इस समय तक कम्पनी की सर्वोच्च सत्ता अपनी चरम-सीमा तक पहुँच चुकी थी। लॉर्ड डलहौजी का विचार था कि इन राज्यों को हेस्टिंग्ज कम्पनी राज्य में न मिलाकर मूल कर रहा है। अत: उसने सिंध, पंजाब, अवध तथा अन्य छोटी रियासतों को अंग्रेजी राज्य में मिला लिया। उसने

नोट

रचनात्मक जागीरदारों की पद्धति को आरम्भ करते हुए उत्तराधिकार के अभाव में विलय नीति का अनुसरण कर सतारा, नागपुर, तंजौर, जैतपुर तथा झांसी को अंग्रेजी राज्य में मिलाया। कुछ नरेश ऐसे थे जिन्हें पेंशन मिल रही थी- डलहौजी ने उनकी पेंशन समाप्त करते हुए कहा कि पेंशन परम्परागत नहीं होती है। उदाहरण के लिए 1852 ई. में जब बाजीराव द्वितीय स्वर्ग सिधार गया तो उसके दत्तक पुत्र नाना साहेब की पेंशन बन्द कर दी गई। इसी प्रकार 1853 ई. में कर्नाटक के नवाब की मृत्यु हो जाने पर उसका पद समाज कर दिया गया। मुगल बादशाह बहादुरशाह को अपमानित कर उसकी पेंशन में कमी की गई। इन सब तथ्यों से यह स्पष्ट होता है कि देशी नरेश अब कितने असहाय हो गये थे और अंग्रेजों की सर्वोच्च सत्ता कितनी प्रभावशाली हो चुकी थी।

कम्पनी की इस दूसरी नीति में अनेक दोष थे। इस नीति से देशी राज्यों के नरेश वे राजाओं को भी हानि उठानी पड़ी। कम्पनी द्वारा देशी नरेशों को विदेशी आक्रमणों से सुरक्षा प्रदान कर उनको सैनिक दृष्टि से कमजोर बना दिया। इसके अतिरिक्त नरेश अपने प्रशासनिक कार्यों के प्रति उदासीन हो गये, जिसका सीधा सा परिणाम राज्यों में अव्यवस्था एवं अराजकता फैल गई। दूसरी तरफ कम्पनी ने देशी राज्यों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप कर नरेशों को अपना शत्रु बना लिया। परिणामस्वरूप अंग्रेजों की साम्राज्यवादी नीति के विरुद्ध नरेश शंकाल हो गये और 1857 के विद्रोह में बागी बन बैठे। इस दूसरे युग के सम्बन्ध में कर्नल लुआई कहते हैं, ष्यह युग रियासतों के ब्रिटिश सरकार के साथ सम्बन्धों के इतिहास में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस युग ने अर्द्ध-स्वतंत्र इकाईयों के आमूल परिवर्तन के दर्शन किए। उनमें से कुछ स्पष्ट रूप से विरोधी है, अधिकांश दिल से कुढ़े हए हैं तथा सभी संदिग्ध तथा क्रोधयुक्त हैं .... ''कम्पनी अपनी अहस्तक्षेप की नीति को छोड़ने के लिए कटिबद्ध है। इस प्रकार कम्पनी अधीन सम्बन्ध की पद्धति से सहकारी भाईचारे की बृद्धिमतापूर्ण तथा उदार नीति की ओर - जो आज दृढ़ स्थिति में है - बढ़ रही थी।'

12.4.3 तृतीय काल (1858 से 1947 ई. तक)

अधीनस्थ संघ की नीति 1858-1947 (Policy of Subordinate Union) : इस युग का प्रारम्भ लॉर्ड कैनिंग के समय से माना जाता है। इस समय तक 1857 ई. का विद्रोह पूर्णतया शान्त हो जाने एवं कम्पनी की प्रभुता ब्रिटिश सरकार के हाथों में चले जाने से भारतीय राजनीति में भारी परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। अब इंग्लैण्ड की रानी विक्टोरिया भारत की साम्राज्ञी बनी। विद्रोह में अधिकांश नरेशों ने अंग्रेजों के साथ सहयोग करके यह स्पष्ट कर दिया कि नरेशों के सहयोग से ही भारत में अंग्रेजी साम्राज्य स्थायी रह सकता है। अत: विद्यमान परिस्थतियों का प्रतिकार करने के लिए यह आवश्यक समझा गया कि भारतीय रियासतों के सम्बन्ध में भारत सरकार की नीति में परिवर्तन किया जाए। परिणामस्वरूप साम्राज्ञी की 1858 ई. की घोषणा में यह व्यक्त किया गया कि ''ब्रिटिश सरकार भविष्य में भारतीय रियासतों को अपने राज्य में नहीं मिलायेगी।'' आगे कहा ''हम भारत के देशी राजाओं के प्रति यह घोषणा करते हैं कि हम उन सब संधियों तथा इकरारनामों को स्वीकार करते हैं, जो ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा अथवा उसकी ओर से किये गये तथा हम उन पर पूर्ण रूप से पाबन्द रहेंगे। हम यह भी चाहते हैं, कि वे भी उन पर चलें। हम अपने वर्तमान इलाके में किसी प्रकार की वृद्धि नहीं चाहते। हम देशी राजाओं के अधिकारों, गौरव तथा प्रतिष्ठा को अपने समान समझेंगे।''

भारतीय शासकों को गोद लेने का अधिकार देने की व्यवस्था की गई। किसी रियासत को ब्रिटिश राज्य में इस कारण मिलाये जाने पर पाबन्दी लगा दी गई कि शासक को कोई पुत्र न हो। भारतीय रियासतों को सनदें देने का निश्चय किया गया। भारतीय शासकों को 160 सनदें दी गई! पुनः आश्वासन दिया गया कि उन्हें कोई क्षति नहीं पहुंचाई जाएगी। इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा गया- ''जब तक वे सम्राट के प्रति आज्ञाकारी हैं तथा सन्धियों, अनुदानों तथा निश्चयों की शर्तों के प्रति आज्ञाकारी हैं, जिनके द्वारा ब्रिटिश सरकार के साथ और उनका लागू होना प्रमाणित होता है।'' नरेशों को आश्वासन दिया गया कि उनके पारिवारिक शासन को बनाये रखा जाएगा। उनके अधिकारों, प्रतिष्ठा और गरिमा का आदर किया जाएगा। जिन राज्यों ने विद्रोह को दबाने में सहयोग दिया, उन नरेशों को भूमि व धन देकर पुरस्कृत किया गया। नरेशों को पुरस्कृत कर 1859 ई. में आगरा व लाहौर में दरबार आयोजित किए गए। मेवाड़ महाराणा को 20 हजार तथा भरतपुर को 10 हजार खिल्लत देते हुए बीकानेर नरेश भी पुरस्कृत किए गए। 1859 ई. में कैनिंग ने सचिव चार्ल्स वुड को एक पत्र लिखा था, जिसमें लिखा कि ''हमारे प्रति सहानुभूति रखने वाले नरेशों को कायम रखने से हमारे शासन की सुरक्षा बढ़ेगी न कि कम होगी।''

कैनिंग के उत्तराधिकारियों ने इसी नीति का अनुसरण किया। इसके अतिरिक्त नरेशों को प्रसन्न व आकर्षित करने की दृष्टि से उन्हें पदवियाँ दी गई एवं अनेक समारोह आयोजित किए गए। लिटन तो यहाँ तक अपनी धारणा बना बैठा कि यदि नरेश हमारा साथ देंगे तो उनकी जनता भी हमारा साथ देंगी। इस प्रकार स्पष्ट है कि 1858 ई. के उपरान्त ब्रिटिश सरकार ने दिखावटी रूप से नरेशों के प्रति तुष्टिकरण और प्रलोभन की नीति अपनाई। इन सब के पीछे अंग्रेजों की राज्य के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप की नीति छिपी हुई थी। स्पष्ट है कि कैनिंग के बाद ब्रिटिश सर्वोच्च-सत्ता दिनों-दिन प्रबल होती चली गई। अब देशी नरेशों के साथ संधि समानता के आधार पर न होकर अधीनस्थता के आधार पर होने लगी। नरेश ब्रिटिश सरकार के समान न होकर उनके आज्ञाकारी हो गए। ब्रिटिश सरकार द्वारा प्रतिपादित यही नीति भारतीय इतिहास में 'अधीनस्थ एकता' की नीति कहलायी। इस प्रकार इस नीति की कुछ विशेषताएँ उभरकर सामने आती हैं, जो निम्न हैं-

1. ब्रिटिश सरकार द्वारा विस्तारवादी नीति का परित्याग।
2. भारतीय देशी राज्यों को ब्रिटिश सरकार की ओर से सनदें देना। इनके माध्यम से भारतीय नरेशों को यह आश्वासन दिया गया कि यह सभी सुविधाएँ उसी समय तक रहेगी जब तक नरेश ब्रिटिश सरकार के स्वामी भक्त बने रहेंगे।
3. भारतीय देशी रियासतों पर ब्रिटिश सरकार की प्रभुसत्ता स्पष्ट रूप से स्थापित हो गई और वे प्रत्यक्ष रूप से ब्रिटिश सरकार के अधीन हो गई। वायसराय ब्रिटिश ताज और देशी नरेशों के मध्य की कड़ी बन गया।
4. छोटी व बड़ी इकाईयों में किसी प्रकार का भेदभाव न करते हुए सबको समान रूप से लिया गया।
5. भारतीय देशी नरेशों से यह पूर्णतया आशा व अपेक्षा रखी गई कि वे आवश्यकता पढ़ने पर ब्रिटिश सरकार की सहायता करेंगे। लॉर्ड कैनिग ने इन व्यवस्थाओं के

नोट

सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए कहा कि –''इंग्लैण्ड का ताज अब निश्चित रूप से भारत का शासक एवं सर्वोच्च है। वास्तव में अब भारत में इंग्लैण्ड का आधिपत्य है जो पूर्व में कभी नहीं था। वह चाहे नरेशों द्वारा अनुभव न किया जावे, पर उत्सुकता से स्वीकार क्रिया जाता है।''

रानी विक्टोरिया ने अपनी घोषणा में देशी नरेशों के साथ समानता वे व्यवहार की बात कही समानता के आश्वासन को कभी कार्यप्रणाली में नहीं अपनाया गया। अपनी सर्वोच्चता को व्यावहारिक रूप देने के लिए निम्न प्रयास किये गये –

1. देशी नरेशों को प्रत्यक्ष रूप से रेजिडेन्ट्स के अधीन रखा गया, उनकी अनुमति के बिना नरेश स्वतंत्र रूप से कोई कार्य नहीं कर सकते थे।
2. ब्रिटिश सरकार नरेशों को युद्ध के शस्त्रों का परमिट देने में अपनी पूर्ण सम्प्रभुता का परिचय देती थी।
3. ब्रिटिश सरकार की बिना पूर्व अनुमति के नरेश अपने राज्यों के उत्तरदायी पदों पर अधिकारी नियुक्त नहीं कर सकते थे।
4. देशी नरेशों को कोई भी कानून निर्मित करने से पूर्व भारत की केन्द्रीय सरकार से अनुमति प्राप्त करना आवश्यक था।
5. देशी नरेश सीधे विदेशी शक्तियों के साथ सम्बन्ध स्थापित नहीं कह सकते थे।
6. भारत की केन्द्रीय सरकार व ब्रिटिश सरकार नरेशों के विरुद्ध उनकी जनता की याचिका सुन सकती थी।
7. भारतीय केन्द्रीय सरकार को अधिकार था कि वह अराजकता व अव्यवस्था फैलने पर राजा को गद्दी से उतारते हुए उसे दण्डित कर सकती थी।
8. देशी राज्यों में अपनी मुद्रा का प्रचालन कर देशी राज्यों को ब्रिटिश सरकार ने अपने प्रभाव में ले लिया।
9. देशी नरेश ब्रिटिश सरकार की अनुमति के बिना अपनी सैनिक शक्ति में वृद्धि एवं किले बन्दी नहीं कर सकता था।
10. राज्यों की शिक्षण-संस्थाओं का सम्बन्ध ब्रिटिश प्रान्तों के विश्वविद्यालयों से होता था।

इस प्रकार सर्वोपरि सत्ता स्थापित करने का ब्रिटिश सरकार का महत्वपूर्ण निर्णय, जिसे 1858 ई. के बाद आने वाले किसी भी वायसराय ने किंचित मात्र भी परिवर्तित नहीं किया और सर्वोच्च सत्ता स्थापित करने के लिए उपरोक्त साधन अपनाये गये।

12.5 ब्रिटिश सम्प्रभुता का देशी रियासतों से सम्बन्ध

प्रो. एच.एच. डौडवेल के मतानुसार 1858 से 1906 ई. की अवधि में देशी राज्यों पर ब्रिटिश सरकार का अंकुश निरन्तर बढ़ता गया। डौडवेल की धारणा है कि इन सम्बन्धों की प्रमुख विशेषता देशी राज्यों के मामलों में ब्रिटिश-प्रशासन का बढ़ता हस्तक्षेप था। ब्रिटिश सरकार ने इन देशी राज्यों पर नियंत्रण के लिए निम्न उपाय अपनाये-

1. संधियों की व्याख्या के माध्यम से रानी विक्टोरिया की घोषणा के समय 1857 ई. से पूर्व देशी नरेशों के साथ की गई संधियों पर कोई विचार नहीं कर ब्रिटिश सरकार ने उन्हें यथावत मान लिया था। जैसे ही ब्रिटिश सरकार ने दृढ़ता के साथ सत्ता सम्भाली उन संधियों की मनमाने ढंग से व्याख्या एवं विश्लेषण करना आरम्भ कर दिया। अब भारत सरकार ने देशी राज्यों पर अंकुश लगाने के उद्देश्य से अपने हितों के अनुकूल संधि की व्याख्याएँ की और देशी नरेश उनका विरोध नहीं कर सके।

2. समस्त भारत एक इकाई के रूप में आर्थिक व प्रशासनिक दृष्टि से ब्रिटिश सरकार जो निर्णय लेती वह समस्त भारत को ध्यान में रखकर ही लिया करती थी। जैसे ब्रिटिश सरकार ने जो कर व्यवस्था लागू की, उसमें देशी नरेशों से सहयोग की अपील की गई। परिणामत: सम्पूर्ण भारत आर्थिक दृष्टि से एक इकाई के रूप में रूपान्तरित हुआ। इसी प्रकार अंग्रेजी शिक्षा के प्रचलन को महत्त्व देकर ब्रिटिश सरकार ने बौद्धिक क्षेत्र में सारे भारत को एक ढाँचे में ढालने का प्रयास किया। इतना ही नहीं न्यायिक क्षेत्र में तो समान कानूनों के आधार पर न्याय होने लगे। इन सभी उपायों से भारत जो ब्रिटिश प्राप्त व देशी रियासतों- इन दो भागों में विभाजित था, इनकी दूरियाँ कम होती गई।

3. रेजिडेण्टों के प्रभाव में वृद्धि रेजिडेण्ट वायसराय व नरेश के मध्य एक कड़ी था। सहायक संधि के अनुसार प्रत्येक रियासत में एक अंग्रेज रेजिडेण्ट की अवस्था की गई थी। वह राजा के सभी कार्यों पर निगरानी रखता था। इस प्रकार यह एक प्रकार से नरेशों का भाग्यविधाता कहा जा सकता है। वह वायसराय को प्रत्येक कार्य की सूचना पहुँचाता था। इन रियासतों के नरेशों को राजगद्दी से हटाने में इसकी सिफारिश प्रमुख मानी जाती थी। स्पष्ट है नरेशों पर उसका आतंक रहता था। इस संबंध में के.एम. पन्नीकर महोदय ने ठीक ही लिखा है कि ''रेजिडेण्ट की सलाह को नरेश आदेश रूप से स्वीकार करते थे।'' इसने भी देशी रियासतों पर अंकुश लगाया।

4. सीमावर्ती राज्यों में दृढ़ प्रशासन एवं उच्चाधिकारियों की नियुक्ति सीमावर्ती राज्यों में अन्य रियासतों की तुलना में दृढ़ प्रशासनिक व्यवस्था स्थापित करते हुए उच्चाधिकारी अंग्रेज ही नियुक्त किये जाते थे। कहने के लिए तो मंत्रियों की नियुक्ति का अधिकार देशी नरेशों को था, लेकिन प्रशासन के उच्च पदों पर अंग्रेज अथवा केन्द्रीय सरकार की अनुमति के बिना नियुक्तियाँ नहीं होती थी। इससे उनके आन्तरिक मामलों में वे पूर्ण हस्तक्षेप कर सकते थे। परिणामस्वरूप देशी राज्यों के प्रशासन में सरकार के प्रभाव में वृद्धि होती थी।

12.6 नरेश-मण्डल

लॉर्ड कर्जन ने सर्वोच्चता के सिद्धान्त पर देशी रियासतों के मामलों में खुल्लमखुल्ला हस्तक्षेप किया। सर्वोच्चता के सिद्धान्त की स्पष्ट व्याख्या किए बगैर नरेशों को यही आभास करवाता रहा कि वे ब्रिटिश सरकार के अधीन हैं। उसके कठोर व्यवहार से देशी नरेश अधिक नाराज हुए। कर्जन के बाद लॉर्ड मिण्टों भारत का वायसराय बना। उसने भारतीय नरेशों के प्रति सहानुभूति और उदारता का व्यवहार करते हुए उन्हें कुछ रियायतें दी। यह वह समय था जब भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन जोर पकड़ने लगा था। अत: राष्ट्रीय आन्दोलन के दमन के लिए देशी रियासतों के सहयोग को आवश्यक समझ कर उनके साथ अधीनस्थ सहयोग की नीति अपनाई गई। लॉर्ड मिण्टो के उत्तराधिकारी लॉर्ड हार्डिग्ज (1910-16 ई.) ने मिण्टो की

नोट

नीति को गति प्रदान करते हुए देशी नरेशों को आपस में मेल मिलाप करने का परामर्श दिया। वह देशी नरेशों से मिला। उसकी इस नीति के कारण वायसराय व देशी नरेश एक दूसरे के समीप आये। यही कारण था कि प्रथम विश्व युद्ध के समय ब्रिटिश सरकार को देशी नरेशों का सहयोग प्राप्त हुआ। इसके प्रतिफल में 1919 ई. में मोण्ट-फोर्ड रिमोट में देशी नरेशों की कठिनाईयों को दूर करने का सुझाव देते हुए उन्हें देश के राजनीतिक और आर्थिक मामलों में अधिक भूमिका निभाने का अवसर दिया। इसी का परिणाम था कि 1921 ई. में नरेन्द्र-मण डल (Chamber of Princes) का गठन सम्भव हुआ। इस मण्डल में 124 नरेश सदस्य रूप में थे और प्रतिनिधियों के निर्वाचन के ध्येय से समस्त रियासतों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया गया था।

1. 109 रियासतें जो पूर्ण वैधानिक और क्षेत्राधिकार रखती थी उन्हें सीधा प्रतिनिधित्व दिया गया।
2. 127 रियासतें जिनके वैधानिक और क्षेत्राधिकार सीमित थे, उनको आपस में चुने हुए 12 प्रतिनिधि भेजने को कहा गया।
3. शेष 326 रियासतों को जागीरों अथवा सामंतशाही जागीरों में मालिकों की श्रेणी में रखा गया।

इस मण्डल की वर्ष में दो बैठकें होती थी। सभा की अध्यक्षता वायसराय करता था। यह नरेन्द्र-मण्डल केवल सलाहकार और परामर्श देने वाली इकाई ही था। इसका किसी रियासत के आन्तरिक मामलों से कोई सम्बन्ध न था और न ही यह रियासतों के समकालीन अधिकारों अथवा उनकी कार्य करने की स्वतंत्रता के विषय में कोई वाद-विवाद कर सकता था फिर भी यह मण्डल सरकार व नरेश दोनों के लिए लाभकारी सिद्ध हुआ।

बटलर-आयोग : 20वीं सदी के आरम्भ से ही देशी नरेश ब्रिटिश सरकार की हस्तक्षेप की नीति का विरोध करने लगें। इसके अतिरिक्त उन्होंने ब्रिटिश सर्वोच्चता के प्रति भी अपनी नाराजगी जाहिर करना प्रारम्भ किया। ऐसे नरेशों में जिनका नरेन्द्र-मण्डल में प्रभाव था, ब्रिटिश सरकार से सर्वोच्च-शक्ति का अर्थ स्पष्ट करने तथा आन्तरिक मामलों में स्वतंत्रता की मांग करनी आरम्भ की। इन समस्त परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए 1927 ई. में ब्रिटिश सरकार ने बटलर-आयोग (Butler Commission) का गठन किया। इस आयोग को तीन विषयों पर प्रमुख रूप से विचार करना था-

1. ब्रिटिश सरकार व देशी रियासतों के सम्बन्धों पर।
2. सर्वोच्च सत्ता के तात्पर्य को स्पष्ट करना।
3. देशी रियासतों के आन्तरिक मामलों में ब्रिटिश सरकार के हस्तक्षेप के प्रश्न पर।

भारतीय नरेशों ने एक विख्यात वकील सर लैजली स्कॉट को कमेटी के समक्ष उनका दृष्टिकोण प्रस्तुत करने के लिए नियुक्त किया। स्कॉट ने तर्क दिया कि प्रत्येक रियासत आरम्भ में स्वतंत्र थी और इसलिए वह स्वतंत्र है केवल उस सीमा तक नहीं जहाँ तक उसने अपनी प्रभुता क्राउन (Crown) को दे दी है अर्थात् क्षेत्राधिकार (Residency Power) भारतीय रियासतों के पास हैं।

इंग्लैण्ड के कानूनविद भी साम्राज्यवादी बटलर आयोग को अपने तको से प्रभावित नहीं कर सके। इसने अपनी निम्न सिफारिशें प्रस्तुत की :

1. क्राउन के प्रतिनिधि के रूप में देशी राज्यों के मामलों में वायसराय ही पूछताछ का अधिकार रखता है, गवर्नर-जनरल नहीं।
2. क्राउन और नरेशों के आपसी सम्बन्धों में परिवर्तन नरेशों की सहमति से करना चाहिए।
3. राज्य परिषद (State Council) की स्थापना की मांग जो देशी नरेशों द्वारा उठाई गई थी, उसे अस्वीकार कर दिया गया।
4. वायसराय देशी रियासतों के मामलों में हस्तक्षेप के विषय पर निर्णय ले सकेगा।
5. भारतीय केन्द्रीय सरकार और देशी रियासतों के आर्थिक सम्बन्धों पर विचार करने के लिए एक विशेष समिति का गठन किया जाना चाहिए। बटलर आयोग की सिफारिशों से स्पष्ट होता है कि उसने सर्वोच्च सत्ता व देशी राज्यों के प्रशासनिक मामलों में हस्तक्षेप को उचित ठहराया जिसका नरेशों तथा जनता द्वारा भारी विरोध हुआ।

12.7 भारत में संघीय व्यवस्था और देशी रियासतें

जैसा कि हमें विदित है भारत में 1928 ई. में साइमन कमीशन आया था जिसने देशी नरेशों की समस्याओं का समाधान करने के उद्देश्य से देशी राज्यों और ब्रिटिश प्रान्तों का एक संघ बनाने की सिफारिश की थी। नरेशों ने इस संघ में सम्मिलित होने से पूर्व यह शर्त रखी कि पहले सर्वोच्च सत्ता का अर्थ स्पष्ट किया जाये। इसके अर्थ से संतुष्ट होने पर ही वे संघ में सम्मिलित होंगे। इस सम्बन्ध में उन्होंने निम्न शर्त रखी -

1. उन्होंने संविधान में आवश्यक संरक्षण की मांग की।
2. राज्यों की सम्प्रभुता और आन्तरिक स्वतंत्रता बनाये रखते हुए क्राउन का दायित्व यथावत रहे।
3. संधियों, समझौते और सनदों से मिले नरेशों के अधिकार बनाये रखे जाये। ब्रिटिश सरकार ने इन शर्तो को स्वीकार करने में अपनी विविशता प्रदर्शित की। नरेश भी निरन्तर विरोध कर रहे थे। अतः संघ अस्तित्व में नहीं आ सका।

12.8 गोलमेज सम्मेलन

साईमन कमीशन की सिफारिश पर लॉर्ड इरविन के प्रयासों से लन्दन में गोलमेज सभाओं का आयोजन किया गया। इन गोलमेज सम्मेलनों में देशी नरेशों का प्रतिनिधित्व गंगासिंह जी ने किया। इन सम्मेलनों में मुख्य मुद्दा भारत में संघीय व्यवस्था लागू करने का था देशी नरेशों ने पूर्ण समर्थन करते हुए भारतीय संघ में सम्मिलित होने की इच्छा व्यक्त की परन्तु वे अपने राज्यों का स्वतंत्र अस्तित्व बनाये रखने के पक्षधर थे। प्रो. रशबुक विलियम्स जो गोलमेज। कान्फ्रेन्स में नरेन्द्रों के मुख्य परामर्शदाता थे, ने लिखा कि - ''स्थानीय रियासतों के शासक अपने मित्रों के प्रति पूर्णतया राजभक्त है। ..... ये अधीनस्थ राज्य समस्त भारत के लिए एक रक्षात्मक दीवार के समान हैं।'' ब्रिटिश सरकार ने 1935 ई. के भारत सरकार अधिनियम के माध्यम से में संघीय शासन की स्थापना की इच्छा प्रकट की। संघीय शासन के अन्तर्गत केन्द्र में दो सदनों व्यवस्था रखते हुए निर्वाचित सदस्यों द्वारा देश का शासन संचालन होने की बात

स्वीकारी गई। देशी को भी अपने प्रतिनिधि भेजने का अधिकार दिया गया लेकिन संघीय सरकार की यह योजना में ही सीमित रही।

नोट

12.9 भारतीय स्वतंत्रता और ब्रिटिश सम्प्रभुता की समाप्ति

1937 ई. के निर्वाचनों में काँग्रेस की सफलता का प्रभाव रियासतों पर स्पष्ट दृष्टिगोचर हुआ। वहाँ भी उत्तरदायी सरकारों और नागरिक स्वतंत्रताओं के लिए आन्दोलन लगे। दिसम्बर, 1938 ई. में गाँधी जी ने घोषणा की कि रियासतों में जागृति समय की पुकार है पूर्ण उत्तरदायी सरकार में रियासतों का लुप्त हो जाना निहित है और इसमें मध्य मार्ग नहीं हो परन्तु द्वितीय विश्व युद्ध के छिड़ जाने से संघीय योजना को स्थगित करना पड़ा।

द्वितीय महायुद्ध में राष्ट्रीय काँग्रेस ने असहयोग की नीति अपनाई थी। सरकार ने इस गतिरोध को समाप्त करने के लिए अनेक प्रयत्न किये। क्रिप्स सुझाव 1942 ई. में वेबल योजना 1945 ई. में और मंत्री मण्डल मिशन योजना 1946 ई. में तथा अन्त में 20 फरवरी, 1947 ई. को प्रधानमंत्री एटली की घोषणा इस श्रृंखला की कड़ियां थी। इन सभी प्रस्तावों में भारतीय देशी रियासतों के भविष्य पर विचार किया गया। रियासतों में पूर्ण प्रभुसत्ता, पूर्ण संघ जो कि देश में एक तीसरी शक्ति के रूप में कार्य कर सके बनाने की भिन्न-भिन्न योजनाओं के संबंध में विचार किय। गया। नरेन्द्र मण्डल के चांसलर भोपाल के नवाब ने यह आशा व्यक्त की कि अंग्रेज भारत में रियासतों को अनाथ बालक के रूप में नहीं छोड़ जायेंगे। परन्तु 20 फरवरी को एटली की घोषणा और 3 जून को माउण्टबैटन योजना ने यह स्पष्ट कर दिया कि सर्वोच्चता समाप्त हो जायेगी और रियासतों को अधिकार होगा कि वे पाकिस्तान अथवा भारत किसी में सम्मिलित हो सकती हैं। लॉर्ड माउण्डबैटन ने किसी एक रियासत अथवा अनेक रियासतों के संघ को एक तीसरी इकाई के रूप में मान्यता देने से इन्कार कर दिया।

राष्ट्रीय अस्थायी सरकार में सरदार बल्लभ भाई पटेल गृह विभाग के मन्त्री पद पर आसीन थे। उन्होंने भारतीय रियासतों की देश भक्ति को ललकारा और उनसे अनुरोध किया कि वे भारतीय संघ में अपनी रक्षा विदेशी मामले और संचार व्यवस्था को भारत अधीनस्थ बनाकर सम्मिलित हो जाएँ। 15 अगस्त, 1947 ई. तक 136 क्षेत्राधिकारी रियासतें भारत में सम्मिलित हो गई थीं। कश्मीर ने विलय पत्र पर 28 अक्टूबर, 1947 ई. को, जूनागढ़ व हैदराबाद ने 1948 ई. में हस्ताक्षर किये। अनेक छोटी-छोटी रियासतें जो एक पृथक इकाई के लय में आधुनिक प्रशासनिक व्यवस्था में नहीं रह सकती थी पास के प्रान्तों में विलय कर दी गई जैसे उडीसा और छत्तीसगढ़ की 39 उप रियासतें उडीसा अथवा मध्यप्रान्त में विलय कर दी गई और गुजरात की रियासतें बम्बई प्रान्त में। इस प्रकार 562 रियासतों का भारतीय संघ में विलय करने का श्रेय सरदार बल्लभ भाई पटेल को जाता है जो भारत की महान समस्या का निदान कर इतिहास पुरूष बन गये। अंग्रेजी प्रभुता के भारत से जाते ही नरेशों ने भारतीय संघ में मिलकर अपनी राष्ट्रीयता और दूरदर्शिता का परिचय दिया।

12.10 सारांश

1899 में लॉर्ड कर्जन ने रियासतों को साम्राज्य का अविभाज्य अंग घोषित किया तथा कड़े शब्दों में शासकों को उनके कर्तव्यों की ओर ध्यान दिलाया। इससे कुछ शासक शंकित भी हुए। उनकी स्थिति समृद्ध सामन्तों के तुल्य हो गयी। 1906 में तीव्र राष्ट्रवाद के वेग की

नोट

रोकने में रियासतों के सहयोग के लिये लॉर्ड मिण्टो ने उनके प्रति मित्रतापूर्ण सहयोग की नीति अपनायी तथा साम्राज्य सेवार्थ सेना की संख्या में वृद्धि करने के लिये आदेश दिया। इसके एवज में प्रथम विश्वयुद्ध में रियासतों ने ब्रिटिश सरकार को महत्वपूर्ण सहायता दिया। बीकानेर, जोधपुर, किशनगढ़, पटियाला आदि के शासकों ने रणक्षेत्र में अपना युद्धकौशल दिखाया।

1919 के अधिनियमानुसार 1921 में नरेशमण्डल (या नरेन्द्रमण्डल) बना जिसमें रियासतों के शासकों को अपने सामान्य हितों पर वार्तालाप करने तथा ब्रिटिश सरकार को परामर्श देने का अधिकार मिला। 1926 में लार्ड रीडिंग ने ब्रिटिश सार्वभौम सत्ता पर बल देते हुए देशी शासकों को ब्रिटिश सरकार के प्रति उत्तरदायी घोषित किया जिससे वे अप्रसन्न भी हुए। इसलिए 1929 में बटलर कमेटी रिपोर्ट में सार्वभौम सत्ता की सीमाएँ निश्चित कर दी गयीं। 1930 में नरेशमण्डल के प्रतिनिधि गोलमेज सम्मलेन में सम्मिलित हुए। 1935 के संवैधानिक अधिनियम में रियासतों को भारतीय संघ में सम्मिलित करने की अनुचित व्यवस्था रखी गयी परन्तु वह कार्यान्वित न हो सकी। रियासतों में अनवरत रूप से निरंकुश शासन चलता रहा। केवल मैसूर, ट्रावणकोर, बडोदा, जयपुर आदि कुछ रियासतों में ही प्रजा परिषद के आन्दोलन से कुछ प्रतिनिधि शासन संस्थाएँ बनीं। मगर अधिकांश रियासतें प्रगतिहीन एवं अविकसित स्थिति में ही रहीं। द्वितीय विश्वयुद्ध में भी इन रियासतों ने इंग्लैण्ड को यथाशक्ति सहायता दी।

15 अगस्त 1947 को ब्रिटिश सार्वभौम सत्ता का अन्त हो जाने पर केन्द्रीय गृह मन्त्री सरदार वल्लभभाई पटेल के नीति कौशल के कारण हैदराबाद, कश्मीर तथा जूनागढ़ के अतिरिक्त सभी रियासतें शान्तिपूर्वक भारतीय संघ में मिल गयीं। 26 अक्टूबर को कश्मीर पर पाकिस्तान का आक्रमण हो जाने पर वहाँ के महाराजा हरी सिंह ने उसे भारतीय संघ में मिला दिया। पाकिस्तान में सम्मिलित होने की घोषणा से जूनागढ़ में विद्रोह हो गया जिसके कारण प्रजा के आवेदन पर राष्ट्रहित में उसे भारत में मिला लिया गया। वहाँ का नवाब पाकिस्तान भाग गया। 1948 में पुलिस कार्रवाई द्वारा हैदराबाद भी भारत में मिल गया। इस प्रकार रियासतों का अन्त हुआ और पूरे देश में लोकतन्त्रात्मक शासन चालू हुआ। इसके एवज में रियासतों के शासकों व नवाबों को भारत सरकार की ओर से उनकी क्षतिपूर्ति हेतु निजी कोष (प्रिवी पर्स) दिया गया।

12.11 अभ्यास प्रश्न

1. 1757 से 1813 ई. के बीच ब्रिटिश कम्पनी द्वारा देशी राज्यों के प्रति अपनाई गई नीति की विवेचना कीजिए।
2. ब्रिटिश सर्वोच्चता से क्या तात्पर्य है? 1853 से 1858 ई. के मध्य ब्रिटिश सर्वोच्चता के विकास पर एक लेख लिखिए।
3. ब्रिटिश सरकार की देशी रियासतों के प्रति अधीनस्थ एकीकरण की नीति के सम्बन्ध में आप जानते हैं?
4. ब्रिटिश सर्वोच्चता व देशी नरेशों के मध्य सम्बन्धों पर प्रकाश डालिये।
5. नरेन्द्र-मण्डल पर संक्षिप्त में टिप्पणी लिखिये।